

श्रीमद्भगवद्

गीताकाभियोग



लेखक - स्वामी रामसुखदास



COLLECTION OF VARIOUS

- > HINDUISM SCRIPTURES
- > HINDU COMICS
- > AYURVEDA
- > MAGZINES

FIND ALL AT [HTTPS://DSC.GG/DHARMA](https://dsc.gg/dharma)

Made with

Kapwing / Dharma
Screenshot of
Hinduism scriptural

 KAPWING

स०	२०३०	प्रथम संस्करण	१०,०००
२०	२०३१	द्वितीय संस्करण।	२०,०००
२०	२०४०	तृतीय संस्करण	२०,०००
			<u>कुल</u> ५०,०००

मूल्य चार रुपये

श्रीहरि

नम्र निवेदन

कड़ वर्ष पूर्व हमारे अद्देय स्वामीजी श्रीगमसुखदासजी महाराजके ढारा लिपित गीताके बारहवें अध्यायकी विस्तृत व्याख्या 'गीताका भक्तियोग' नामसे पुस्तकके रूपमें प्रकाशित हुई थी। अनेक भाई-ग्रहनके विशेष आग्रहवदा अर उसी पुस्तकका सशोधित और परिवर्द्धित सस्फरण प्रकाशित किया जा रहा है। इसमें अद्देय स्वामीजी महाराजने गीताके बारहवें अध्यायके साथ-साथ पद्महवें अध्यायकी विस्तृत व्याख्याको भी सम्मिलित कर दिया है, जिससे यह पुस्तक साधकोंके लिये उन्हें उपयोगी बन गयी है। इस प्रकार यह पुस्तक सर्वथा नवीन रूपसे साधकोंकी सेवामें प्रस्तुत की जा रही है।

भक्तियोगके साधकोंसे मेरा नम्र निवेदन है कि भगवत्प्राप्तिके उद्देश्यसे इस पुस्तकका गम्भीरतापूर्वक अध्ययन करें। इससे उन्हें अपने साधनपथपर अग्रसर होनेमें अमूल्य सहायता प्राप्त हो सकती है।

—प्रकाश

विषय-सूची

श्रीमद्भगवद्गीताके धारहरों और पद्महरों अध्यायोंसा मूल पाठ प्राक्षयन न-३ ण-३

धारहरों अध्याय

श्लोक-संख्या	प्रथा १ विषय	४४
--------------	--------------	----

१-१२	सगुण और निर्गुण-उपासकोंकी श्रेष्ठताका निर्णय और भगवन्त्वात्मिके चार साधनोंका वर्णन	१-१२८
१३-२०	सिद्ध भक्तोंके उन्तालीस लक्षणोंका वर्णन	१२८-२०६

सूक्ष्म विषय

१	सगुण और निर्गुण उपासकोंमें कौन श्रेष्ठ है— यह जाननेये लिये अनुनादा प्रश्न	२-१५
२	सगुण-उपासकोंकी श्रेष्ठता	१५-२२
३-४	निर्गुण-तत्त्वका स्वरूप और निर्गुण उपासनाका पत्र (विशेष नात ३२)	२२-४२
५	निर्गुण उपासनाकी कठिनाइ (सगुण-उपासनाकी सुगमताओं और निर्गुण उपासनाकी कठिनाइयोंका विवेचन ४७)	४२-५४
६	अनन्यप्रेमी सगुण उपासकोंये लक्षण	५४-६१
७	भगवान् ये द्वारा अपो अनन्यप्रेमी भक्तोंके शीघ्र उढ़ाएका कथन (गीतामें विभिन्न स्थलोंपर आये 'पार्ण' सम्बोधन एव उणसी विशेषताएँ ६२)	६१-७१

इलोकस्त्रया	सूत्रम् विषय	पृष्ठ
८	समर्पणयोगस्य साधनका कथन (विशेष वात ७७, भगवत्यासि सम्बन्धी विशेष वात ८३)	७२-८८
९	अभ्यासयोगस्य साधनका कथन	८८-९४
१०	भगवदधर्मस्य साधनका कथन	९४-९७
११	सर्वकर्मफलत्यागस्य साधनका कथन	९७-१०५
१२	सर्वकर्मफलत्यागकी श्रेष्ठता तथा उसके फलका वर्णन (कर्मफलत्यागसम्बन्धी विशेष वात ११७, साधन सम्बन्धी विशेष वात १२५)	१०५-१२८
१३-१४	सिद्ध भक्तके बारह लक्षणोंका पहला प्रकरण (अद्वैट १३०, मैत्रऔरकरण १३१, निर्मम १३३ निरह्कार १३५, सुपर-दु एमें सम १३६, धमावान् १३७, निरन्तरसत्तुष्ट १३७, योगी १३९, यतात्मा १३९, दृढनिश्चय १४०, भगवान्में अर्पित मन बुद्धिवाला १४२)	१२८-१४४
१५	सिद्ध भक्तके छ लक्षणोंका दूसरा प्रकरण (जिससे कोई प्राणी उद्दिग्न नहीं होता १४५, जो स्वयं किसी प्राणीसे उद्दिग्न नहीं होता १४८, हय, अमर्य, भय और उद्देशसे रहित १४९)	१४४-१५६
१६	सिद्ध भक्तके छ लक्षणोंका तीसरा प्रकरण (अनपेक्ष १५७, बाहर भीतरसे पवित्र १६०, दश १६२, उदासीन १६२, व्यथारहित १६४,	१५६-१७२

	सर्वारभपरित्यागी १६४) (गीतामें करूत्याभिमानके त्यागकी ग्रात—टिप्पणीमें १६०, शिद्ध भक्तद्वारा कर्म हीनेमें कुछ निशाप हेतु १६८)	
१७	शिद्ध भक्तके पाँचल-उर्णोंका चौथा प्रकरण १७२-१७८ (हप, द्वेष, दाक और कामनासे रहित १७३, शुभाशुभ कर्मोंका त्यागी १७६)	
१८-१९	शिद्ध भक्तके दूसरा पाँचवाँ प्रकरण १७८-१९६ (शत्रु मित्रमें सम १७९, मान-अपमानमें सम १८०, अनुकूल प्रतिकूलम और सुख दुरस्थ सम १८१, आसक्तिरहित १८२, निन्दा स्तुतिम सम १८८, मननशील १८९, जिस इती प्रकारसे भी सतुष्ट १९०, अनिषेत १९१, स्थिरमति १९२) (मार्मिक वात १८७, प्रकरण-सम्बन्धी निशाप ग्रात १९६)	
२०	शिद्ध भक्तके उर्णोंसे आदम भास्त्रके राधन करनेवाले अद्वाट और भगवत्प्रायण भक्तीकी प्रश्ना १९६-२०६ गारहवे अध्यायकी पुष्पिना २०६-२०८ गारहवे अध्यायके पद, आर प्रा उवाच २०८ गारहवे अध्यायमें प्रयुक्त शब्द २०८	
	पंद्रहवाँ अध्याय	

[४]

इलोक सर्या	प्रधान विषय	पृष्ठ
७-११	जीवात्माका स्वरूप तथा उसे जाननेवाले और न जाननेवालेका वर्णन	२८९-३६९
१२-१६	भगवान्‌के प्रभावका वर्णन	३६१-४०८
१६-२०	धर, अधर और पुरुषोत्तमरा वर्णन तथा अध्यात्मा उपस्थिर	४०४-४३८
	सहम विषय	
१-२	अश्वत्थ तृक्षरूपसे ससारका वर्णन	२१२ २३९
	(गुणोंनी वृत्तियावे सम्बन्धमें विशेष गत २२८)	
३-४	ससार तृक्षका उद्देश करके भगवान्‌के शरण होनेवी विधि	२३९-२७१
	(विशेष गत २४३, वैराग्य-सम्बन्धी विशेष गत २४७, ससारसे सम्बन्ध विच्छेदसे तुड सुगम उपाय २५१, मार्मिक गत २५३, शणागति विषयक मार्मिक गत २६७)	
५	परमपदको प्राप्त होनेवाले महापुरुषोंके लक्षण	२७९-२८८
	(विशेष गत २७७, विशेष गत २८१, विशेष गत २८४)	
६	भगवान्‌के परमधामका वर्णन	२८९-२९३
७	जीवात्माका स्वरूप	२९३-३०५
	(विशेष गत ३०३)	
८	जीवा मादारा एक शरीरसे दूसरे शरीरमें जानेवा प्रसार	३०५-३१६
	(विशेष गत ३१३)	

९	जीवात्माद्वारा विषयोंको भोगनेकी धीति (जाननेयोग्य नात ३१८, प्रिशेष नात ३२०)	३१५-३२४
१०	जीवात्माये स्वरूपको जाननेवाले और न जाननेवाले पुरुषोंका वर्णन (मार्मिक नात ३२९, मार्मिक नात ३३५)	३२४-३३६
११	जीवात्माये स्वरूपको जाननेवालोंकी विशेषता और न जाननेवालोंकी कमीका वर्णन (प्रिशेष नात ३३९, प्रिशेष नात ३४४, मार्मिक नात ३५१, मार्मिक नात ३६७, साधकोंके लिये विशेष नात ३८८)	३३६-३६१
१२	भगवान्‌से तेजस्विका वर्णन	३६१-३६७
१३	भगवान्‌के ओन और रसम्प (सोम) का वर्णन	३६७-३७०
१४	भगवान्‌से वैश्वानररूपका वर्णन (दस प्राणवायुके भिन्न भिन्न धार्योंका वर्णन- टिप्पणीमें ३७२, भोजन-सम्बन्धी कुछ बातें ३७४)	३७०-३७७
१५	भगवान्‌से अन्तायामीरूपसे समये दृद्यमें स्थित उत्तराकर, उन्हें स्मृति आदिका कारण, वेदोद्वारा जाननेयोग्य, वेदोंको जाननेवाला और वेदान्तका वर्तां उत्तराना	३७७-४०४
	(परमात्मप्राप्ति-सम्बन्धी प्रिशेष नात ३८०, प्रिशेष नात ३८५, भगवत्प्रेम-सम्बन्धी मार्मिक नात ३९१, प्रधरणकी विशेष नात ३९८, मार्मिक नात ४०२)	

इलोम्ब-सरया	संदर्भ विषय	पृष्ठ
१६	क्षर और अभरका स्वरूप (मार्मिक ग्रन्त ४०९)	४०४-४१०
१७	पुरुषोत्तमका स्वरूप (मार्मिक ग्रन्त ४१३)	[० ४१०-४१४
१८	भगवान् श्रीकृष्णद्वारा अपने आपको पुरुषोत्तम बनलाऊर अपना गोपनीय रहस्य प्रकट करना	४१४-४२०
	(विशेष वात ४१८)	
१९	भगवान्को पुरुषोत्तम ज्ञाननेशालेकी महिमा	४२०-४२६
२०	पद्महवें अध्यायका माण्डत्य (विशेष वात ४३६)	४२६-४३८
	पद्महवें अध्यायकी पुष्पिका	४३८
	पद्महवें अध्यायके पद, अभर एव उवाच	४३८
	पद्महवें अध्यायमें प्रयुक्त छन्द	४३८



ॐ श्रीपरमात्मने नम

अथ द्वादशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

एव मततयुक्ता ये भक्तारत्वां पर्युपासते ।
ये चाप्यक्षरमन्यक्तं तेषा के योगवित्तमाः ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

मन्यावेश्य मनो ये मा नित्ययुक्ता' उपासते ।
अद्वया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥ २ ॥
ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कृटस्थमचलं ध्वनम् ॥ ३ ॥
सनियम्येन्द्रियग्राम सर्वत्र समवुद्दयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते, रताः ॥ ४ ॥
क्लेशोऽधिकतरम्तेषामव्यक्तासत्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःख देहवद्विरप्यते ॥ ५ ॥
ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मा ध्यायन्त उपासते ॥ ६ ॥
तेषामहं समुद्रतां सृत्युसमारसागर् ।
भगामि नचिगत्पार्थं मन्यावेगितचेतसाम् ॥ ७ ॥
मद्येव मन आपत्स्व मयि वुद्दिं निवेश्य ।
निगसिष्यसि मद्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥ ८ ॥
अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि श्यिग्म् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिन्छाप्तु धनजर ॥ ९ ॥

अर्थतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मयोगमात्रितः ।
 सर्वकर्मफलत्याग ततः कुरु यतात्मान् ॥११॥
 श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्यथान प्रिशिष्यते ।
 ज्ञानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥१२॥
 अद्वेष्टा सर्वभूताना र्मः करुण एव च ।
 निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥१३॥
 सतुष्टः सतत योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
 मध्यपितमनोद्विद्यो मङ्गलः स मे प्रियः ॥१४॥
 यसन्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
 हर्षमर्पयोद्वेर्गैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥१५॥
 अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
 सर्वरम्भपरित्यागी यो मङ्गलः स मे प्रियः ॥१६॥
 यो न हृष्यति न द्वेष्टि न गोचति न काङ्घति ।
 शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥१७॥
 समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
 श्रीतोष्णासुखदुःखेषु समः सङ्गप्रिजितः ॥१८॥
 तुल्यनिन्दासतुतिमौनी सतुष्टो येन केनचित् ।
 अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नः ॥१९॥
 ये तु धर्म्यामृतमिद यथोक्त पर्युपासते ।
 श्रद्धाना मत्परमा भक्ताम्तेऽतीन मे प्रियाः ॥२०॥
 अत्तसदिति श्रीमद्भगवद्वीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्याया योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन
 सनादे भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्याय ॥ १२ ॥

ॐ श्रीपरमात्मने नम

अथ पञ्चदशोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दासि यस्य पर्णानि यस्त वेद स वेदनित् ॥ १ ॥
अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा
गुणप्रवृद्धा पिपयप्रगलाः ।
अधथ मूलान्यनुसंततानि
कर्मानुवन्धीनि मनुष्यलोके ॥ २ ॥
न रूपमस्येह तथोपलभ्यते
नान्तो न चादिनं च संप्रतिष्ठा ।
अश्वत्थमेन सुनिरुद्धमूल-
मसङ्गवास्त्रेण दृढेन छिन्ना ॥ ३ ॥
ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं
यस्मिन्नगता न निर्तान्ति भूयः ।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥ ४ ॥
निर्नानमोहा जितसङ्घटोपा
अध्यात्मनित्या पिनिरुत्तकामाः ।
द्वन्द्वर्पिमुक्ताः सुखदुःखमङ्ग-
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥ ५ ॥

न तद्वासयते सूर्यो न शगाङ्को न पामकः ।
 यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्वाम परमं मम ॥६॥
 ममैरांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
 मनः पण्डानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्पति ॥७॥
 शरीरं यदवाप्नोति यन्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ।
 गृहीत्वैतानि सयाति वायुर्गन्धानिपाशयात् ॥८॥
 श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं ध्राणमेव च ।
 अधिष्ठाय मनश्चाय पिपयानुपसेवते ॥९॥
 उत्क्रामन्तं स्थित वापि भुज्ञानं वा गुणान्वितम् ।
 पिमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति जानचक्षुपः ॥१०॥
 यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।
 यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैन पश्यन्त्यचेतसः ॥११॥
 यदादित्यगतं तेजो जगद्वासयतेऽस्तिलम् ।
 यच्चन्द्रमसि यज्ञामनौ तत्तेजो निद्वि मामकम् ॥१२॥
 गामापिश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।
 पुष्णामि चौपधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥१३॥
 अहं वैश्वानरो भूत्वा ग्राणिना देहमाश्रितः ।
 प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुविधम् ॥१४॥
 सर्वस्य चाह हृदि सनिविष्टे
 मत्तः स्मृतिर्जन्मपोहन च ।
 वेदैश्च सर्वैरहमेव वेदो
 वेदान्तकृद्वेदपिदेव चाहम् ॥१५॥

द्वागिमौ पुरुषौ लोके अरथाक्षर एवं च ।
 करः सर्वाणि भूतानि ऋद्योऽधर उन्यते ॥१६॥
 उत्तमः पुरुपस्तन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
 यो लोकत्रयमानिश्य विभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥१७॥
 यमात्करमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
 अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुणोत्तमः ॥१८॥
 यो मामेवससंमूढो जानाति पुरुणोत्तमम् ।
 स सर्वपिद्वजति मा सर्वभावेन भारत ॥१९॥
 इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मथानघ ।
 एतद्द्युदन्वा चुद्रिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ॥२०॥
 ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतास्त्रुनिपत्तु ब्रह्मविद्याया योगशास्त्रे
 श्रीऽणार्जुनस्वर्गदे पुरुणोत्तमयोगो नाम पञ्चदशोऽध्याय ॥ १५ ॥



॥ श्रीतरि ॥

प्राक्कथन

पराहृतनमठन्य परद्वसु नराकृति ।
सौन्दर्यमारम्यस्त्वं वन्दे नन्दामज मह ॥
प्रपन्नपारिजाताय तोत्रवेच्छेगपाणये ।
शानमुद्राय काणाय रीतामृतदुहे नम ॥
वसुंद्रवसुत देव ऋसवाणूरमर्दनम् ।
देवकीपरमानन्द गुण वन्दे जगद्गुरुम् ॥
वशीविशृष्टिकरान्पर्नागद्वाभाव्

पीताम्बरादरूपिष्ठफलाधरोषात् ।
पूर्णदुसुन्दरमुखादरविन्देव्रात् ।
कृष्णात्पर किमपि तत्त्वमह न जाने ॥
यायधिरज्ञनमज पुरुष जरन्त
सचिन्तयामि निखिले जगति स्फुरन्तम् ।
तापद् यलात् स्मुरनि हन्त हृदन्तरेमे
गोपस्य कोऽपि शिश्वरज्ञनपुञ्जमञ्जु ॥

श्रीमद्भगवद्गीता एक अन्यत विभक्ति और अलोकिक ग्रन्थ है। चारों वेदोंका सार उपनिषद् है और उपनिषदोंका भी सार श्रीमद्भगवद्गीता है। यह ख्य भी ब्रह्मनिवाका पर्गन होनेसे उपनिषद्-ख्यरूप और श्रीभगवान्‌सी गाणी होनेसे वेद-ख्यरूप है। इसमें ख्य श्रीभगवान्‌ने अपने प्रिय सखा अर्दुनको अपने हृदयके गूढ़ भाव विग्रेपरूपसे कहे हैं।

जैसे वेदोंमें तीन काण्ड हैं—कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड, वैसे ही गीतामें भी तीन काण्ड हैं। गीताका पहला षट्क

(पहलेसे छठा अध्याय) कर्मकाण्डका, दूसरा पट्टक (सत्रोंसे बारहवाँ अध्याय) उपासनाकाण्डका और तीसरा पट्टक (तेरहवेंसे अठाहवाँ अध्याय) ज्ञानकाण्डका माना जाता हे । इन तीनोपरि पिचार किया जाय तो जितना दूसरे पट्टकमें उपासना अर्थात् भक्तिका वर्णन हे, उतना पहले पट्टकमें कर्मोंका वर्णन नहीं है, और जितना पहले पट्टकमें कर्मोंका वर्णन हे, उतना तीसरे पट्टकमें ज्ञानका वर्णन नहीं है । इस प्रकार गीतामें भक्तिका वर्णन विशेषरूपसे आया हे ।

कर्मयोग और ज्ञानयोग—दोनों नाशानन् ससारसे ऊँचे उठनेके लिये अर्थात् उससे सर्वथा सम्बन्ध-मिळेद फरनेके लिये हैं । इनमें दूसरोंके हितके लिये निष्काम-कर्म करके ससारसे ऊँचे उठनेको कर्मयोग कहते हैं और अपने प्रियेकर्मों महत्त्व देनकर ससारसे ऊँचे उठनेको ज्ञानयोग कहते ह । एकमात्र भगवान्‌पर निर्भर रहना भक्तियोग हे, इसलिये भगवान्‌ने गीतामें दो ही निष्ठा बतलायी हैं—कर्मयोग और ज्ञानयोग (३ । ३) । भक्तियोगको भगवान्‌ने निष्ठा नहीं बतलाया, क्योंकि यह साधक भगवन्निष्ठ होता है । उसकी निष्ठा, आश्रय, भरोसा केन्द्र भगवान्‌ही होते हैं ।

भगवार् श्रीष्टणि और अर्जुन साय साय ही रहते थे । साय-साय रहनेपर भी भगवान्‌ने अर्जुनको वभी उपदेश नहीं दिया और अर्जुनने कभी पूछा भी नहीं । तब युद्धके समय अर्जुन विष्वस्त्रव्ययमृद्द हो गये, उत्तरामें पढ़ गये, तब उन्होंने भगवान्-

शरण होकर अपने कल्याणकी बात पूछी । यहींसे गीताका उपदेश आरम्भ हुआ । अन्तमे भगवान्‌ने केवल अपने शरण हो जानेकी बात कही (१८ । ६६) । इसपर अर्जुनने 'करिष्ये वचन तव' (१८ । ७३) 'मैं आपकी आज्ञाका पालन करूँगा'—ऐसा कहकर भगवान्‌की पूर्ण शरणागतिको स्वीकार कर लिया । यहीं गीताका उपदेश समाप्त हुआ । इस प्रकार गीताका आरम्भ और उपस्थिर मक्ति (शरणागति) में ही हुआ है । अत सामान्य रीतिसे पक्षपातके बिना देखा जाय, तो गीताका मुख्य प्रतिपाद्य विषय मक्ति ही है ।

गीतामें भक्तिका वर्णन विशेषरूपसे सातवें अध्यायसे आरम्भ होता है । आठवें अध्यायमें अर्जुनके द्वारा प्रश्न करनेके कारण दूसरा विषय आ गया । अत सातवें अध्यायमें जो बातें शेष 'रह गयी थीं, उनका वर्णन नवें अध्यायमें तथा दसवें अध्यायके आरम्भमें (म्यारहवें श्लोकतक) किया गया । इस प्रकार सातवें और नवें—दोनों अध्यायोंमें भक्तिका विशेष वर्णन हुआ है, परतु श्रीवेदव्यासजीने उन अध्यायोंका नाम क्रमशः 'ज्ञानपिज्ञानयोग' और 'राजविद्याराजगुद्ययोग' रखा है । बारहवें और पद्धत्वें अध्यायोंका तो नाम ही क्रमशः 'भक्तियोग' और 'पुरुषोत्तमयोग' है तथा, इनमें भक्तिका वर्णन भी बहुत विलक्षण ढांसे हुआ है । इसलिये बारहवें और पद्धत्वें अध्यायोंको ही गीताका 'भक्तियोग' माना गया है ।

बारहवें अध्यायके आरम्भमें अर्जुनने प्रश्न किया कि तुलनामें पशुण और निर्गुण—दोनों उपासकोंमें कौन धेर है ? उत्तरमें

भगवान्‌ने श्रद्धा-प्रेमपूर्वक भजन करनेयाले सगुण-उपासकों (भक्तों) को सप्तसे श्रेष्ठ बतलाया—‘ते मे युक्तमा मता’ (१२ । २) (छठे अव्यायके सैंतालीसमें श्लोकमें भी भगवान्‌ने इसी प्रकार ‘स मे युक्तमो मत’ पश्चेसे अपने भक्तोंसे सप्तसे श्रेष्ठ बतलाया हे) । फिर भगवान्‌ने बतलाया कि निर्गुण और सगुण—दोनों ही उपासक मुझे प्राप्त होते हैं । उनमें भगवान्‌ने देहाभिमानी निर्गुण-उपासकोंको तो अपनी प्राप्ति कठिन बतलायी, पर भगवत्परायण सगुण-उपासकोंको अपनी प्राप्ति सुगम बतलाते हुए कहा कि उनमा मैं शीघ्र ही मृत्युससार-सागरसे उद्धार कर देता हूँ । इसके बाद भगवान्‌ने कहा कि मन और दुष्टि मुझमें ही अर्पण कर दो, तो मेरी प्राप्ति हो जायगी । ऐसा नहीं कर सकते, तो अन्यासयोगसे मेरी प्राप्तिकी इच्छा करो । अन्यास भी नहीं कर सकते, तो सम कर्म मेरे अर्पण कर दो । ऐसा भी नहीं कर सकते, तो सम कर्मोंके फलका त्याग कर दो । तात्पर्य यह कि किसी प्रकार मुझसे सम्बन्ध जोड़ लो और ससारसे सम्बन्ध तोड़ लो ।

भगवान्‌के साथ जीवमात्रका खत सिद्ध नित्य-सम्बन्ध है । परतु समारसे अपना सम्बन्ध मान लेनेके कारण जीव भगवान्‌से त्रिमुख हो जाता है । सम कर्मोंके फलका त्याग करनेसे ससारसे माने हुए सम्बन्धका त्याग हो जाता है, जिससे तत्काल परमशान्तिकी प्राप्ति हो जाती है—‘त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्’ (१२ । १२) । फिर भगवान्‌ने उस परमशान्तिको प्राप्त महामुकुरोंके लक्षणोंना वर्णन किया । अन्तमें अपने वर्तयन शब्दोंरुपे उद्घाणापत्र आदर्श मानकर

चलनेवाले भक्तोंको 'भक्तास्तेऽतीव मे प्रिया' पदोंसे अपना अत्यन्त प्रिय कहकर अध्यायका उपसहार किया ।

बारहवें अध्यायमें सगुण-उपासनोंका वर्णन करके तेरहवें अध्यायमें निर्गुण-तत्त्वकी उपासना करनेवालोंका वर्णन आरम्भ किया । बारहवें अध्यायमें कहा या कि देहाभिमान रखनेवालोंके लिये, निर्गुण-उपासना कठिन है । उस देहाभिमानको दूर करनेके लिये तेरहवें अध्यायके आरम्भमें 'इदं शरीरम्' पदोंसे बतलाया कि यह 'देह' 'इदम्' है और इसे जाननेवाला 'अहम्' (स्वरूप) इससे 'सर्वं गा भिन्न है । देहाभिमान कम होनेपर निर्गुण-उपासना सुगमता-पूर्वक चर पड़ती है । फिर भगवान्‌ने क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ और प्रकृति-पुरुषके निभागका वर्णन किया । फिर क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके सयोगसे सम्पूर्ण सृष्टि होनेकी बात गत गयी । अन्तमें क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके भेदको तत्त्वसे जाननेका फल परमात्माकी प्राप्ति बतलाते हुए अध्यायका उपसहार किया ।

चौदहवें अध्यायमें पुन ज्ञानका विषय आरम्भ करके उसकी महिमाका वर्णन किया । फिर प्रकृति-पुरुषके सयोगसे ससारकी उत्पत्तिका वर्णन किया । जीवात्मा प्रकृतिके गुणोंसे बँधता है, अत उन गुणोंका तथा उनसे छुटनेके उपायका वर्णन किया । गुणातीत होनेकी जात भगवान् तेरहवें और चौदहवें अध्यायोंमें पहले भी (१३ । १८, २३, १४ । १९-२०) कह चुके थे, परतु अर्जुनके प्रश्न करनेपर भगवान्‌ने अव्यभिचारी भक्तियोगको ही गुणातीत होनेका सुगम उपाय बतलाया (१४ । २६) । अव्यभिचारी भक्तियोगका तात्पर्य है—केवल भगवान् ही इष्ट हों, प्रापणीय हों,

और ससारसे मर्या पिमुखता हो। इस भक्तियोगका सेवन करने वाला मनुष्य गुणोंका भलीभांति अनिकमण करके ब्रह्माप्निका पाद दन जाता है। यह ब्रह्म में ही है—ऐसा कहकर भगवान्‌ने चौदहवें अध्यायका उपस्थान किया।

भगवान्‌के मनमें भक्तिका वर्णन करनेही इच्छा थी। अतः चौदहवें अध्यायके उपाय श्लोकमें भक्तिका सूत्ररूपसे वर्णन किया और उसका निम्नाख्य से वर्णन करनेके लिये अपनी ओरसे पदहर्षों अध्याय आरम्भ किया। परमामा सर्वोपरि हैं और यह जीव उन्हींका सनानन अश है, परतु यह परमामासे पिमुख होकर ससारको पकड़ लेना है, यही व्यभिचार दोष है। अत मनुष्य इस संसार-वृक्षका छेदन करके अर्गत् इसकी कामना और ममताका त्याग करके 'तमेव चाद्य पुरुष प्रपद्ये' (उम आदिपुरुष नारायणके मैं शरण हैं)—इस प्रकार भगवान्‌में लग जाय। इससे वह अविनाशी, परमपदको प्राप्त हो जाता है, जहाँसे वह लौटकर फिर कभी ससारमें नहीं आता। यह परमधार्म अयन्त विलक्षण है। उसे सूर्य, चन्द्र, अग्नि आदि प्रवाशिन नहीं कर सकते, अपितु वे सबके सम्मिश्रणसे प्रवाशिन होते हैं। फिर भगवान्‌ने अपने प्रभावका विशेषरूपसे वर्णन करते हुए कहा कि सम्भावा आधार और सबका भरण-पोषण करनेवाला मैं ही हूँ। सम्पूर्ण वेदोंके द्वारा जाननेमें आनेवाला मैं ही हूँ। वेदान्तका वर्णा और वेदोंका ज्ञाना भी मैं ही हूँ। फिर भगवान्‌ने क्षर (नाशवार्) और अक्षर (अविनाशी) का स्वरूप वद्वाकर परमामाको उन दोनोंसे भिन्न और अपन्त ब्रेद

जाहा । वह सञ्चिदानन्दवत् पुरुषोत्तम परमात्मा में ही हूँ—ऐसा कहकर भगवान् ने अपना गुणतम स्वरूप प्रकट किया और पद्रहवाँ अन्यथको 'शास्त्र' की सज्जा दी, क्योंकि इसमें ससार, जीवात्मा और परमात्मा—तीनोंका वर्णन हुआ है ।

इस प्रकार वारहवाँ और पद्रहवाँ—दोनों ही अध्याय भक्तियोगके वर्णनमें विलक्षण योग्यता रखते हैं । पद्रहवाँ अध्यायका तो बहुत अधिक माहात्म्य माना जाता है, जिसे भगवान् ने गुणतम शब्द पढ़ा है । कारण कि इसमें भगवान् ने अपने हृदयकी बातें विशेषरूपसे खोलकर कही हैं ओर अपने-आपको भी प्रकट कर दिया है कि सम्पूर्ण लोकोंमें, वेदोंमें ओर आरामे प्रसिद्ध परमहुँ उरुषोत्तम मैं ही हूँ । बहुत-से सज्जन पद्रहवाँ अध्यायको कागड़स्थ रखते हैं और स्नान करते समय उसका पाठ कर लेते हैं । सतत्रोग भोजनके लिये पक्ति लगाकर (भोजनसे पूर्व) इस अध्यायका पाठ करते हैं ।

गीतामरमें ग्राहवाँ और पद्रहवाँ—ये दो अध्याय सबसे छोटे ('बीस-बीस श्लोकोंके) हैं । अन ये याद करनेके लिये बहुत सुगम हैं और इनमें भगवान्, भक्त और भक्तिका वर्णन भी सखलतापूर्वक किया गया है । अतएव 'सभीको कम-से-कम इन दो अध्यायोंका 'पठन-पाठन' अवश्य ही करना चाहिये ।

मक्तिका खास स्वरूप है—भगवपरायणता । ग्याहवाँ अध्यायके पचपनवें श्लोकमें भगवान् ने भक्तिके पौचाँरूप वत्तलाये

है—‘मत्कर्मण्ट’, ‘मत्परम्’, ‘मद्भक्’, ‘सङ्गवर्जित’ और
‘सर्वभूतेषु निर्वैर.’। इसे साधन-पश्चक भी कहते हैं। इसमें सब
यात है—सासारसे सर्वथा विमुख होकर केवल भगवान्‌के परायण
होना (१२ । ६)। फिर भगवान् सब ही उद्धार कर देते
हैं (१२ । ७)।

सासारसे विमुख होकर एकमात्र भगवान्‌की ओर चले, तो यह
‘साधन-भक्ति’ होती है। जब अपना कुछ भी नहीं रहता, सब कुछ
(‘अह’ भी) भगवान्‌के समर्पित हो जाता है, तब ‘साध्य-भक्ति’
होती है। साध्य-भक्तिमें भगवान्‌का इष्ट भक्त और भक्तका इष्ट
भगवान् दो जाते हैं। फिर उनमें ग्रतिक्षण वर्धमान प्रेमकी लीला
चलती है। प्रेममें भक्त और भगवान् दो होकर भी एक होते हैं
और एक होकर भी दो होते हैं।

यह अत्यन्त आर्थर्यकी बात है कि मनुष्य भगवान्‌की दी
द्वई वस्तुओंको तो अपनी मान लेना है, पर उन्हें देनेवाले भगवान्‌को
अपना नहीं मानता। दी द्वई वस्तु तो सदा रहेगी नहीं, पर, देनेवाला
सदा रहेगा। यह तो सदासे ही अपना है। अत नहीं रहनेवाली
वस्तुओंसे विमुख होना है। विमुख होनेका उपाय है—उन
वस्तुओंको अपनी न मानकर भगवान्‌की ही मानना, उनपर भगवान्‌पर
ही आधिपत्य मानना। धन, सम्पत्ति, वैभव, कुरुम्ब, परिवार, शरीर,
इन्द्रियों, मन, बुद्धि और ‘अह’ तकके ऊपर भगवान्‌मी ही मोहर
लग जाय। सब कुछ भगवान्‌के ही समर्पित करके उन्हींकी रक्षणमें

जीवमात्रमें प्रेम तो है ही । वही प्रेम जब नाशवान् ससारमें

हो जाता है, तब वह 'आसक्ति' कहलाता है । आसक्ति होनेपर जीव
भगवान्‌से विमुख हो जाता है । भगवान्‌से विमुख होनेपर वह
गगोङ्की भाँति महान् अपवित्र हो जाता है । जब गङ्गाका जल
उसके प्रवाहसे विमुख होकर किसी नीची जगहपर रुक जाता है,
तब वह 'गगोङ' (गङ्गासे छूटा हुआ—अलग हुआ) कहलाता है ।
गगोङको मदिराके समान महान् अपवित्र माना गया है । वही
गगोङ जब पुन गङ्गाके प्रवाहमें मिल जाता है, एक हो जाता है,
तब वह पुन पवित्र हो जाता है, उसमें किञ्चिन्मात्र भी अपवित्रता
नहीं रहती । इसी प्रकार जब मनुष्य भगवान्‌से विमुख होकर ससारमें
लग जाता है, तब वह आसुरी सम्पत्तियुक्त महान् अपवित्र हो जाता
है । परतु जब वह ससारसे विमुख होकर भगवान्‌के सम्मुख हो
जाता है, तब वह दैवी-सम्पत्तियुक्त महान् पवित्र हो जाता है ।
इसलिये भक्तको सदैव भगवान्‌के सम्मुख रहना चाहिये । यदि
भगवान्‌का भक्त अपने भक्तोंमें अथवा ससारियोंमें आसक्त होकर
(रच-पचकर) नाशवान् पदार्थोंके भोग और सप्रहमें लग जाता है,
तो वह भी गगोङके समान महान् अपवित्र हो जाता है । अतएव
ससारके आश्रयको हृदयसे त्यागकर केवल भगवान्‌के ही परायण
(अनन्यशरण) हो जाना भक्तिका खास खरूप है ।

आरती

जय भगवद्गीते, जय भगवद्गीते ।
 हरिन्हिय-कमल-विहारिणि, सुन्दर सुपुनीते ॥
 कर्म सुर्मर्म प्रकाशिनि, कामासक्षिहरा ।
 तत्त्वशान विकाशिनि, विश्वा ब्रह्म परा ॥ जय०
 निष्ठल भक्षिन्दिवायिनि, निर्मल, मलहारी ।
 शरण-नहन्य ग्रदायिनि, सप निधि सुखकारी ॥ जय०
 राग द्वेष विद्वारिणि, कारिणि, मोड सदा ।
 भव-भव-रागिणि, तारिणि, परमानन्दप्रदा ॥ जय०
 पादुरभाव विनाशिनि, नाशिनि, तम-रजनी ।
 देवी सद्गुणदायिनि, हरि-रसिका सजनी ॥ जय०
 समता-त्याग सिद्धावनि, हरि मुखकी वानी ।
 सकल शायकी स्वामिनि, श्रुतियोंकी रानी ॥ जय०
 द्यानुग्रा उरसावनि मातु ! छृषा कीजै ।
 हरिपद प्रेम दान, कर अपनो कर छीजै ॥ जय०





Hinduism Discord Server <https://discord.com/invite/hinduism>

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

गीताका भक्तियोग

[श्रीमद्भगवद्गीताके बारहवें और पंद्रहवें अध्यायोंकी
विस्तृत व्याख्या]

नारायण नमस्कृत्य नर चैव नरोत्तमम् ।
देवों सरस्वतीं व्यास ततो जयमुदीरयेत् ॥
यसुदेवसुतं देव कसचाणूरमद्दनम् ।
देवकीपरमानन्द कृष्ण चन्दे जगद्गुरुम् ॥

अथ द्वादशोऽध्यायः

सन्दर्भ—

श्रीभगवान्‌ने चौथे अध्यायके तीनीसवें और चौंतीसवें श्लोकोंमें ज्ञानयोगकी श्रेष्ठता बतलाते हुए ज्ञानप्राप्तिके लिये प्रेरणा की । फिर ज्ञानकी महिमाका धर्णन किया । तत्पश्चात् पाँचवे अध्यायके सत्रहवेंसे छब्बीसवें श्लोकतक निर्गुण-निराकारकी उपासना, छठे अध्यायके चौबीसवेंसे उनतीसवें श्लोकतक परमात्माके अचिन्त्य स्वरूपकी उपासना और आठवें अध्यायके ब्यारहवेंसे तेरहवें श्लोकतक अव्यक्त अक्षरकी उपासनाका महत्व बतलाया ।

छठे अध्यायके सेतालीसवें श्लोकमें अनन्यभक्तिका लक्ष्य रखकर चलनेवाले साधक भक्तकी महिमा बतलायी और सातवें

अध्यायसे न्यारहवें अध्यायतक स्थान-स्थानपर 'अहम्', 'माम्' आदि पदाद्वारा विशेषस्वप्ससे संगुण-साकार एव संगुण-निराकार उपासनाकी महत्ता बनलायी तथा अतमें न्यारहवें अध्यायके चौबनवें ओर पचासनवें इलोमोमें अनन्यभक्तिकी महिमा एव फलसहित उसके स्वस्प-का वर्णन किया ।

उपर्युक्त वर्गनसे अर्जुनके मनमें यह जिज्ञासा उत्पन्न हुई कि निर्गुण ब्रह्म और संगुण भगवान्‌की उपासना करनेवाले—इन्होंने उपासनमें कोन-से उपासन श्रेष्ठ हैं । इसी जिज्ञासाको लेकर अर्जुन प्रश्न करते हैं—

इतोऽनुवाच—

अर्जुन उवाच

य च सततयुक्ता ये भकास्त्वा पर्युपासते ।
ये चाच्यद्वरमव्यक्तं तेषां के योगविच्चमा ॥ १ ॥

भागार्थ—

जो भगवप्राप्तिका उद्देश्य रखकर भगवान्‌के संगुण-साकार नपर्याप्ति श्रेष्ठमात्रमें उपासना करनेवाले (प्रारम्भिक सामनासे लेकर भगवप्राप्तिके जायन समीपतक पहुँचे हुए सब मामक) हैं और जो उन्हींके समरग्न (उसी मात्राके विवेक, वैराग्य, इन्द्रियसंयम आदि मामन-मध्यनियाले) निर्गुण-निराकार ब्रह्मकी ही उपासना करनेवाले हैं, उन नोनों प्राप्ताके उपासनमें कोन-से उपासन श्रेष्ठ हैं ?

छठे अध्यायमें न्यारहवें अध्यायतक साकार भगवार्को उपासनेता वर्गा इन इनोर्मोमें जिन पदोंके द्वारा हुआ है, उसमें परिचय इस प्राप्त है—

अध्याय एव श्लोक

पद एव अर्थ

- ६-४७ 'मद्वेनान्तरात्मना', 'श्रद्धावान्भजते यो माम्' (मुझमें लगे हुए मन-बुद्धिवाला श्रद्धायुक्त जो साधक निरन्तर मेरा भजन करता है)।
- ७-१ 'मर्यासकमना', 'योग युज्ञन्मदाथय' (मुझमें अनन्य प्रेमसे आसक्त मनवाला और मेरे परायण होकर मुझसे नित्ययोगका लक्ष्य रखकर मेरे चिन्तन-में लगा हुआ)।
- ७-२९-३० 'मामाधित्य यतन्ति', 'युक्तचेतस' (युक्त चित्तवाले पुरुष मेरे शरण होकर साधन करते हैं)।
- ८-७ 'मर्यापितमनोबुद्धि' (मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिवाला)।
- ८-१४ 'अनन्यचेता सतत यो मा स्मरति नित्यश' (मुझमें अनन्यचित्त होकर जो सदा ही निरन्तर मेरा स्मरण करता है)।
- ९-१४ 'सतत कीर्तयन्तो मा यतन्तश्च दृढव्रताँ' (दृढ़ निधयवाले भक्तजन निरन्तर मेरे नाम और गुणोक्ता कीर्तन करते हुए मेरी ग्रासिके लिये यहन करते हैं)।
- ९-२२ 'अनन्याध्यन्तयन्तो मा ये जना पर्युपासते' (अनन्यभावसे जो भक्तजन मुझपरमेश्वरका निरन्तर चिन्तन करते हुए निष्कामभावसे उपासना करते हैं)।

- ९-३० 'मजते मामन्यभाक्' (अनन्यभावसे मेरा भक्त होकर मेरा भजन करता है) ।
- १०-९ 'मधिता मद्वतप्राणा वोवयस्त परस्परम्' (निरन्तर सुझामें मन लगाये रखनेवाले और सुझामें ही प्राणोंको अर्ण फरनेवाले भक्तजन आपमें मेरे प्रभावको जनाते हुए) ।
- ११-५५ 'मन्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः' (मेरे लिये ही सम्पूर्ण कर्तव्य-कर्म करनेवाला, मेरे परायण वै मेरा प्रेमी भक्त है) ।

चौथे अव्याप्तसे ग्याहवें अव्याप्तक निराकार उपापत्ति वर्णन जिन एकोकोर्म जिन पर्णोंके द्वारा हुआ है उससा विवरण इस प्रकार है—

- अध्याय एवं इलोक पद एवं अर्थ
- ४-३४ 'तद्विदि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया' (उस नानमो तैं तत्पदशी ज्ञानियोंके पास जाकर समझ उन्हें भक्तेभावानि दण्डनद्वयाम करनेसे, उनको मेरा करनेमें और मरुकाशूर्यक प्रश्न करनेसे)
- ४-३९ 'थद्वायाहुमते धानम्' (थद्वागत् पुरुष छानमें प्राप्त होना है) ।
- ५-८ 'क्षय किनिःकरोमीनि युक्तो मायेत तत्त्वपिति' (ज्ञाने कि मैं पुरुष नदों काटा हूँ) ।

- ५-१३ 'नैव कुर्वन्न कार्त्यन्' (कर्मोंको न करता हुआ,
न भरवाता हुआ) ।
- ५-२४-२६ 'ब्रह्मनिर्णाणम्' (निर्णाण ब्रह्मको प्राप्त होना हे) ।
- ६-२५ 'आत्मसम्य मन छृत्वा' (मनको परमात्मामें
स्थित करके) ।
- ८-११ 'यदक्षर वेदविदो वदन्ति' (वेदोंके ज्ञाता पुरुष जिस
परमपदको 'अक्षर' कहते हैं) ।
- ८-१३ 'ओमित्येकाक्षर ब्रह्म व्याहरन्मामनुसरन्'
(उँ इस एक अक्षररूप ब्रह्मको उच्चारण करता
हुआ और मुझ निर्गुण ब्रह्मका चिन्तन करता हुआ) ।
- ९-१५ 'ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते'
(ज्ञानयोगी मुझ निर्गुण ब्रह्मका ज्ञानयज्ञके द्वारा
पूजन करते हुए उपासना करते हैं) ।

अन्यथा—

ये, भक्ता, एवम्, सततयुक्ता, त्वाम्, पर्युपासते, च, ये, अक्षरम्,
अ-यक्तम्, अपि, सेपाम्, योगविज्ञमा, के ॥ १ ॥

पद-व्याख्या—

ये—जो ।

ग्यारहवें अव्यायके पचपनमें श्लोकमें भगवान्ने 'य' और 'स'
पद जिस साधकके लिये प्रयुक्त किये हैं, उसी साधकके लिये अर्थात्
संगुण-साकार भगवान्की उपासना करनेवाले सब साधकोंके लिये यहाँ
'ये' पद आया है । इसी अव्यायके दूसरे, छठे और बीसमें श्लोकमें
भी 'ये' पद ऐसे ही साधकोंके लिये प्रयुक्त हुआ है ।

- ९-३० 'भजते मामनन्यभाक्' (अनन्यभावसे मेरा भक्त होकर मेरा भजन करता है) ।
- १०-९ 'मच्छित्ता मद्गतप्राणा वोदयत् परस्परम्' (निरन्तर मुझमें मन लाये रखनेवाले और मुझमें ही प्राणोंको अर्ण लेनेवाले भक्तजन आपसमें मेरे प्रभावको जनाते हुए) ।
- ११-५५ 'मन्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्त' (मेरे लिये ही सम्पूर्ण कर्तव्य-कर्म करनेवाला, मेरे परायण और मेरा प्रेमी भक्त है) ।

चौथे अध्यायसे ग्याहवें अग्रायनक निराकार उपायकार्य वर्णन जिन श्लोकोंमें जिन पर्दोंके द्वारा हुआ है, उपरा प्रिवाणि इस प्रकार है—

- | अध्याय एव श्लोक | पद एव अर्थ |
|-----------------|---|
| ४-३४ | <p>'तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया' (उस ज्ञानको तूँ तत्पदर्शी ज्ञानियोंके पास जाकर समझ, उन्हें भक्तिमानि दण्डनद-प्रणाम करनेसे, उनसे सेवा करनेसे ओर सरलतापूर्वक प्रश्न करनेसे) ।</p> |
| ४-३९ | <p>'अद्वावाँहुभते शानम्' (अद्वावान् पुरुष ज्ञानको प्राप्त होता है) ।</p> |
| ५-८ | <p>'नैत्र किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्वविद्' (तत्त्वको जाननेवाला मात्ययोगी नि सन्देह ऐसा माने कि मैं कुछ नहीं करता हूँ) ।</p> |

- ५-१३ 'नैव कुर्वन्न कारयन्' (रसोंको न करता हुआ,
न रखता हुआ) ।
- ५-२४-२६ 'प्रह्लिर्णिंगम्' (निर्णण प्रह्लको प्राप्त होता है) ।
- ६-२५ 'आत्मस्थ मन कृत्वा' (मनको परमात्मामें
स्थित करके) ।
- ८-११ 'यदक्षर वेदविदो वदन्ति' (वेदोके ज्ञाना पुरुष जिस
परमपदको 'अभर' कहते हैं) ।
- ८-१३ 'ओमित्येकाक्षर ग्रह्य व्याहरन्मामनुस्मरन्'
(अ० इस एक अक्षररूप प्रह्लको उच्चारण करता
हुआ और मुङ्ग निर्गुण प्रह्लका चिन्तन करता हुआ) ।
- ९-१५ 'ज्ञानयज्ञेन चायन्ये यजन्तो मामुपासते'
(ज्ञानयोगी मुङ्ग निर्गुण प्रह्लका ज्ञानयज्ञके द्वारा
पूजन करते हुए उपासना करते हैं) ।

अन्य—

ये, भक्ता, एवम्, सततयुक्ता, त्वाम्, पर्युपासते, च, ये, अक्षरम्,
अव्यक्तम्, जपि, तेषाम्, योगवित्तमा, के ॥ १ ॥

पद-व्याख्या—

ये—जो ।

ग्याहवें अव्यायके पचपन्नें श्लोकमें भगवान्‌ने 'य' और 'स'
पद जिस साधकके लिये प्रयुक्त किये हैं, उसी साधकके लिये अर्थात्
सगुण-साकार भगवान्‌की उपासना करनेवाले सब साधकोंके लिये यहाँ
'ये' पद आया है । इसी अव्यायके दूसरे, उठे और वीसपें श्लोकमें
भी 'ये' पद ऐसे ही साधकोंके लिये प्रयुक्त हुआ है ।

भक्ता—भगवान्‌के प्रेमी साधक भक्त ।*

यह पद भगवान्‌के सगुण-साकार रूपमें प्रेम रखनेवाले सभी साधकोंका वाचक है ।

एवम् सततयुक्ता—इस प्रकार निरन्तर आपमें ल्पो हुए । यहाँ ‘एवम्’ पदसे ग्याहवें अध्यायके पचपनमें श्लोकका निर्देश किया गया है ।†

“मैं भगवान्‌का ही हूँ” इस प्रकार भगवान्‌का होकर रहना ही “सततयुक्त” होना है ।

भगवान्‌में अतिशय श्रद्धावान् साधक भक्तोंका एव मात्र उद्देश्य भगवत्त्वामि होता है । अन प्रत्येक (पारमार्थिक—भगवत्सम्बन्धी जप-ध्यानादि अथवा व्याघरारिक—शारीरिक और आजीविका-सम्बन्धी) क्रियामें उनका सम्बन्ध नित्य-निरन्तर भगवान्‌से बना रहता है । ‘सततयुक्ता’ पद ऐसे ही साधक भक्तोंका वाचक है ।

साधकसे यह एक बहुत बड़ी भूल होती है कि वह पारमार्थिक क्रियाओंको करते समय तो अपना सम्बन्ध भगवान्‌से मानता है, पर

वह नमें अध्यायके तत्त्वों और इसी अध्यायके गीतमें श्लोकम् भी ‘भक्ता’ पद साधक भक्ताका हो गाचक है ।

। मत्सर्महृ मपरमा सद्गत्त सङ्ख्यर्त्ति ।

निरैर सञ्चुतेषु य स मामेति पाण्डय ॥

(गीता ११ । ६६)

हे अनुन ! जो पुरुष ये उड़ भर दी थिये समूण कर्तव्यकर्मोंमें करनेयाना है, मेरे पाठ्यण है, मेरा भक्त है, आमत्तिरहित है और सम्पूर्ण अग्निमात्र निपात्ये र्पित्वा इसका अभिन्न स्वरूप समें ही प्राप्त होता है।

ब्यापद्वारिक क्रियाओंको करने समय वह अपना सम्बन्ध ससारसे मानता है। इस भूलका कारण है—परम-समयपर साधकके उद्देश्यमें होनेगारी भिन्नता। जगतक बुद्धिमे पन-प्राप्ति, मान-प्राप्ति, कुदुम्ब-पाठ्नादि भिन्न-भिन्न उद्देश्य वने रहते हैं, तबतक साधकका सम्बन्ध निरन्तर मात्रान्तरके सार नहा रहता। यदि वह अपने जीवनके एकमात्र उद्देश्य भगवत्प्राप्ति को भलीमानि पहचान ले, तो उसकी प्रत्यक्ष क्रिया मात्रप्राप्तिका सामन हो जायगी। मात्रप्राप्तिका उद्देश्य हो जानेपर मात्रान्तरका जप स्मरण यानादि करन समय तो उसका सम्बन्ध मात्रान्तरसे है ही, किंतु ब्यापद्वारिक क्रियाओंको करते समय भी उसे नियन्त्रित मात्रामें लग दुआ ही समझना चाहिये।

यदि क्रियाके आरम्भ और अन्तमे मात्रका भगवस्मृति है, तो क्रिया-कालमे भी उसकी निरन्तर मम्बन्धात्मक भगवस्मृति रहती है—एसा मानना चाहिये। जसे, वहीज्ञातेमें जोड़ लाते समय व्यापारीको वृत्ति इतनी तछुरी होती है कि उसे ‘मे ज्ञान हूँ और जोड़ क्यों लग रहा हूँ’—इसका भी ज्ञान नहीं रहता, केवल जोड़के अड्डोकी ओर ही उसका व्यान रहता है। जोड़ प्रारम्भ करनेसे पहले उसके मनमे यह वार्ण। इतनी है कि ‘ने अमुक व्यापारी हूँ एव अमुक कार्यके लिये जोड़ लग रहा हूँ’ और जोड़ लाना समान करने ही पुन उसमें उसी मात्रकी सुरक्षा हो जाती है कि ‘ने अमुक व्यापारी हूँ और अमुक कार्य कर रहा था।’ अतग्व जिस समयमें वह तछुरीनामूर्ति जोड़ लग रहा है, उस समय भी ‘ने अमुक व्यापारी हूँ और अमुक कार्य कर रहा हूँ’—इस भावकी प्रियमृति दीखते हुए भी वस्तुत ‘प्रियमृति’ नहीं मानी जाती।

भक्त ने इसका परिचय कहा है कि मैं भगवन् हूँ तू जैसे मत्तू को ये

यह प्रेरणा है कि मैं भगवन् हूँ तू जैसे मत्तू को ये

सामर्थ्योंका कामना कर रहा हूँ। तथा इस नवाने द्वारा दृष्टि में यह

एवम् ॥५॥ हाँ आगे पर्वतवन्ने दृष्टि द्वारा ला जा

‘एवम्’ पढ़से, लग उपरे भगवान् की निष्ठा दृष्टि द्वारा हुट में बहु

गया है ॥५॥ लग लाएगी ।

“म मगान् सुषुण्णु परमेश्वरं ।

ही “सततयुक्त” ॥६॥ ११०० भर्तु गतवन् श्रीद्वारकाे दर्शन प्राप्ति

भगवान् में आ ॥६॥ है, जिस मात्राने बनाहवे जन्मके

भगवत्प्राप्ति होता है ॥६॥ ११०१॥ परामे एव निष्ठान्वे और परमामे

जप-ध्यानादि अथवा ॥६॥ ११०२॥ चाहिने, जिन्हे भक्तोंने

सम्बन्धी) कियामे उ ॥६॥ ११०३॥ भगवान् समयसमयमा

रहता है ॥६॥ साधकसे यह ॥६॥ ११०४॥ कल्पानने भिन्न-भिन्न अवतारमें

कियाओंको करते समय ता ॥६॥ ११०५॥ एव द्विव्यगममें गिरान्नत

भक्ता, पद साधक भक्तोंका ॥६॥ ११०६॥ दृष्टियों ओर नामों

मत्तमृत-मत्तरमो

निर्व र सर्वकृतपु ॥

हे अर्जुन ! जो पुरुष ये र

करनेवाला है, मेर परायण है, मेरा भा

प्राणियाम है भावसे रहित है, वह अन

दोता है ॥

न भड़ी

व अन्ते

एवं कभी पतिके लिये रसोई बनाना आदि घरके कार्य करके सदा-सर्वदा पतिमी ही उपासना करती है, वेंसे ही साधक मत्त भी कभी भगवान्‌में तल्लीन होकर, कभी भगवान्‌का जप-स्मरण-चिन्तन करके, कभी सासारिक प्राणियोंको भगवान्‌का ही मानकर उनकी सेवा करके एवं कभी भगवान्‌की आज्ञा समझकर सासारिक कर्मोंको करके सदा-सर्वदा भगवान्‌की उपासनामें ही लगा रहता है। ऐसी उपासना ही भलीभौति भी गयी उपासना है। ऐसे उपासकके हृदयमें उत्पन्न और नष्ट होनेवाले पदार्थों और क्रियाओंका किञ्चिन्मात्र भी महत्व नहीं है।*

च—और ।

ये—जो ।

यहाँ 'ये' पद निर्गुण-निराकारकी उपासना करनेवाले सापकों-का वाचक है। अर्जुनने श्लोकके पूर्वार्द्धमें जिन श्रेणियोंके पुण्य साकारके उपासकोंके लिये 'ये' पदका प्रयोग किया है, उपा श्रेणियोंके

* 'पयुपासने' पद यहाँ अतिथेष्ठ भावसे उपासना करनेवाले साधकोंके सम्बन्धमें आया है। यही पद नवें अध्यायके गाईसर्वे श्लोक और इसी अध्यायके बीसर्वे श्लोकमें सगुण-माकार उपासनाके सम्बन्धमें आया है। इसी अध्यायके दूसरे श्लोकमें 'परया श्रद्धया उपासते' (श्रेष्ठ भावसे उपासना करते ह) साकार उपासकोंके लिये आया है। इसी अध्यायके तीसरे श्लोकमें 'पर्युपासते' पद निर्गुण-निराकारके उपासकोंके लिये आया है और पहले श्लोकके पूर्वार्द्धमें निर्गुण निराकारथे उपासकोंके लिये भी इसी पदका अध्याहार किया गया है। चौथे अध्यायके पचीसर्वे श्लोकमें भी देवराओंकी उपासनाके लिये 'पर्युपासते' पद प्रयुक्त हुआ है।

निर्गुण-निराकारके उपासकोंके लिये यहाँ 'ये' पदका प्रयोग मिया गया है।*

अक्षरम्—अविनाशी ।

'अक्षरम्' पद अविनाशी सञ्चिदानन्दवन परब्रह्मका वाचक है (इसमीं व्याख्या इसी अंशायके तीमरे श्लोकमें भी जायेगी) ।

अव्यक्तम्—निराकार (भी) ।

जो फिर्मी इन्द्रियका विषय नहीं है, उसे 'अव्यक्त' कहते हैं। यहाँ 'अव्यक्तम्' पदके साथ 'अक्षरम्' विशेषण दिया गया है। अन यह पद निर्गुण-निराकार ब्रह्मका वाचक है (इसमीं व्याख्या इसी अंशायके तीसरे श्लोकमें भी जायेगी) ।

अपि—ही (उपासना करते हैं) ।

'अपि' पदसे ऐसा भाव प्रतीन होता है कि यहाँ साकार उपासकोंकी तुलना उन्हीं निराकार उपासकोंसे की गयी है, जो केवल निराकार ब्रह्मको श्रेष्ठ मानकर उसकी उपासना करते हैं।

तेपाम्—उन (दोनो प्रकारके उपासकों) मे ।

यहाँ 'तेपाम्' पद मगुण और निर्गुण दोनो प्रकारके उपासकोंके लिये आया है। इसी अंशायके पाँचवें श्लोकमें 'तेपाम्' पद निर्गुण उपासकोंके लिये आया है, जब कि सातवें श्लोकमें 'तेपाम्' पद सगुण उपासकोंके लिये आया है।

'योगवित्तमा के'—अनि उत्तम योगजेता कौन-से हैं :

* इसी अंशायके तीसरे और चौथे श्लोकमें 'ये' और 'न्ति' पद एवं पाँचवें श्लोकमें 'तेपाम्' पद निर्गुण निराकारपे उपासकोंके लिये आये हैं।

इन पश्चेसे अर्जुनका अभिप्राय यह है कि इन दो प्रकारके उपासकोंमें कौन-से उपासक श्रेष्ठ है ।

माकार और निराकारके उपासकोंमें श्रेष्ठ कौन है—अर्जुनके इस प्रदर्शके उत्तरमें भगवान्‌ने जो प्रकावय दिया है, उसपर गम्भीरता-पूर्वक विचार करनेसे अर्जुनके प्रदर्शकी मुहुत्तापर पिशेष प्रकाश पड़ता है ।

इस अध्यायके दूसरे श्लोकमें चौदहवें अध्यायके बीसवें श्लोकतक भगवान् अपिराम बोलते ही चले गय हैं । निहत्तर श्लोकोंका इतना लब्धा प्रकरण गीतामें एकमात्र यही है । इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि भगवान् इस प्रकरणमें ऊर्ड अ-यन्त महत्त्वरूप वात समझाना चाहते हैं । सामकोको साकार-निराकार स्वरूपमें एकताका बोध हो, उनके हृदयमें इन दोनों स्वरूपोंको प्राप्त करनेवाले साधनोंका साझेपाज्ज रहस्य प्रकट हो, ज्ञानियो (गीता १४ । २२-२५) और भक्तो (गीता १२ । १३-१९) के आदर्द्द लक्षणोंसे वे परिचित हों और ससारसे सम्बन्ध-पिछ्लेदकी सर्वोन्कृष्टता भलीभौति उनकी समझमें आ जाय—इन्हीं उद्देश्योंको सिद्ध करनेमें भगवान्‌की विशेष रचि प्रतीत होती है ।

इन्हीं उद्देश्योंकी पूर्तिके लिये भगवान्‌ने इसी अध्यायके चौथे श्लोकमें निराकार उपासकोंको 'माम्' पदसे अपनी (साकारकी) प्राप्ति बतलाकर साकार और निराकार-स्वरूपकी तात्प्रिक एकता प्रकट की । आठवें श्लोकसे ग्यारहवें श्लोकतक क्रमशः समर्पणयोग, अभ्यास-योग, भगवदर्द्य कर्म तथा सर्वरूपफलन्यागरूप सामन बतलाकर वारहवें

श्लोकमें अन्याससे ज्ञानकी, ज्ञानसे ध्यानकी और ध्यानसे रूपफल-त्यागकी श्रेष्ठता बतलायी एव त्याग (ससारसे सम्बन्ध-पिछेद) से तत्काल शान्तिकी प्राप्तिका वर्णन किया । जब साधकका एकमात्र ध्येय भगवद्यासि ही हो और भगवान्‌पर उसका अटूट पिश्चास ही तभी उसके हृदयमें वास्तविक त्यागका भाव जाप्रत् होता है ।

तेरहवेंसे उन्नीसवें श्लोकतक भगवान्‌ने अपने प्रिय सिद्ध भक्तोंको उन्तालीस लक्षण बतलाये और वीसवें श्लोकमें उन आदग लक्षणोंको 'धर्मामृत'की सज्जा देते हुए यह बतलाया कि जो शङ्खाष साधक भक्त मेरे परायण होकर इन लक्षणोंको अपनानेकी चेष्टा करते हैं, वे मुझे अत्यन्त प्रिय हैं ।

इस प्रकार इस बारहवें अध्यायमें सगुण-साकार उपासकोंकी श्रेष्ठता, भगवद्यासिके अनेक साधन तथा भक्तियोगके द्वारा भगवान्‌को प्राप्त हुए पुरुषोंके लक्षणोंका विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया, किंतु अव्यक्त, अक्षर, निर्गुणकी उपासनाका विशेष वर्णन नहीं हुआ । अत उसीका विस्तारपूर्वक वर्णन करनेके लिये पूरा तेरहवाँ अध्याय तथा चौदहवें अध्यायके वीसवें श्लोकतक कुल चौबन श्लोक रहे गये । तेरहवें अध्यायमें क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ एव प्रकृति-पुरुषका विवेचन करते हुए पहले श्लोकमें क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके लक्षणोंका, आगे क्षेत्रके स्वरूप एव उनके निकारोंका तथा सातवेंसे ग्यारहवें श्लोकतक ज्ञानके वीम साधनोंका वर्णन किया गया । ज्येतत्त्वका वर्णन करते हुए चौदहवें श्लोकमें 'निर्गुण गुणभोक्तु च' पदोंसे सगुण-निर्गुणकी तात्त्विक एकता बतलाकर सोलहवें श्लोकमें 'भूतभर्तु च तज्ज्ञेय ग्रनिष्ठु ग्रभचिष्णु च' पदोंसे

उसी निर्गुण-सत्त्वका ब्रह्मा, विष्णु और महेशके रूपसे वर्णन किया गया । उन्नीसवें-बीसवें इलोकमें प्रकृति-पुरुषके स्वरूपका विवेचन किया गया । तत्पश्चात् इवयीसवें इलोकमें प्रवृत्तिजन्य गुणोंके सङ्गको ऊँच -नीच योनियोंमें जन्मवा आण बतलाया गया । प्रकृतिजन्य गुण कौन-से हैं और उनसे मुक्ति वैसे होती है ? इसका प्रस्तृत विवेचन चौदहवें अध्यायमें किया गया ।

यहाँतक भगवान्के द्वारा दिया जानेगाला उत्तर पूरा हो गया । चौदहवें अध्यायके इक्षीसवें इलोकमें अर्जुनने भगवान्के सामने गुणातीत-विषयक तीन प्रश्न रख दिये—(१) गुणातीतके लक्षण क्या हैं, (२) उसका आचरण कैसा होता है और (३) गुणातीत होनेके उपाय कौन-से हैं । इन प्रश्नोंके उत्तरमें भगवान्‌ने वाईसवें-तेईसवें इलोकोंमें गुणातीतके लक्षण बतलाकर चौबीसवें-पचीसवें इलोकोंमें उसके आचरणका वर्णन किया । फिर छब्बीसवें इलोकमें अव्यभिचारिणी भक्तियोगको गुणातीत होनेका उपाय बतलाया । तत्पश्चात् सत्ताईसवें इलोकमें अपनेको ब्रह्म, अमृत, शाश्वतधर्म तथा एवन्तसुखकी प्रतिष्ठा (आश्रय) बतलाकर सगुण और निर्गुण-स्वरूपकी एकता बतायी ।

तेहवें अध्यायमें भक्तियोगसे युक्त अन्यान्य साधनोंका वर्णन घरके तथा चौदहवें अध्यायमें वेवल अव्यभिचारिणी भक्तिसे तीनों गुणोंका अतिक्रमण सम्भव बतलाकर भगवान्‌ने भक्तियोगकी सर्वश्रेष्ठताका सुस्पष्ट प्रतिपादन किया ।

पद्महवें अध्यायमें (१) भजनीय—परमात्मा, (२) भक्त—जीवका स्वरूप तथा (३) व्यभिचार—ससारका त्याग—इन तीन

विषयोका विवेचन करके भगवान्‌ने अपनेको क्षरसे अतीत और अक्षरसे भी उत्तम 'पुरुषोत्तम' बतलाया। भगवान्‌का भजन करनेवाले और उनके पिपरीत चलनेवाले लोग कौन हैं—यह बतलानेके लिये सोलहवें अध्यायका प्रारम्भ हुआ। इसमें भगवान्‌ने फलमहित दैवी और आसुरी सम्पत्तिका वर्णन करते हुए आसुरी सम्पत्तियुक्त मनुष्योंके लक्षण एव उनकी अगेगतिका विस्तारपूर्वक वर्णन किया और अन्तमें आसुरी सम्पत्तिके मूलभूत जाम, क्रोध और लोभको नरकसे द्वारा बतलाकर उनका त्याग करनेकी प्रेरणा की। सोलहवें अध्यायके तेईसवें श्लोकमें शास्त्रविधिको त्यागकर मनमाना आचरण करनेवालेको सिद्धि एव परमगति तथा सुखकी प्राप्तिका निष्पत्र किया और चौबीसवें श्लोकमें कल्याणार्थ शास्त्रानुकूल आचरण करनेकी प्रेरणा की।

इतना सुनकर अर्जुनके मनमें यह जिज्ञासा हुई कि जो लोग शाखोंमें श्रद्धा तो रखते हैं, किंतु शास्त्रविधिकी अनभिज्ञताके कारण उसका उलझन कर बैठते हैं, उनकी क्या निष्ठा है। इस विषयमें अर्जुनके प्रश्न करनेपर उसके उत्तरमें भगवान्‌ने सत्रहवाँ अध्याय कहा। इसमें भगवान्‌ने अन्त करणके अनुरूप प्रिविध श्रद्धाका विवेचन करते हुए श्रद्धाके अनुरूप ही निष्ठामा होना बतलाया। श्रद्धेय वस्तुके अनुसार तीन प्रकारके पूजकोंकी निष्ठाका निर्णय करके निष्ठामान्की परीक्षाके लिये प्रिविध स्वाभाविक आहार तथा स्वभावके ही अनुसार प्रिय यज्ञ, तप और दान-प्रियक अभिरुचिका वर्णन किया। इस वर्णनका उद्देश्य यह भी है कि सामन सात्त्विक आहार आदिका ग्रहण तथा राजस एव तामसका परिव्याग करें। अन्तमें सत्कर्ममें सम्भानित अङ्ग-वैग्राण्य (अनुष्टुप्में श्रद्धि अथवा कमी) की

पूर्ति के लिये भगवान् ने सचिदानन्दधन ब्रह्म के 'ॐ', 'तत्' और 'सत्'—ये तीन नाम बतलाये और अद्वाईसर्वे श्लोकमें अश्रद्धापूर्वक किये गये समस्त कर्मों को 'असत्' कहकर अध्यायका उपसहार किया।

यद्यपि भगवान् ने अर्जुन के मूल प्रश्नका उत्तर चौदहवें अध्याय के बीसवें श्लोकतक दे दिया था, तथापि उत्तरमें कहे गये विषयको लेकर अर्जुन ने जो अगान्तर प्रश्न किये, उनके उत्तरमें यहाँ (सग्रहवें अध्याय) तत्का प्रकरण चला। इसके आगे का प्रकरण (अद्वारहवाँ अध्याय) तीसरे अध्याय के तीसरे श्लोकमें बतलायी गयी दो निष्ठाओं के विषयमें अर्जुन के प्रश्नको लेकर चला है।

उपर्युक्त विवेचन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि भगवान् के हृदयमें जीवों के लिये परम कन्याणकारी, अयन्त गोपनीय और उत्तमोत्तम भाव थे, उन्हें व्यक्त करवाने का श्रेय अर्जुन के इस भगवत्प्रेरित प्रश्नको ही है ॥ १ ॥

सम्बन्ध—

अर्जुन के सगुण और निर्गुण उपासकों की श्रेष्ठता-विषयक प्रश्न के उत्तरमें भगवान् निर्णय देते हैं ।

श्लोक—

श्रीभगवान् उवाच

मव्यावेदय मनो ये मा नित्ययुक्ता उपासते ।

श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्तमा मता ॥ २ ॥

भावार्थ—

श्रीभगवान् कहते हैं कि मुझमें ही प्रियता होनेके कारण जो साधक मुझमें मनको तन्मय करके परम श्रद्धापूर्वक नित्य-निरन्तर मेरे

सगुण-साकार स्वरूपकी ही उपासना करते हैं, वे मुझे न केवल निर्गुण-निराकारके उपासकोंकी अपेक्षा अपितु सम्पूर्ण योगियोंसे (अर्थात् मेरी प्राप्तिके त्रिये भिन्न-भिन्न साधनोंका अवश्यन लेनेवाले हठयोगी, राजयोगी, लययोगी आदि योगियोंकी अपेक्षा) भी अयुत्तम योगी मान्य हैं । वे पूर्णरूपसे मुझपर ही निर्भर रहते हैं । इसलिये मैं उनके साधनकी रक्षा करता हूँ और उन्हें अपनी प्राप्ति कराता हूँ *।

भगवान्‌ने ठीक यही निर्णय अर्जुनके पूछे चिना ही छठे अध्यायके सैतालीसर्वे श्लोकमें दे दिया था †। परतु उस प्रियमें अपना प्रश्न न होनेके कारण अर्जुन उस निर्णयसे पकड़ नहीं पाये । कारण कि स्वयका प्रश्न न होनेसे सुनी हुई बात भी प्राय लक्ष्यमें नहीं आती । इसलिये उन्होंने इस अध्यायके पहले श्लोकमें ऐसा प्रश्न किया ।

इसी प्रकार अपने मनमें किसी विनयसे जाननेकी पूर्ण अभिन्नता और उत्कण्ठाके अभावमें तथा अपना प्रश्न न होनेके कारण सत्सङ्गमें

* अनन्याश्चित्यन्तो मा ये जना पर्युपासते ।

तेषा नित्याभियुक्ताना योगक्षेम वहाम्यदम् ॥ (गीता ९ । २२)

जो अनन्यप्रेमी भक्तजन मुझ परमेश्वरको चिन्तन करते हुए निष्कामभावसे भजते हैं, उन निरत्तर मेरा चित्तन करनेवाले पुरुषोंका योगक्षेम में स्वय प्राप्त कर देता हूँ ।

† योगिनामपि सर्वेषा मद्वतेनान्तरामना ।

अद्वावाभजते यो मा स मे युक्ततमो मत ॥ (गीता ६ । ४७)

सम्पूर्ण योगियोंमें भी जो अद्वावान् योगी मुझमें -ओ हुए अन्तरात्माने मुझे निरन्तर भजता है, वह योगी मुझे परमश्रेष्ठ मान्य है ।

सुनी हुई और शास्त्रमें पढ़ो हुई सापन-सम्बन्धी मार्मिक और महत्वपूर्ण वार्ता प्राय साधकोंके लक्ष्यमें नहीं आती। यदि वही वात उनके प्रश्न करनेपर समझायी जाती है, तो वे उसे अपने लिये विशेषरूपसे कही गयी मानकर श्रद्धापूर्वक ग्रहण कर लेने हैं। साधारणत सुनी और पढ़ी हुई वातोंको अपने लिये न समझार उसकी उपेक्षा कर देते हैं, जब कि उनमें उस बातके सम्बन्धात्मक सामान्यतया रहते ही हैं, जो विशेष डाक्टर्टा होनेसे जाप्रत् भी हो सकते हैं। अत साधकोंको चाहिए कि वे जो पढ़ें और सुनें, उसे अपने लिये ही मानकर जीवनमें उतारनेकी शिक्षा इस प्रश्नोत्तरसे ग्रहण करें।

अबय—

मथि, मन, आवेश्य, नित्ययुक्ता, ये, परया, श्रद्धया, उपेता,,
माम्, उपासते, ते, मे, नुक्तमा, मता ॥ २ ॥

पद-व्याख्या—

मथि मन आवेश्य—मेरे सगुण-साकार रूपमें मनको छाकर।

मन वहीं लगेगा, जहाँ प्रेम होगा। जिसमें प्रेम होता है,
उसीका चिन्तन स्वत होता है।*

“चौथे अध्यायके दसरें इलोकमें ‘मनमया’, पदसे छठे अध्यायके चौदहवें इलोकमें तथा अठारहवें अध्यायके सत्तावनरें और अठावनवें इलोकमें ‘भवित्त’, पदसे, सातरें अध्यायके पहले इलोकमें भव्यासकमना, पदसे, आठवें अध्यायके सातरें इलोकमें तथा इसी अध्यायके चौदहवें इलोकमें ‘भव्यर्पितमनोयुद्धि’, पदसे, नरें अध्यायके चातीसरें इलोकमें तथा अठारहवें अध्यायके चैसठरें इलोकमें ‘मनमना भर’ पदसे, दसरें अध्यायके नरें इलोकमें ‘भवित्ता’ पदसे और इमी अध्यायके आठवें इलोकमें ‘भव्येव मन आधत्स्व’ पदोंसे भगवान्‌में मन ल्यानेके लिये ही कहा गया है अथवा ये पद उन साधकोंके लिये आये हैं, जिनका मन भगवान्‌में ल्या हुआ है।

नत्ययुक्ता —निरन्तर मेरे भजनमें लगे हुए ।

श्रद्धा-प्रेमपूर्वक निरन्तर भजन तभी होगा, जब सामर्क सब भगवान्में लगेगा । स्थय लगना यही है कि साधक अपने-आपमें एकमात्र भगवान्का ही समझे । नवे अव्यायके तीमें श्लोकमें ‘अनन्यभाक् भजते’ (अन्यको नहीं भजता) पदोंका अभिप्राय भी स्थयका यह निश्चय है कि मैं अन्यका नहीं, केवल भगवान्म ही हूँ ।

“भगवान् ही मेरे हैं और मैं भगवान्का ही हूँ”, यही स्थयका भगवान्में लगना है । स्थयका दृढ़ उद्देश्य भगवत्प्राप्ति होनेपर भी मन-बुद्धि सत और पूरी तरह भगवान्में लगते हैं । इसके निपरीत स्थयका उद्देश्य भगवत्प्राप्ति न हो तो मन-बुद्धिको भगवान्में ल्यानेका यत्न करनेपर भी वे पूरी तरह भगवान्में नहीं लगते । परतु जब स्थय ही अपने-आपको भगवान्का मान ले, तब तो मन-बुद्धि भगवान्में तल्जीन हो ही जाते हैं । स्थय कर्ता है ओर मन-बुद्धि करण हैं । करण करनेके आश्रित रहते हैं । जब कर्ता भगवान्का हो गया, तब मन-बुद्धिरूप करण सत भगवान्में ही लगते हैं । भगवान्के प्रति आमीयताका माव भगवान्में सहज स्नेह उत्पन्न कराके प्रेमीको भगवान्से अभिन्न कर देता है ।

साधकसे भूल यह होनी है कि वह स्थय भगवान्में न लगत अपने मन-बुद्धिको भगवान्में लगानेका अन्यास करता है । स्थय भगवान्में छो बिना मन-बुद्धिको भगवान्में ल्याना कठिन है । इसीलिये साधकोंकी यह व्यापक शिक्षायत रहती है कि मन-बुद्धि भगवान्में

नहीं लगते । मन-बुद्धि एकाप्र होनेसे सिद्धि (समाधि आदि) तो हो सकती है, पर कल्याण स्वयके भगवान्‌में लगनेसे ही होगा । *

ये—जो ।

यहाँ 'ये' पद सगुण-उपासकोंके लिये आया है । प्रश्नके पूर्णार्द्धमें जो 'ये' पद आया है, उसीके उत्तरमें यहाँ 'ये' पद दिया गया है ।

परम्या श्रद्धया उपेता —श्रेष्ठ श्रद्धासे युक्त ।

सावरकी श्रद्धा वही होगी, जिसे वह सर्वश्रेष्ठ समझेगा । श्रद्धा होने अर्थात् बुद्धि लगनेपर वह अपने द्वारा निश्चित किये हुए मिद्दान्तके अनुसार स्वाभाविक जीवन बनायेगा और अपने सिद्धान्तमें कभी विचलित नहीं होगा ।

जहाँ प्रेम होता है, वहाँ मन लगता है और जहाँ श्रद्धा होती है, वहाँ बुद्धि लगती है । प्रेममें प्रेमास्पदके सङ्गकी तथा श्रद्धामें आज्ञापात्रनकी मुख्यता रहती है ।

माम् उपासते—मेरे सगुणरूपकी उपासना करते हैं ।

उपासनाका तात्पर्य है—स्वय (अपने-आप) को भगवान्‌के अर्पण करना कि मैं भगवान्‌का ही हूँ और भगवान्‌ ही मेरे हैं ।

* सातवें अध्यायके सातवें श्लोकमें 'नित्ययुक्त', पद सिद्ध भक्तका चाचक है । आठवें अध्यायके चौदहवें श्लोकमें 'नित्ययुक्तस्य' पद और नवें अध्यायके चौदहवें श्लोकमें 'नित्ययुक्ता', पद साधक भक्तोंके चाचक हैं । सातवें अध्यायके तीसवें श्लोकमें 'युक्तचेतस', पद भी साधक भक्तोंके लिये आया है ।

खयको भगवदर्पण करनेसे नाम-जप, चिन्तन, ध्यान, सोग, पूजा आदि तथा शाखविहित कियामात्र स्वतं भगवान्‌के लिये ही होती है।

शरीर प्रकृतिका और जीव परमात्माका अश है। प्रकृतिके कार्य शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और अहसे तादात्म्य, ममता वेर कामना न करके केवल भगवान्‌को ही अपना माननेवाला यह कह सकता है कि मैं भगवान्‌का हूँ, भगवान्‌ मेरे हैं। ऐसा कहने या माननेवाला भगवान्‌से कोई नया सम्बन्ध नहीं जोड़ता। चेतन और नित्य होनेके कारण जीवका भगवान्‌से स्वतं मिद् नित्य सम्बन्ध है। किंतु उस नित्यसिद्ध वास्तविक सम्बन्धको भूलकर जीवने अपना सम्बन्ध प्रकृति एव उनके कार्य शरीरसे मान लिया जो अवास्तविक है। अत जननक प्रकृतिसे माना हुआ सम्बन्ध है, तभातक भगवान्‌से अपना सम्बन्ध माननेकी आपश्यकता है। प्रकृतिसे माने हुए सम्बन्धके दृष्टे ही भगवान्‌से अपना वास्तविक और नित्यसिद्ध सम्बन्ध प्रकट हो जाता है, उसकी स्मृति ग्राम हो जानी है—‘नष्टो मोह स्मृतिर्लब्धा’ (गीता १८ । ७३) ।

जड़ता (प्रकृति) के समुख होनेके कारण अर्थात् उसमे सुख भोग करते रहनेके कारण जीव शरीरसे ‘मैं’पनका सम्बन्ध जोड़ लेता है अर्थात् ‘मैं’ शरीर हूँ। ऐसा मान लेना है। इस प्रकार शरीरसे माने हुए सम्बन्धके कारण नह वर्ण, आश्रम, जाति, नाम, व्यवसाय तथा नान्यादि अवस्थाओंको गिना याद किये भी (न्यायाविक-रूपसे) अपनी ही मानता रहता है अर्थात् अपनेको उनसे अलग नहीं मानता।

जीवसी पिजातीय प्रकृति और प्रकृतिके कार्य ससारके साथ (भूलसे भी हुई) सम्बन्धकी मान्यता भी इतनी दृढ़ रहती है कि मिना याद किये सदा याद रहती है। यदि वह अपने सजातीय (चेतन और नित्य) परमात्माके साथ अपने वास्तविक सम्बन्धको पहचान ले, तो किसी भी अवस्थामें परमात्माको नहीं भूल सकता। फिर उठते-बैठते, खाते-पीते, सोते-जागते हर समय प्रत्येक अवस्थामें भगवान्‌का स्मरण-चिन्तन सत होने लगता है।

जिस साधकका उद्देश्य सासारिक भोगोंका सम्राह और उनसे सुख लेना नहीं है अपितु एकमात्र परमात्माको प्राप्त करना ही है, उसके द्वारा भगवान्‌से अपने सम्बन्धकी पहचान प्राप्त हो गया—ऐसा मान ही लेना चाहिये। इस सम्बन्धकी पूर्ण पहचानके बाद साधकमें नन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, शरीर आदिके द्वारा सासारिक भोग और उनका सम्राह करनेकी इच्छा विन्युक्त नहीं रहती।

वास्तवमें एकमात्र भगवान्‌का होते हुए भी जीव जितने अशमें प्रकृतिसे सुख-भोग प्राप्त करना चाहता है, उतने ही अशमें उसने इस भगवत्सम्बन्धको दृढ़तापूर्वक नहीं पकड़ा है। उतने अशमें उसका प्रकृतिके साथ ही सम्बन्ध है। इसलिये साधकको चाहिये कि वह प्रकृतिसे निमुख होकर अपने-आपको केवल भगवान्‌का ही माने, भन्नीभाँति उन्हींके सम्मुख हो जाय।*

* नवें अध्यायके चौदहवें श्लोकम और इसी अध्यायके छठे श्लोकमें ‘उपासते’ पद सरुण भगवान्‌की उपासनाके लिये, नवें अध्यायके पदहवें श्लोकमें ‘उपासते’ पद निर्गुण ब्रह्मकी उपासनाके लिये और तेरहवें अध्यायके पचासवें श्लोकमें ‘उपासते’ पद गुरुजनों और महापुरुषोंके आशानुसार उपासना करनेके लिये आया है।

ते मे युक्तमा मता —ते मुझे अयुक्तम् योगी मान्य है। एकमात्र भगवान्‌में प्रेम होनेमें भक्तका भगवान्‌के साथ जिस निरन्तर सम्बन्ध रहता है, कभी प्रियोग होता ही नहीं। इसीलिये भगवान्‌के मतमें ऐसे भक्त ही वास्तवमें उत्तम प्रोगवेता हैं।

यहाँ 'ते मे युक्तमा मता' चहुच्चनान्त पदसे जो वात कही गयी है, उही वात उठे अध्यायके सेंनालीसमें श्लोकमें 'स मे युक्तमो मत' एकच्चनान्त पदसे कही जा चुकी है * ॥ २ ॥

सम्बन्ध—

पिठ्ठे श्लोकमें भगवान्‌ने सगुण-उपासनोंके सर्वोत्तम योगी बतलाया। इसपर यह प्रश्न हो सकता है कि क्या निर्गुण उपासन सर्वोत्तम योगी नहीं है? इसके स्पष्टोक्तरणमें श्रीभगवान् रहते हैं—

श्लोक—

ये त्वक्षरमनिदेश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्य च कृटस्यमचलं ध्रुवम् ॥ ३ ॥

* ग्यारहवें अध्यायके चौबनवें श्लोकमें भगवान् फट चुके हैं कि अनन्य भक्तिये द्वारा साधक मुझे प्रत्यक्ष देख सकता है, तत्परे जान सकता है और मुझे प्राप्त हो सकता है, परन्तु अठारहवें अध्यायके पचमवें श्लोकमें भगवान्‌ने निर्गुण उपासनोंके लिये अपनेमो तत्परे जानने और प्राप्त करनेवी ही जात कही है, दर्शा देनेवी जाननहीं कही। इसमें यह स्पष्ट हो जाता है कि सगुण-उपासनोंको भगवान्‌के दरायण रहोमान साधक ही होते हैं। यह उनकी पिण्डेता?

भगवान्‌ने उठे अध्यायए मंतालीसरें श्लोकमें अपने सगुणस्पर्में अदा प्रेम रखनेवाले साधकका गम्यूण योगियमिं श्रेष्ठ जनन्या। तात्पर्य मह है कि भगवान्‌से अपना मास्र उनके दरायण रहोमान साधक ही विरोप प्रिय है।

सनियम्येन्द्रियग्राम सर्वत्र समवुद्धय ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रता ॥ ४ ॥

भावार्थ—

इन श्लोकोंमें भगवान्‌ने निर्गुण-उपासकोंके लिये चार बातें बतलायी हैं—(१) निर्गुण-तत्त्वका स्वरूप क्या है, (२) सामरकी स्थिति क्या है, (३) उपासनाका स्वरूप क्या है और (४) साधक क्या प्राप्त नरता है ।

(१) अर्जुनने इसी अध्यायके पहले श्लोकके उत्तरार्द्धमें जिस निर्गुण-तत्त्वके लिये ‘अक्षरम्’ और ‘अव्यक्तम्’ दो प्रिशेषण प्रयुक्त करके प्रश्न किया था, उसी तत्त्वका प्रिस्तारसे वर्णन करनेके लिये भगवान्‌ने छ और प्रिशेषण अर्थात् कुल आठ प्रिशेषण दिये, जिनमें पाँच निषेपात्मक (अक्षरम्, अनिर्देश्यम्, अव्यक्तम्, अचिन्त्यम् और अचलम्) तथा तीन प्रिव्यात्मक (सर्वत्रागम्, कृटस्थम् और धूमम्) प्रिशेषण हैं ।

निर्गुण तत्त्वका कभी ‘क्षरण’ अर्थात् ‘नाश नहीं होता, इसलिये यह ‘अक्षर’ है । उसका किसी प्रकारसे निर्देश भी नहीं किया जा सकता, वर्णन तो दूर रहा । इसलिये वह ‘अनिर्देश्य’ है । किसी भी इन्द्रियका विषय न होने अर्थात् निराकार होनेसे उसे ‘अव्यक्त’ कहते हैं । मन-बुद्धिके द्वारा पकड़में न आनेके कारण वह ‘अचिन्त्य’ है । हिलने-डोलनेकी कियासे रहित होनेके कारण वह ‘अचल’ है । सभी देश, काल, वस्तु आदिमें परिपूर्ण होनेसे वह ‘सर्वत्राग’ है । सबमें परिपूर्ण होते हुए भी नित्य-निरन्तर निर्विकार

रहनेके कारण वह 'कूटस्थ' है और उसकी निधित ओर निः
सत्ता होनेके कारण वह 'ध्रुव' है ।

(२) सब देश, काल, वस्तु और व्यक्तियोंमें परिषूर्ण तत्त्वर
दृष्टि रहनेसे निर्गुण-उपासकोंकी सर्वत्र समबुद्धि होती है । देहभिमान
और भोगोंकी पृथक् सत्ता माननेके कारण ही भोग भोगनेकी इच्छा
होती है और भोग भोगे जाते हैं । परतु इन निर्गुण-उपासकोंकी
दृष्टिमें एक परमामाके अतिरिक्त अन्य किमी वस्तुकी पृथक् (सतत्र)
सत्ता न होनेके कारण उनकी बुद्धिमें भोगोंका महत्त्व नहीं रहता ।
अत वे सुगमतापूर्वक इन्द्रियोंका सयम फर लेते हैं । सावक सर्वत्र
समबुद्धिवाला होनेके कारण उसकी सब प्रागियोंके हितमें रति
रहती है । इसलिये वे 'सर्वभूतहिते रता' हैं ।

(३) साधकका सब समय उस निर्गुणतत्त्वकी ओर दृष्टि
खेना (तत्त्वके सम्मुख रहना) ही 'उपासना' है ।

(४) मगान् कहते हैं कि ऐसे साधकोंको जो निर्गुणज्ञ
प्राप्त होता है, वह मैं ही हूँ । तात्पर्य यह है कि सगुण ओर निर्गुण
एक ही तत्त्व है ।

अन्वय—

ए, ये, इन्द्रियग्रामम्, मनियम्य, अचिन्त्यम्, सर्वग्राम्,
अनिर्देश्यम्, च, कूटस्थम्, अचलम्, ध्रुवम्, अशरम्, अन्यकम्,
पर्युपास्ते, ते, सर्वगतहितेरता, सर्वत्र, समबुद्धयः, भाम्, एव
प्राप्नुयन्ति ॥ ३ ४ ॥

पद-व्याख्या—

तु—और

‘तु’ पद यहाँ साकार-उपासकोंसे निराकार-उपासकोंकी भिन्नता दिखलानेके लिये आया है। इसी अर्थात् के बीसवें श्लोकमें भी ‘तु’ पद सिद्ध भक्तोंके प्रकरणसे साधक भक्तोंके प्रकरणको पृथक् करनेके लिये आया है।

ये—जो।

यहाँ तीसरे श्लोकमें ‘ये’ एव चौथे श्लोकमें ‘ते’ पद निर्गुण-ब्रह्मके उपासकोंके वाचक हैं।

इन्द्रियग्रामम् सनियम्य—इन्द्रिय-समुदायको अच्छी प्रकारसे वशमें करके।

‘सम्’ और ‘नि’—दो उपसर्गोंसे युक्त ‘सनियम्य’ पद देखर भगवान्‌ने यह वनलाया है कि सभी इन्द्रियोंको सम्यक् प्रकारसे एव पूर्णत वशमें करे, जिससे वे किसी अन्य प्रियमें न जायें। इन्द्रियों अच्छी प्रकारसे पूर्णत वशमें न होनेपर निर्गुण-तत्त्वकी उपासना कठिन हीनी है। सगुण-उपासनामें तो ध्यानका प्रिय सगुण भगवान् होनेसे इन्द्रियों भगवान्‌में ला सकती हैं, क्योंकि भगवान्‌के सगुण सरूपमें इन्द्रियोंको अपने विषय प्राप्त हो जाते हैं। अनेव सगुण-उपासनामें इन्द्रिय-सम्यमकी आपश्यकता होते हुए भी उसकी उतनी अधिक आपश्यकता नहीं है, जितनी निर्गुण-उपासनामें है। निर्गुण-उपासनामें चिन्तनका कोई आधार न रहनेसे इन्द्रियोंका सम्यक् सम्यम हुए बिना (आसक्ति रहनेपर) विषयोंमें मन जा सकता है और विषयोंका चिन्तन होनेसे पतन होनेकी अधिक सम्भावन

रहती हे । अन निर्गुणोपासकके लिये सभी इन्द्रियोंको मिथ्यामें
हठाते हुए सम्यक् प्रकारसे पूर्णत यथामें करना आवश्यक हे ।
इन्द्रियोंको केवल ब्राह्मणसे ही धरणमें नहीं करना हे, अपितु मिथ्योंके
प्रति साधकके अन्न करणमें भी राग नहीं रहना चाहिये, क्योंकि
ब्रह्मतक मिथ्योंमें राग हे, तत्त्वक ब्रह्मको प्राप्ति कठिन हे ।

“ध्यायतो विषयान्पुस सङ्घस्तेषुपज्ञायते ।
सङ्घात्सज्जायते काम कामाक्षोधोऽभिजायते ॥
कोधाद्वति सम्मोह सम्मोहात्समृतिगिध्रम ।
स्मृतिभ्रशाद्वुद्दिनाशो बुद्दिनाशात्प्रणश्यति ॥

(गीता २ । ६२ ६३)

‘विषयोंका चित्तन करनेराले पुरुषकी उन विषयोंमें आकर्षि हो जाती
हे, आकर्षिसे उन विषयोंसी कामना उत्पन्न होती ह और कामनामें विष्व पड़नेरे
कोध उत्पन्न होता ह । कोधसे अन्यात मूढभाव उत्पन्न होता है, मूढभावसे स्मृति
में भ्रम हो जाता है, स्मृतिमें भ्रम हो जानसे बुद्धि अधात् ज्ञानशक्तिका नाश हो
जाता है और उद्दिका नाश हा जानसे यह पुरुष अपनी स्थितिसे गिर जाता ह ।

अस्यतात्मना योगो दुष्पाप इति मे मति ।
पश्यत्यना तु यतना शक्योऽग्रास्तुमुपायत ॥

(गीता ६ । ३६)

‘जिसका मन वशमें किया हुआ नहीं है, ऐसे पुरुषद्वारा योग
दुष्पाप है और वगमें किये हुए मनवाले प्रयत्नशील पुरुषद्वारा गाधनरो
उसका प्राप्त होना सहज ह—यह मेरा मत ह ।

यत्तो योगिनश्चेन पश्यत्यात्मायवस्थितम् ।

यतन्तोऽप्यशृतात्मानो नैर पश्यत्यचतन ॥ (१५११)

‘अन फरनेयाले योगोजन भी अन छृदयमें न्मित इस वात्माको
रखने जलते ह, किन्तु जि हान अन अन करणसी शुद्ध नहीं किया है
ऐसे अशर्णीजन, तो यन एवे एवोपर भय हा गत्वा वात्मा ॥

गीतामें इन्द्रियोंसे प्रश्नमें करनेकी बात प्रश्नोरुपसे जितनी निर्गुणोपासना तथा कर्मयोगमें आयी है, उतनी सगुणोपासनामें नहीं।*

* दूसरे अध्यायमें अङ्गठरें श्लोकमें ‘इन्द्रियाणीन्द्रियार्थम्’ , पदसे, चौथे अध्यायमें इक्षीतरें श्लोकमें ‘यतचित्तात्मा’ पदसे, पाँचमें अध्यायके सातरें श्लोकमें ‘विनितात्मा जिनेन्द्रिय’ , पदोंसे, छठे अध्यायके सातरें श्लोकमें ‘जितात्मन’ , पदमें और आठवें श्लोकमें ‘विनितेन्द्रिय’ , पदसे सिद्ध महापुरुषाद्वारा अब्दी प्रकारसे जीती हुई इन्द्रियोंका वर्णन हुआ है ।

यहाँ यह बात समझ लेनी चाहिये कि गीतामें ‘आमा’ पद शरीरके लिये, मन-बुद्धिके लिये और मन बुद्धि-इन्द्रियोंसहित शरीरके लिये भी प्रयुक्त हुआ है । अत जहाँ आत्माको वशमें करनेकी बात आती है, वहाँ उसमा अर्थ प्रसङ्गानुसार ही ग्रहण करना चाहिये ।

गीताम् इन्द्रियाको वशमें करनेके लिये जिन स्थलोपर प्रेरणा की गयी है, वे इस प्रकार—“दूसरे अध्यायके इन्सठवे श्लोकमें ‘मर्माणि सयम्य’ , पदोंसे और चासठरें श्लोकम् ‘रागदेववियुक्तै इन्द्रियै’ , पदोंसे तीसरे अध्यायके सातरें श्लोकम् ‘मनसा इन्द्रियाणि नियम्य’ , पदोंसे, चौथे अध्यायमें उच्चीसरें श्लोकम् ‘श्रोत्रादोनीन्द्रियाण्येऽसयमाग्निपु’ , पदोंसे और सत्ताडमरें श्लोकम् ‘सवाणीन्द्रियकर्माणि आत्मसयमयोगान्नो’ , पदोंसे तथा उनतालीमरें श्लोकमें ‘सयतेन्द्रिय’ , पदसे, पाँचवें अध्यायमें अष्टाइसरें श्लोकमें ‘स्थतेन्द्रियमनोभुदि’ , पदसे उठे अध्यायमें उठे श्लोकमें ‘आत्मना जित’ , पदोंसे, गारहरें श्लोकमें ‘तपैकाम्र मन कृत्या यतचित्तेन्द्रियक्रिय’ , पदोंसे, चोदट्य श्लोकमें ‘मन सयम्य’ , पदोंसे, चौगीसरें श्लोकमें ‘इन्द्रिय ग्राम विनियम्य’ , पदोंसे और उत्तीसरें श्लोकमें ‘वश्याभना’ , पदसे, आठवें अध्यायमें गारह श्लोकमें ‘सवदाराणि सयम्य’ , पदसे, तेहवें अध्यायके सातरें श्लोकमें ‘आत्मविनिप्रह’ , पदसे, सोलहवें अध्यायमें पहले श्लोकमें ‘पद्म’ , पदसे और अठारहवें अध्यायमें गावनवे श्लोकमें ‘यतवाक्याय-मानस’ , पदसे ।

अचिन्त्यम्—मन बुद्धिसे परे ।

मन-बुद्धिका विषय न होनेके कारण ‘अचिन्त्यम्’ पद निर्गुण निराकार लक्षका वाचक है, क्योंकि मन-बुद्धि प्रकृतिका कार्य होनेसे सम्पूर्ण प्रकृतिको भी अपना विषय नहीं बना सकते, तर प्रकृतिसे अनीन परमात्मा इनका विषय बन ही कैसे सकता है !

प्राकृतिक पदार्थमात्र चिन्त्य है ओर परमात्मा प्रकृतिसे अनीन होनेके कारण सम्पूर्ण चिन्त्य पदार्थोंसे भी अतीत, विलक्षण हैं। प्रकृतिकी सहायताके बिना चिन्तन, वर्णन नहीं किया जा सकता, अन परमामात्रों ‘स्वयं’ (करण-निरपेक्ष ज्ञान) से ही जाना जा सकता है, प्रकृतिके कार्य मन-बुद्धि आदि (करण-सापेक्ष ज्ञान) से नहीं ।*

सर्वभगव्—सर्वव्यापी ।

सर देग, काल, वस्तु और व्यक्तियोंमें परिपूर्ण होनेसे ग्रहण ‘सर्वभगव्’ है। सर्वव्यापी होनेके कारण वह सीमित मन-बुद्धि इन्द्रियोंसे ग्रहण नहीं किया जा सकता ।†

तीसरे अध्यायके छठे श्लोकमें ‘कर्मन्द्रियाणि सयम्य’ पद मिथ्याचारी-द्वारा दण्डपूर्वक इन्द्रियाको रोके जानेके विषयमें प्रयुक्त हुआ है, न कि इन्द्रियाको वशमें रखनेके लिये ।

* दूसरे अध्यायके पचोसवें श्लोकमें ‘अचिन्त्य’ पद शरीरके लिये और आठवें अध्यायके नवें श्लोकमें ‘अचिन्त्यम्’ पद सगुण निराकार परमामात्रके लिये आया है ।

† नवें अध्यायके छठे श्लोकमें ‘सर्वभगव्’ पद हृदय जगन्में सर्वत्र भवतेरोवार्णी वायुषा विशेषण है ।

अनिदेश्यम्—जिसका सकेत न किया जा सके ।

जिसे इदतासे नहीं बतलाया जा सकता अर्थात् जो भाषा, वाणी आदिका विषय नहीं है, वह 'अनिदेश्यम्' है । निदेश (सकेत) उसीका किया जा सकता है, जो जाति, गुण, क्रिया एवं सम्बन्धसे युक्त हो और देश, काल, वस्तु एवं व्यक्तिसे परिच्छिन्न हो । परतु जो चिन्मय तत्त्व सर्वत्र परिपूर्ण हो, उसका सकेत जड़ भाषा, वाणीसे कैसे किया जा सकता है ।

च—और ।

कूटस्यम्—सदा एकरस (निर्विकार) रहनेवाले ।

यह पद निर्विकार, सदा एकरस रहनेवाले सविदानन्दधन ग्रहका वाचक है । सभी देश, काल, वस्तु और व्यक्तियोमें रहते हुए भी वह तत्त्व सदेव निर्विकार और निर्लिप रहता है । उसमें कभी क्रियान्वयन भी कोई परिवर्तन नहीं होता । इसलिये वह 'कूटस्य' है ।

कूट (अहरन) में भौति-भौतिके गहने, अस्त्र, औजार आदि पदार्थ गढ़े जाते हैं, पर वह ज्यो-कात्यो रहता है । इसी प्रकार सप्ताहके भिन्न-भिन्न प्राणी-पदार्थोंकी उत्पत्ति, स्थिति और मिनाश होनेपर भी परमात्मा सदा ज्यो-केत्यो रहते हैं ।*

अचलम्—अचल ।

* उठे अध्यायके आठवें श्लोकमें 'कूटस्य' पद जानी महात्माकी निर्विकारताका वाचक है और पद्धत्वें अध्यायके सोलहवें श्लोकमें 'कूटस्य' पद जीवात्माका वाचक है ।

‘अचलम्’—पद हिलने-डोलनेमी क्रियासे सर्वथा रहित ब्रह्म
वाचक है। प्रकृति चल है और-नव अचल है।*

ध्रुवम्—नित्य ।

जिसकी सत्ता निश्चित (सत्य) और नित्य है, उसे ‘ध्रुव
कहते हैं। सच्चिदानन्दघन ब्रह्म सत्तारूपसे सर्वत्र विद्यमान रहने
‘ध्रुवम्’ है।

निर्गुण ब्रह्मके आयों विशेषणोंमेंसे सत्रसे महत्त्वपूर्ण मिशेण
‘ध्रुवम्’ है। ब्रह्मके निर्देश्य, अचिन्त्य आदि निषेधामव
विशेषण देनेसे कोई ऐसा न समझ ले कि वह है ही नहीं, इसलिए
यहाँ ‘ध्रुवम्’ विशेषण देकर उस तत्त्वमी निश्चित सत्ता बननार्थ
गयी है। उस तत्त्वका कभी कहीं क्रिक्षिन्मात्र भी अभाव नहीं होता।
उसकी सत्तासे ही अस्त् (ससार) को सत्ता मिल रही है—
जासु सत्यता तें जड़ भाया। भास्य सत्य इव मोह महाया ॥
(मानस १। ११६। ४) †

अक्षरम्—अविनाशी ।

* दूसरे अध्यायके चौथीसर्वे इलोकमें ‘अचल’, पद जीवारमाका और
तिरपनर्वेदगोकर्में ‘अचला’ पद बुद्धिमी नियताना थोतक है, छठे अध्यायके
तेरहर्वेदगोकर्में ‘अचलम्’ पद ज्ञानयोगिनी विधिम शरीरको दिग्ग रगनेमें
लिये आया है, सातवें अध्यायके इष्टीचवें इलोकम ‘अचलम्’ पद अदारी
सिंगराका थोतक है और आठवें अध्यायके दगवें इलोकम ‘अचलेना’ पद
मनसी एकापनामे अथव आया है।

† दूसरे अध्यायके सत्ताइगव इलोकम ‘ध्रुव’, और ‘ध्रुवम्’ पद
‘निर्धिता’ अर्थमें थोड़क है।

‘न क्षरति इति अक्षरम्’—जिसका कभी क्षण अर्पित
पिनाश नहीं होता तथा जिसमें कभी कोई कभी नहीं आती, वह
सच्चिदानन्दधन ब्रह्म ‘अक्षरम्’ है ।*

अव्यक्तम्—निराकार ।

जो व्यक्त न हो अर्थात् मन-बुद्धि-इन्द्रियोक्ता प्रिय प्रकार न हो और
जिसका कोई रूप या आकार न हो, उसे ‘अव्यक्तम्’ कहा
गया हे ।†

* आठवें अध्यायके तीसरे और ग्यारहवें श्लोकोंमें, ग्यारहवें अध्यायके
अठाहवें और मैतीसवें श्लोकोंमें तथा इस गारहवें अध्यायके पहले श्लोकमें
‘अग्रम्’, पद निर्गुण व्रह्मका वाचक है । आठवें अध्यायके इक्षीसवें श्लोकमें
‘अपर’, पद परमगतिका वाचक है । आठवें अध्यायके तेरहवें श्लोकमें
तथा दसवें अध्यायके पचीसवें श्लोकमें ‘अक्षरम्’, पद प्रणवका वाचक है ।
पन्द्रहवें अध्यायके सोलहवें श्लोकमें ‘अपर’, पद दोनों ही गार जीवात्माके
लिये आया है ।

+ दूसरे अध्यायके पचीसवें श्लोकमें ‘अव्यक्त’ पद शरीरके
स्वरूपके बाणनमें आया है और अडाइसर्वे श्लोकमें ‘अव्यक्तादीनि’ तथा
‘अव्यक्तनिधनानि’ पदोंका प्रयोग यह बतलानेके लिये किया गया है कि जमसे
पूर्व एवं मरणोपरान्त प्राणियोंका स्थूलशरीर प्रत्यन नहीं दीखता । सातवें
अध्यायके चौदोसवें श्लोकमें ‘अव्यक्तम्’ और नवें अध्यायके चौथे श्लोकमें
‘अव्यक्तमूर्तिना’ दोनों ही पद सगुण निराकार परमात्माके वाचक हैं ।
आठवें अध्यायके अठाहवें श्लोकमें ‘अव्यक्तात्’ और ‘अव्यक्तसज्जे’, पद
तथा तीसरें श्लोकमें ‘अव्यक्तान्’ पद व्रह्माके सूक्ष्म शरीरके वाचक होनेके
कारण प्रकृतिये ज्योतक ह तथा तीसरें श्लोकमें ही (सनातन) अव्यक्त,
पद परमात्माका वाचक है । तेरहवें अध्यायके पाँचवें श्लोकमें ‘अव्यक्तम्’ पद
मूलप्रकृतिका वाचक है । आठवें अध्यायके इक्षीसवें श्लोकमें ‘अव्यक्त’

पर्युपासते—भलीभाँति उपासना करते हैं।

‘पर्युपासते, पद यहाँ निर्गुण-उपासकोंकी सम्यक् रूपामनाद वोधन है। शरीर-सहित सम्पूर्ण पदार्थ और कर्मेभि वासना तथा अहभावका अभाव तथा भावरूप सच्चिदानन्दघन परमात्मामें गमिन्नभवते नित्य-निरन्तर दृढ़ स्थित रहना ही भलीभाँति उपासना करना है।

इन श्लोकोंमें आठ विशेषणोंसे जिस प्रिशेष वस्तु-तत्त्वका लक्ष्य कराया गया है और उससे जो प्रिशेष वस्तु समझमें आती है, वह बुद्धिविशिष्ट ब्रह्मका ही खरूप है, जो पूर्ण नहीं है, क्योंकि (लभण और प्रिशेषणोंसे रहित) निर्गुण-निर्भिशेष ब्रह्मका खरूप (जो बुद्धिसे अतीत है) मिसी भी प्रकास्ते पूर्णतया बुद्धि आदिका प्रिशेष नहीं हो सकता। हाँ, इन प्रिशेषणोंका लक्ष्य रखनर जो उपासना की जाती है, वह निर्गुण ब्रह्मकी ही उपासना है और इसके परिणाम खरूप प्राप्ति भी निर्गुण नब्रह्मी होती है।

प्रिशेष वात

परमामात्रे तत्त्वसे समझानेके त्रिये दो प्रकारके प्रिशेषण दिये जाते हैं—निषेधात्मक और प्रिव्यात्मक। परमामाके अक्षर, अनिर्दश्य, अव्यक्त, अचिन्त्य, अचल, वज्रय, असीम, अपार, अपिनाशी आदि प्रिशेषण ‘निषेधात्मक’ हैं और सर्वव्यापी, कृटस्य, धूम, सत, चित्, आनन्द आदि प्रिशेषण ‘प्रिव्यात्मक’ हैं। परमात्माके निषेधात्मक प्रिशेषणोंका तात्पर्य प्रकृति (देश, कान, वस्तु, व्यक्ति, क्रिया आदि) पद, इष चारहरे अप्यायके पहले श्लोकमें ‘अव्यक्तम्’ पद और पाँचवें श्लोकमें ‘अव्यक्तासक्तनेत्प्राप्तम्’के अन्तर्गत ‘अव्यक्ता’ पद तथा ‘अव्यक्ता गटि’ पद एवं चिदानन्दपन लक्ष्यके त्रिये प्रमुख द्वार हैं।

से परमामाकी 'अमद्वत्ता' बतलाना ह और विद्यात्मक प्रिशेषणोंका तत्पर्य परमा मार्की स्वतन्त्र 'सत्ता' बतलाना ह ।

परमामनत्त्व मानविक प्रवृत्ति और निवृत्ति —जोनोंसे परे (सहज-निवृत्त) आर दोनोंको समानरूपसे प्रकाशित करनेवाला ह । ऐसे निरपेक्ष परमामनत्त्वका लक्ष्य करानेके लिये और बुद्धिको परमामाके समीप पटुचानेके लिये ही भिन्न-भिन्न प्रिशेषणोंमें परमामाका वर्णन (लक्ष्य) किया जाना ह ।

गीतामें परमामा और जीवामाके स्वरूपका वर्णन प्राप्त समान ही भिन्नता ह । प्रस्तुत अध्यायके तीसरे इलोकमें परमामाके लिये जो प्रिशेषण दिये गये हैं, उन्हीं प्रिशेषण गीतामें अन्यत्र जीवामाके लिये भी दिये गये हैं, जमे —दूसरे अध्यायके चौबीसमें-पचासमें इलोकोंमें 'सर्वगत', 'अचल', 'अव्यक्त', 'अचिन्त्य', आदि आर पद्धत्वे अध्यायके सोलहवें इलोकमें 'शूद्रस्थ', एवं 'प्रक्षर', प्रिशेषण जीवामाके लिये आये हैं । इसी प्रकार सातवें अध्यायके पचासमें इलोकमें 'अव्ययम्' प्रिशेषण परमामाके लिय ओर चाटहवें अध्यायके पाँचवें इलोकमें 'अव्ययम्' प्रिशेषण जीवामाके लिय आया ह ।

सप्तारमें व्यापक-रूपसे भी परमामा और जीवामाको समान बतलाया गया ह, जैसे—आठवें अध्यायके ब्राह्मसने त ग अठाहवें अध्यायके छियाशीसमें इलोकमें 'येन सर्वमिद ततम्' पदोंमें आर नवें अध्यायके चौथे इलोकम 'मया ततमिद मर्वम्' पनेसे परमामाको सम्पूर्ण जगत्में व्याप्त बतलाया गया ह । इसी प्रकार दूसरे अध्यायके सत्रहवें इलोकमें 'येन मर्वमिद ततम्' पदोंमें जागामाको भी सम्पूर्ण जगत्में व्याप्त बतलाया गया ह ।

जैसे नेत्रोंकी दृष्टि परस्पर नहीं टकराती अथवा व्यापक होना भी शर्म परस्पर नहीं टकराते, वैसे ही (द्वैत मतके अनुमति समूर्ण जगतमें समानरूपमें व्याप होनेपर भी निरवय होने परमामा और जीवात्माकी सर्वव्यापकता परस्पर नहीं टकराती ।

ते—ते ।

सर्वभूतहितेरता —सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें रत हुए ।

कर्मयोगके साधनमें आसक्ति, ममता, कामना और स्वार्थव्यापारकी मुश्यता है । मनुष्य जब शरीर, धन, सम्पत्ति आदि पदार्थोंके 'अपना' और 'अपने लिये' न मानकर उन्हें दूसरोंकी सेवामें लगात हैं, तो उसकी आसक्ति, ममता, कामना और स्वार्थभावका त्याखन हो जाता है । जिसका उद्देश्य प्राणिमात्रकी सेवा करना है, वह अपने शरीर और पदार्थको (दीन, दुखी, अमावस्या) प्राणियोंकी मेवामें लगायेगा ही । शरीरको दूसरोंकी सेवामें लगाने 'अहता' और पदार्थको दूसरोंकी सेवामें लगानेसे ममता नष्ट होती है । साधकका पहलेसे ही यह लक्ष्य होता है कि जो पदार्थ सेवामें लग रहा है, वह सेवक ही ह । इसलिये कर्मयोगके साधनमें सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें रत रहना अचानक है । इसलिये 'सर्वभूतहितेरता' पदमा प्रयोग कर्मयोगका आचरण करनेगानेके सम्बन्धमें करना है अग्रिक युक्तिमुक्त है । परन्तु भगवान्ने इस पदका प्रयोग यहाँ तय पौर्णे अध्यायके पचासवें श्लोकमें—दीनों ही स्थानोंपर ज्ञानयोगियों सम्बन्धमें किया है । इसमें यही निद् टोता है कि कर्मोंमें सर्व सम्बन्धित्वेर करनेके लिये कर्मयोगकी प्रणालीको अपनानेवां आपद्यपत्ता ज्ञानयोगम भी है ।

एक बान पिशेष ध्यान देनेकी है। जो 'सेवा' गरीर, पदार्थ और किसासे की जाती है, वह सीमित ही होती है, क्योंकि सम्पूर्ण पदार्थ और कियाएँ मिलकर भी सीमित ही हैं। परन्तु सेवामें प्राणिमात्रके हितका भाव असीम होनेसे सेवा भी असीम हो जाती है। अन पदार्थोंके अपने पास रहते हुए भी (उनमें आसक्ति, ममता आदि न करके) उन्हें सम्पूर्ण प्राणियोंका मानकर उन्हींकी सेवामें ल्याना है, क्योंकि वे पदार्थ समष्टिके ही हैं। ऐसा असीम भाव होनेपर जड़तासे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जानेके कारण सापको असीम तत्त्व (परमामा) की प्राप्ति हो जाती है। कारण कि पदार्थोंको व्यक्तिगत (अपना) माननेसे ही मनुष्यमें परिच्छिन्नता (एकदेशीयता) एव प्रिपमता रहती है और पदार्थोंको व्यक्तिगत न मानकर सम्पूर्ण प्राणियोंके हित-भाव रहनेसे परिच्छिन्नता एव प्रिपमता मिट जाती है। इसके पिपरीत साधारण मनुष्यका ममतागाले प्राणियोंकी सेवा करनेका सीमित भाव रहनेसे यह चाहे अपना सर्वस्तु उनकी सेवामें क्यों न लगा दे, तो भी पदार्थोंमें तथा जिनकी सेवा करे उनमें आसक्ति, ममता आदि रहनेसे (सीमित-भावके कारण) उसे असीम परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति नहीं होती। अतएव असीम परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिके लिये प्राणिमात्रके हितमें रनि अर्यात् प्रीति-रूप असीम भावका होना आवश्यक है। 'सर्वभूतहिते रता' पद उसी भावको अभिव्यक्त करता है।

ज्ञानयोगका साधक जड़तासे सम्बन्ध-विच्छेद करना चाहता तो है, परन्तु जबतक उसके हृदयमें नाशनान् पदार्थोंका आदर है,

तमनकु उन पदार्थासे मायामय अर्था स्वप्नपत् समयसर उनके
ऐसे ही याग कर देना उमके लिये कठिन है। परतु कर्मयोगका
सारक पदार्थासे दूसरोंकी सेवाम लगासर उनका त्या ज्ञानयोगीकी
अपेक्षा सुगमतापूर्वक कर सकता है। ज्ञानयोगीमें तीव्र वगाय दृष्टिमें
ही पदार्थका त्याग ही सकता है, परतु कर्मयोगी गड वेतायम ही
पदार्थोंका त्याग (परहितमें) कर सकता है। प्राणियोंके हितमें
पदार्थोंका सदृपयोग करनमें जड़तासे सुगमतापूर्वक सम्बन्ध-विच्छेद
द्वे जाना है। मायारूप यहाँ 'सर्वभूतहिते रता' पर नेत्रर यही
चलताया है कि प्राणिमात्रके हितमें रत्न रहनमें पदार्थके प्रति आर्थि
भुक्ति 'रत्न हृण भी न इतामें सम्बन्ध-विच्छेद' सुगमतापूर्वक ही नाया।
प्राणिमात्रका इति करनके लिये कर्मयोग ही सुगम उपाय है।'

पिरुण-उपासमयोंकी माध्यनामे अन्वय अनेक अगान्तर भी
होते हैं भी मुख्य भेद दो हैं --(१) नड़न्वेनन आर चर-बचक
स्वप्नमें तो कुल प्रतीन होता है, यह सब आमा या अद्य है और
--(२) अर्थर्ग प्रतीन होता है, यह अनित्य, अणभास्तु आर
उम प्रवार ममारका जाग झटपता ना तत्त्व आर रह
यह जामा या अद्य है।

एवं नामाम 'सर कुछ नह है' इनका मीठ लेनेमारण
ज्ञानीलक्ष्मा भिद नही होता। उदाहरणम गृह जर्थात वर्षम
को गति रिक्त है, तरनक नाननिष्ठाका भिद होता ग्रहन कठिन है।
जैसे रात्रि भिदानके लिये कर्मदेवीके लिये सभी प्राणियोंके द्वितीय रिक्त
होता अक्षयर है, ऐसे ही पिरुण-उपासना द्वन्द्वपाले माध्यके लिये

भी प्राणिमात्रके हितमें रनि होना आवश्यक ह—नभी राग मिट्ठर
ज्ञाननिष्ठा मिद्र हो सकती है। उभी वातको लक्ष्य करानेके लिये यहाँ
'मर्वभूतहिते रना' पढ़ आया है।

दूसरी माघनाम नो माघक ममारसे उत्तमीन रहकर एकान्तमें
ही नत्यका चिन्तन करत रहते हैं, उन्हे उक्त माघनामे कर्मका
व्यरूपसे त्याग महायक नो होता है, परतु केवल कर्मका व्यरूपसे
त्याग कर देने मापसे ही मिद्र प्राप्त नहीं होती॥ अपि तु सिद्रि प्राप्त
करनेके लिये भोगोसे ग्राम्य और शरीर-टन्ड्रिय-मन-बुद्धिमे अपनापनके
त्यागकी अन्यन्त आवश्यकता है। उसलिये वराम्य और निर्ममताके
लिये 'मर्वभूतहिते रना' होना आवश्यक है।

ज्ञानयोगका माघक प्राय ममाजमे दूर, अमङ्ग रहता है।
अत उसमे व्यक्तिगत रह जाता है, जिसे दूर करनेके लिये समारमात्रके
हितका भाव रहना अवश्यक है।

वास्तवमें अमङ्गता शरीरसे ही होनी चाहिये। समाजमे अमङ्गता
होनेपर अहभाव दढ़ होता है अर्थात् मिट्ठता नहीं। जगतक साधक
अपनेको शरीरसे स्पष्टत अल्प अनुभव नहा कर लेना, तपतक
समारसे जग रहनमात्रमें उमका लक्ष्य सिद्र नहीं होना, क्योंकि
शरीर भी समारका ही अङ्ग है और शरीरमें नाशम्य और ममतामा
न रहना ही उसमे नस्तुत अथवा होना है। तादाम्य जोर ममता
मिटानेके लिये नापको प्राणिमात्रके हितमें लगाना आवश्यक है।

दूसरी वात यह है कि साधक मर्वण एकान्तमें ही रह, यह
सम्भव भी नहीं है, क्योंकि शरीर-निर्वाहके लिये उसे व्यवहार-क्षेत्रमें

आना ही पड़ता है और वैराग्यमे कमी होनेपर उसके व्यपहारमे अभिमानके कारण कठोरता आनेकी सम्भावना रहती है एवं कठोरता आनेसे उसके व्यक्तित्वका मिल्य (अहमावका नाश) नहीं होता । अनग्र उमे तत्त्वकी प्राप्तिमें रुदिनाई होती है । व्यपहारमें कहीं कठोरता न आ जाय, इसके लिये भी यह अत्यापश्यक है कि मामक सभी प्राणियोके हितमें रहे रहे । ऐसे ज्ञानयोगके सामरद्धरा सेवा-कार्यका पिस्तार चाहे न हो, परन्तु भगवान् कहते हैं कि वह भी (सभी प्राणियोंमें द्विनमें गति होनेके कारण) मुझे प्राप्त कर लेओ ।

सगुणोपासक और निर्गुणोपासक—दोनों ही प्रकारके सामर्थोंके लिये सम्पूर्ण प्राणियोके हितम् भाव रखना अत्यापश्यक है । समूर्ग प्राणियोके हितसे अन्य अपनी हित माननेसे 'अह' अर्यात् व्यक्तिवना रहता है, जो सामरके लिये आगे चलकर बापक होता है । गालतमें ऋत्याण 'अह'के मिठनेपर ही होता है । अपने लिये किसे जानेवाले सामनसे 'अह' पना रहता है । इसलिय 'अह' को पूर्णत मिटानेके लिये सामरक को प्रत्येक किया (खाना, पीना, मोना आदि एवं जप, ध्यान, पार, स्वाध्याय आदि भी) संसारमात्रमें इतके लिये ही बरनी चाहिये । मसारके इतमें ही अपना द्वित निश्चित है । भगवान्‌की मान शक्ति परहितमें ही लग रही है । कन जो समके हितमें त्वेगा, भगवान्‌की शक्ति उसके माय ही जायगी ।

'यज्ञ' दूसरेके लिये गत्तुओंको देना आर शरीरसे मेंगा कर ना ही मेंगा गदा है अपितु अपने लिये कुछ भी न चाहकर दूसरेका शिष्य देने ही, उसे सुना कैमे मिडे—इस भाषमे कर्म करना ही मेंगा

है । अपनेसो सेमरु कट्टलानेमा भाव भी मनमे नहीं रहना चाहिये । सेगा तभी हो सकती है, जब सेमरु जिसकी सेगा करता है, उसे अपनेसे अभिन्न (अपने शरीरकी भाँति) मानता है—‘आत्मोपम्येन सर्वत्र’ ओर पद्मलेखे उससे कुउ भी लेना नहीं चाहता ।

जैसे मनुष्य तिना किमीके उपदेश किये अपने शरीरकी सेगा स्त्रत ही वडी सामग्रीसे करता है एव सेगा करनेमा अभिमान भी नहीं करता, वैसे ही सर्वत्र आत्मबुद्धि होनेसे सिद्ध महापुरुषोकी स्त्रत सत्रके हितमें रनि रहती है* । उनके द्वारा प्राणिमात्रमा कल्याण होता है, परन्तु उनके मनमें लेगमात्र भी ऐसा भाव नहीं होता कि हम किमीका कल्याण कर रहे हैं । उनमें अहताका सर्वथा अभाव हो जाता है । अन ऐसे जीवन्मुक्त महापुरुषोको आश्र्वा मानकर सामरक-ओ चाहिये कि सर्वत्र आमनुद्धि करके ससारके किमी भी प्राणीको किञ्चिन्मात्र भी दुख न पहुँचाकर उनके हितमें सदा तत्परतासे खाभानिक ही रत रहे ।

सर्वत्र समयुद्धय —सत्रमें समरूप परमात्माको देखनेवाले ।

इस पदमा भाव यह है कि निर्गुण-निराकार ब्रह्मके उपासकों

* आत्मौपम्येन सर्वत्र सम पश्यति योज्जुन ।

सुप ना यदि वा दुष्प स योगी परमो मत ॥

(गीता ६ । ३२)

हे अर्जुन ! जो योगी अपनी भाँति सम्पूर्ण भूतमें सम देवता है, और सुप अथवा दुष्पको भी सत्रमें सम देवता है, वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है ।

मात्र अपनी बुद्धिसे सर्वत्र परमात्माको देखनेकी चेत्र वहता है, जब कि सिद्ध महापुरुषोंकी बुद्धिमे परमात्मा स्वाभाविकत्वपरसे उनीं धनतासे परिपूर्ण हैं कि उनके लिये परमात्माके मित्र और कुछ ही ही नहा—‘वासुदेव सर्वमिति’ (गीता ७। १९) इमलिये उनकी बुद्धिका प्रिय परमात्मा नहीं है अपि तु उनकी बुद्धि ही परमात्मासे परिपूर्ण है । अनपृथक् वे ‘सर्वत्र समानुद्धयः’ हैं ।*

माम् एव प्राप्नुवन्ति—मुझे ही प्राप्त होते हैं ।

निर्गुणके उपासक कहीं यह न समझ लें कि निर्गुण-तत्त्व कोई दूसरा है और मैं (सगुण) कोई ओर हूँ—इसलिये भगवान् यह स्पष्ट करते हैं कि निर्गुण तत्त्व मुझसे भिन्न नहीं है (गीता ९। ४, १४। २७), सगुण और निर्गुण दोनों मेरे ही स्वरूप हैं ॥३-४॥

सम्बन्ध—

जर्जुनक प्रश्नके उत्तरन भगवान् दूसरे श्लोकमें सगुण उपासनेके सर्वोत्तम योगी यत्तदाया और तीसरे तथा चौथे श्लोकोंमें निर्गुण-उपासनोंसे अपनी प्राप्ति थी वात कही । अब दोनों प्रकारकी उपासनाओंके अपान्तर भेद तथा कठिनाई एव सुगमतामूलक ताराम्ब जगले तीन श्लोकोंमें यत्तगते हैं ।

० पाँचवें अध्यायके उत्तीर्ण प्राप्ति योगा गाय्ये श्रित भा । पद और उठे अध्यायके नैः चतुर्थों भागमुद्दि । पद गिर्द योगितोके विद्यं प्रकुप्तं द्रुष्टं । रात्र अध्यायके बत्तीमरे श्लोकमें गम दर्शयिता पदशा प्रदर्शन भी गिर्द योगितोके विद्ये दी गृआ है ।

श्लोक—

पलेशोऽधिकतरस्तेपामव्यक्तासकचेतसाम् ।

अव्यक्ता हि गतिर्दुष देहवद्विरवाप्यते ॥ ६ ॥

भावार्थ—

यहाँ भगवान् कहते हैं कि दोनों प्रकारके उपासकोंकी उपासनामें अपनी-अपनी रुचि, श्रद्धा, वैराग्य, इन्द्रियसंयम आदिकी दृष्टिसे लक्ष्य-प्राप्तिमें समान योग्यता होते हुए भी निर्गुण-उपासकोंजो देहाभिमानके कारण अपने साधनमें परिश्रम और कठिनाई अधिक प्रतीन होगी तथा लक्ष्यप्राप्तिमें भी अपेक्षाकृत प्रिलम्ब होगा । जैसे-जैसे देहाभिमान नष्ट होता जायगा, वैसे-ही-जैसे साधक तत्त्वमें प्रविष्ट होता जायगा और उसका क्लेश कम होता जायगा ।

देहाभिमान सर्वथा दूर न होनेपर भी निर्गुण उपासकना विचार तो अमीम परमात्मतत्त्वसे एक होनेका रहता है, पर डसके लिये वह उस तत्त्वमें अपने मन-बुद्धिको लगानेकी चेत्रा करता है । परतु मन-बुद्धि सीमित एव परमात्मतत्त्व अमीम होनेके कारण उसे अपने साधनमें कठिनाई प्रतीत होती है । यद्यपि सगुण-उपासकोंमें भी उसी मात्रामें देहाभिमान रहता है, तथापि उनके मन-बुद्धिके लिये भगवान्-का सगुण-साकाररूप ध्यानका नियम होने तथा भगवान्-पर ही प्रियासपूर्वक निर्भर रहनेसे उन्हें अपने साधनमें वैसा क्लेश प्रतीत नहीं होता । उनकी मन, बुद्धि, इन्द्रियों भगवान्-की लीङ्ग, गुण, प्रभाव आदिके चिन्तन और जप-ध्यान आदिमें तल्लीन होनेके कारण उन्हें सुखका अनुभव होता है । इसी दृष्टिसे यहाँ यह कहा

मया है कि मामनामे निर्गुण-उपासनारो अपेक्षाकृत अग्रिम स्वर्ण होता है। यहो मुख्य बान यही, कि दहागिमान मगुण उपासनामे उतना बापर नहीं है जिनना निर्गुण-उपासनामे है।

अन्य—

अद्यनामकचत्तमाम्, तपाम्, वलग अस्तित्व (भगवि) हि, देहगति प्रद्यन्ता गति, दुष्म अगाध्यत ॥ ५ ॥

५५ याम्बा

अद्यन्तामकचत्तमाम नपाम—निरामा ब्रह्मे अस्ते चित्ताले सापराके (सापनमे) ।

अद्यन्तम जापक चित्ताले इस विद्याशम यहाँ उन सामने री और मक्त दिया गया,, ना निर्गुण-उपासनारो श्रुते मन है, परतु निनग चित्त निर्गुण-नत्त्वग जापिए नहीं हैं। तबमें आविड लोकोंके लिये मात्रम तीन गतोंवी अपश्यभता होती है—१ रचि, २ विद्याम और ३ यात्यत। गतों जैसे गुरुजनाके हाथ निर्गुण-नत्त्वरी महिमा सुननमे निनदा (निराम्यम अपक चित्तावान हाँ वार निर्गुण उपासनारो श्रुते मानभैर याग) उसम खुल र्मन तो उपन हा चर्ता हैं जौरे विद्यामपूर्वक साम जरूरम भा रह रहे हैं, परतु विद्यारी दर्शी ली गार्हिमान् १ याग तिनदा निन चारों ग्राहिया नहा हा जाय—३३ गतोंदा, ३४ गतों 'अद्यन्तामकचत्तमाम' दर्श, ग्राहिया

भगवान् उठे अथायके मत्ताईमें आर जट्टाईमें श्लोकोंमें वनलाया है कि 'प्रह्लाद' जर्ता नम्में अभिन्नभावमें स्थित सामरकोंसे सुखपूर्ण ह ब्रह्मकी प्राप्ति होती है। परतु यहाँ इस श्लोकमें 'क्लेश अधिकतर' परेमें यह स्पष्ट भर रिया ह कि इन सामरकोंका चित्त ब्रह्मभृत सामरकोंमी तरह निर्गुण-तत्त्वम् मर्ता तत्त्वीन नहीं हो पाया है। अन उन्हे अव्यक्तमें 'आचिष्ठ' चित्तपात्र न कहकर 'आसक्त' चित्तपात्र भहा गया है। तापर्य यह ह कि इन सामरकोंकी आसक्ति तो नेहमें होती है, पर अव्यक्तकी महिमा सुनकर वे निर्गुणोपासनामो ही श्रेष्ठ मानकर उम्में आमक्त हो जाते हैं, जब कि आमक्ति दृष्टमें ही दुआ फरती है, अनुकूलमें नहा।

तेरहरे अथायके पौच्चयें श्लोकमें 'अव्यक्तम्' पद प्रकृतिके अर्थम् जाया है तथा अन्य उन्ने अलोपर भी उह प्रकृतिके लिये हीं प्रयुक्त हुआ है। परतु यहों 'अव्यक्ताम्भक्तचेतसाम्' परमे 'अव्यक्त' का अर्थ प्रकृति नहीं, अपितु निर्गुण ब्रह्म है। कारण यह ह कि इसी अथायके पहले श्लोकमें अर्जुनने 'त्वाम् पर्युपास्ते, अक्षरम् अव्यक्तम् च (पर्युपास्ते) तेराम् योगवित्तमा के (आपके सगुणरूप परमेश्वरभी जोर निर्गुण ब्रह्मदी जो उपासना करते हैं, उनमें श्रेष्ठ कोन है ?) कहकर 'त्वाम्' परमे सगुण-माकार स्वरूपके ओर 'अव्यक्तम् पठसे निर्गुण-निगदार ब्रह्मपके गिरायमें हीं प्रश्न किया है। उपासनामा विस्य भी परमामा हीं ह, न कि प्रकृति, क्योंकि प्रकृति आर प्रकृतिमा कार्य तो व्याय है। इसस्ये उसी प्रश्नके उत्तरमें भगवान्नने 'अव्यक्त परमा (यक्षरूपके विपरीत) निराकार-

रूपके अर्थमें ही प्रयोग किया है। अत यहाँ प्रकृतिका प्रसङ्ग होनेके कारण 'अव्यक्त' पदका अर्थ प्रकृति नहीं किया जा सकता।

नरे अध्यायके चौथे श्लोकमें 'अव्यक्तमूर्तिना' पद सहु निराकार स्वरूपके लिये आया है। ऐसी दशामें यह प्रश्न हा सकता है कि यहाँ भी 'अव्यक्तासकचेतसाम्' पदका अर्थ सहु निराकारमें आसक्त चित्तप्राले 'पुरुष' ही क्यों न ले किया जाय? परतु ऐसा अर्थ प्रहण नहीं किया जा सकता। क्योंकि न्त अध्यायके पहले श्लोकमें अर्जुनके प्रश्नमें 'त्वाम्' पद सहु साकारके लिये और 'अव्यक्तम्' पदके साथ 'अक्षरम्' पद निर्गुण निराकारके लिये आया है। तब क्या है?—अर्जुनके इस प्रश्नके उत्तरमें आठवें अध्यायके तीसरे श्लोकमें भगवान् बनता द्युके हैं कि 'परम अक्षर ब्रह्म है' अर्थात् वहाँ भी 'अक्षरम्' पद निर्गुण निराकारके लिये ही आया है। इसलिये अर्जुनने 'व्यक्तम् अक्षरम्' पदोंसे जिस निर्गुण ब्रह्मके पितॄमें प्रश्न किया था, उसीके उत्तरों यहाँ ('अक्षर' निशेषण होनेसे) 'व्यक्त' पदसे निर्गुण प्रकृति अर्थ ही प्राप्त करना चाहिये, सहुण-निराकारका नहीं।

कलेश अधिकार (भवति)—कलेश अर्थात् परिश्रम अनियोगीता है।

इन पदोंमें सुन्दर भाव यह है कि जिन सामग्र्योंपांच चित्त निर्गुण-कारणों तर्फीन नहीं होता, ऐसे निर्गुण-उपायोंको देखानीमात्रके लिये भवति सामानी भए। मात्रभूत सहुण-उपायोंकी अपेक्षा

प्रियोप कष्ट अर्थात् कठिनार्दि होती है* । गौणरूपसे इस पड़का भाव
यह है कि सामनामी प्रारम्भिक अपस्थासे लेकर अन्तिम अपस्थानके
सभी निर्गुण-उपासकोंको सगुण-उपासकोंमी अपेक्षा अधिक कठिनार्दि
होती है ।

अब सगुण-उपासनामी सुगमताओं ओर निर्गुण-उपासनामी
कठिनाइयोंका प्रिवेचन किया जाता है—

सगुण-उपासनामी सुगमताएँ निर्गुण-उपासनामी कठिनाइयों
१—सगुण-उपासनामें उपास्य- १—निर्गुण-उपासनामें उपास्य-
तत्त्वके सगुण-साकार होनेके कारण तत्त्वके निर्गुण-निराकार होनेके
सामरकमी मन-इन्द्रियोंके लिये कारण सामरकमी मन-इन्द्रियोंके
भगवान्‌के स्वरूप, नाम, लीला, लिये कोई आगर नहीं रहता ।

* साधक मुख्यतः दो प्रकारके होते हैं—

एक तो वे साधक हैं, जो सत्सङ्घ, श्रवण और शास्त्राध्ययनये फलम्बनरूप
साधनमें प्रदृढ़ होते हैं । इन्हे अपने साधनमें अधिक क्लेश होता है ।

दूसरे वे साधक हैं, जिनकी साधनमें स्वाभाविक रुचि तथा ससासे
स्वाभाविक वैराग्य होता है । इन्हे अपने साधनमें कम क्लेश होता है ।

यहाँ यह दाका हो सकती है कि साधक दो ही प्रकारके क्यों होते हैं ?
इसका समाधान यह है कि गीतामें योगभ्रष्ट पुरुषकी गतिये वर्णनमें
भगवान्‌ने दो ही गतियोंका वर्णन किया है—

(१) कुछ योगभ्रष्ट पुरुष पुण्यलाङ्गोमें जाते हैं और वहाँ भोग
भोगकर लौटनेपर शुद्ध आचरणवाले श्रीमानोंके प्रसादें जन्म लेते हैं और
पुन साधनरत होकर परमात्माको प्राप्त होते हैं (गीता ६ । ४१, ४४) ।

(२) कुछ योगभ्रष्ट पुरुष सीधे ज्ञानवान् योगियोंके ही कुलमें जन्म
लेते हैं और फिर साधन करके परमात्माको प्राप्त होते हैं । ऐसे कुलमें
जन्म होना 'कुलभत्तर' बतल्या गया है (गीता ६ । ४२, ४३, ४५) ।

कथा आदिका आगर रहता है। आगर न होने वश वैमानी भगवान्‌के प्रायण दोनोंसे उमसी मन-इन्द्रियाँ भागान्‌के स्वरूप एवं उमींगे काण इन्द्रियों
लीभाओंके चिन्तन, कथा-श्रवण,
भगवत्सेगा और पूजनमें अपेक्षाकृत
स्मरणासे लग जाती हैं (गीता ८। १४) । इसलिये उमके द्वारा मासारिका प्रिय चिन्तनकी सम्भावना कर रहती है (गीता २। ६०, ६२, ६३) ।

२—सासारिक आमकि ही मामनमें क्लेश देनी है। परतु सगुणोपासक इसे दूर भरनेके लिये भगवान्‌के ही आकृति रहता है। यह अपनेमें भगवारूप ही बड़ मानता है। चिन्मीमा वस्त्र जसे मांपर निर्भर रहता है, उमी प्रकार यह मारन भी भगवारूप निर्भर रहता है। भगवार् ही उसभी मौजूद फरते हैं (गीता ९। २२) ।

यह गुनि नैषि स्वर्वं पश्चाता ।
भर्तृं त्रैमैष्ट्रित्या गच्छ भगवात् ॥

२—देहमें जिनकी ओर आसकि होती है, सामनमें उक्त ही अपिकृत क्षेत्र प्रनीत होता है निर्गुणोपासक उसे विवेकके द्वारा दृढ़नेत्रीचेष्टा करता है। विवेक अध्ययन लेकर मामन फलने हुए वह अपने हीमामनबद्धते मृत्यु उठा है। वर्गिकाम श्रीष्टा पश्च क्षेत्रमें(अपने अल्पपर निर्भर होनेसे) अपनी मौजूदो परमहे रहता है और अपनी परमामें ही अद्वैत रूप मानता है, उमी प्रकार यह सामर्थ अपने मामनके अल्पर द्वी ज्ञाना

वरदँ मना तिन्ह के रमवारी ।
जिमि यालक रामद महनारी ॥
(मानस ३ । १२ । ४६)

अत उसकी मासारिक आसक्ति
मुगमनासे मिठ जानी है ।

३—ऐसे उपासकोंके लिये
गीतामें भावानूने 'नचिरात्' आदि
पदोंसे गीव्र ही अपनी प्राप्ति
वननारी है (गीता १२ । ७) ।

४—सगुण-उपासकोंके अज्ञान-
रूप अन्यकारको भगवान् ही
मिटा देते हैं (गीता १० । ११) ।

५—उनका उद्धार भगवान्
करते हैं (गीता १२ । ७) ।

६—ऐसे उपासकोंमें यदि कोई
मुक्ष्म दोष रह जाता है, तो
(भगवान्पर निर्भर होनेसे)
सर्वज्ञ भगवान् कृपा करके उसे

उत्कर्ष मानता है (गीता १८ ।
५१—५३) । इसीलिये श्रीरामचरित-
मानसमें भगवान् ने इसे अपने
ममक्षदार पुत्रकी उपमा दी है—
मारे प्रौढ रानय नम ग्यानी ।
बालक सुत सम डास अमानी ॥
(३ । १२ । ४)

३—ज्ञानयोगियोंके द्वारा लक्ष्य-
प्राप्तिके प्रसङ्गमें चौथे अन्यायके
उनचालीसमें श्लोकमें 'अचिरेण'पद
(ज्ञानके अनन्तर) आन्तिकी प्राप्तिके
लिये आया है, न कि तत्त्वज्ञानकी
प्राप्तिके लिये ।

४—निर्गुण-उपासक तत्त्वज्ञानकी
प्राप्ति स्वयं करते हैं (गीता
१२ । ४) ।

५—ये अपना उद्धार (निर्गुण-
तत्त्वकी प्राप्ति) स्वयं करते हैं
(गीता १२ । ४, १४ । १९) ।

६—ऐसे उपासकोंमें यदि कोई
कमी रह जाती है, तो उस कमी-
का अनुभव उन्हें विलम्बसे होता
है और कमीको ठीक-ठीक

कथा आटिका आ गार रहता है। आधार न होने नथा वेतानर्थी भगवान्‌के परायण होनेसे उसकी मन-इन्द्रियों भगवान्‌के अवृप्त एव लीलाओंके चिन्तन, कथा-प्रग, भगवत्सेवा और पूजनमें अपेक्षाकृत सख्लासे लग जानी है (गीता ८। १४)। इसलिये उसके द्वारा सासारिक विषय चिन्तनकी सम्भावना कम रहती है।

२—सासारिक आसक्ति ही सामनमें क्लेश देती है। परतु सरुणोपासक इसे दूर करनेके लिये भगवान्‌के ही आश्रित रहता है। वह अपनेमें भगवान्‌का ही वड मानता है। विस्त्रीका वच्चा जेमे माँपर निर्भर रहता है, उसी प्रकार यह सामक भी भगवान्‌पर निर्भर रहता है। भगवान्् ही उसकी सँभाल करते हैं (गीता ९। २२)।

मुउ मुनि तोहि कहुँ महासा।
भजहि जे मोहितजि सकल भरोसा॥

रमीके कारण इन्द्रियोंके द्वारा विषय-चिन्तनकी अविस्मयवना रहती है (गीता २। ६०, ६२, ६३)।

२—देहमें जिन्हीं अविक आसक्ति होनी है, सामनमें उत्ता ही अधिक क्लेश प्रतीत होता है। निर्गुणोपासक उसे विवेकके द्वारा हठानेकी चेष्टा करता है। विवेकका आश्रय लेकर सामन फरते दुर्वह अपने ही सामन-बलको महत्व देता है। वद्विनाका ठोटा वच्चा जैसे (अपने गलपर निर्भर होनेसे) अपनी माँझे पकड़े रहता है और अपनी पकड़से ही अपनी रक्षा मानता है, उसी प्रकार यह सामक अपने सामनके वज्पर ही अपना

कर्तुं स्था तिन्दु के रसवारी ।
जिभि वालः रायद् महनारी ॥
(मानस ३ । १२ । ४६)

अत उसकी सासारिक आसक्ति
मुगमनासे मिट जाती है ।

३—ऐसे उपासकोंके लिये
गीतामें भावान्ते 'नचिरात्' आदि
पठोसे जीघ ही अपनी प्राप्ति
बनलायी है (गीता १२ । ७) ।

४—सगुण-उपासकोंके अज्ञान-
रूप अन्यकारको भगवान् ही
मिटा देते हैं (गीता १० । ११) ।

५—उनका उद्धार भगवान्
करते हैं (गीता १२ । ८) ।

६—ऐसे उपासकोंमें यदि कोई
मूर्ख दोष रह जाना है, तो
(भगवान्पर निर्भर होनेसे)
सर्वज्ञ भगवान् कृपा करके उसे

उत्कर्ष मानता है (गीता १८ ।
५१—५३) । इसीलिये श्रीरामचरित-
मानसमें भावान्ते इसे अपने
समझदार पुत्रकी उपमा दी है—
मौरें पौड तनय भग भ्यानी ।
गालक सुत सम डान नभानी ॥
(३ । ६२ । ४)

३—ज्ञानयोगियोंके द्वारा लक्ष्य-
प्राप्तिके प्रसङ्गमें चौथे अच्युतके
उनचालीसवें श्लोकमें 'अचिरेण'पद
(ज्ञानके अनन्तर) शान्तिकी प्राप्तिके
लिये आया है, न कि तत्त्वज्ञानकी
प्राप्तिके लिये ।

४—निर्गुण-उपासक तत्त्वज्ञानकी
प्राप्ति स्वयं करते हैं (गीता
१२ । १) ।

५—ये अपना उद्धार (निर्गुण-
तत्त्वकी प्राप्ति) स्वयं करते हैं
(गीता १२ । ४, १४ । १९) ।

६—ऐसे उपासकोंमें यदि कोई
कमी रह जानी है, तो उस कमी-
का अनुभव उन्हें विलम्बसे होता
है और कमीको ठीक-ठीक

दूर कर देते हैं (गीता १८ । ५८, ६६) ।

७—ऐसे उपासकोकी उपासना भगवान्‌की ही उपासना है । भगवान् सदा-सर्वदा पूर्ण है ही । अत भगवान्‌की पूर्णतामें निश्चित् भी सन्देह न रहनेके कारण उनमें सुगमतासे श्रद्धा हो जानी है (गीता ११ । ४३) । श्रद्धा होनेसेवे नित्य-निरन्तर भगवत्प्रायण हो जाते हैं, जिससे भगवान् ही उन उपासकोको बुद्धियोग प्रदान करते हैं, जिससे उन्हें भगवत्प्राप्ति हो जानी है (गीता १० । १०) ।

८—ऐसे उपासक भगवान्‌को परम छपाल्दु मानते हैं । अन उनकी दृष्टिके आश्रयमें वे सब कठिनाइयोंको पार कर जाते हैं । यही कारण है कि उनका साधन सुगम हो जाना है और भगवन्‌पाके

पहचाननेमें भी कठिनाइ होती है । हॉ, कमीमो थीमर्ट्यक पहचान लेनेपर ये भी उसे दूर कर सकते हैं ।

७—चौथे अयायके चारीमाँ और तेरहवें अयायके सातवें श्लोकमें भगवान्‌ने ज्ञानयोगियोंरो ज्ञान-प्राप्तिके लिये गुरुकी उपासन की आज्ञा दी है, अतएव निर्गुण उपासनामें गुरुकी आश्रयमता भी है, किंतु गुरुकी पूर्णताका निश्चित पता न होनेपर अभ्यास गुरुके पूर्ण होनेपर स्थिर श्रद्धा होतीं कठिनाइ होती है तभा साधनकी मफलतामें भी ग्रिलम्बकी सम्भागना रहती है ।

८—ऐसे उपासक उपास्य-तत्त्वगे निर्गुण, निराकार और उदासीन मानते हैं । अत उन्हें भगवान्‌की छपारा बेसा अनुभा नहीं हो पाना । वे तत्त्व-प्राप्तिम आनेगाल रिक्षामो अपनी सागनके गलपर

वल्से वे शीत्र ही भगवन्प्राप्ति पर
लेते हैं (गीता १८।५६-५८)।

१०—मनुष्यमें कर्म करनेका
त अभ्यास तो रहता ही हे, इसलिये
भक्तको अपने कर्म भगवान्‌के प्रति
करनेमें केवल भाव ही नदलना
होता हे, कर्म तो वे ही रहते हैं।
अन भगवान्‌के लिये कर्म करनेसे
भक्त कर्मवन्धनसे सुगमतापूर्णक
मुक्त हो जाता है (गीता १८।४६)।

१०—हृदयमें पदार्थोका आदर
रहते हुए भी यदि वे प्राणियोंकी
सेवामें लग जाते हैं तो उन्हें
त्यागनेमें कठिनाई नहीं होती।
सत्पात्रोंके लिये पदार्थोके त्यागमें
और भी सुगमता है। फिर
भगवान्‌के लिये तो पदार्थोका
त्याग बहुत ही सुगमतासे हो
सकता हे।

ही दूर करनेमें कठिनाईका
अनुभव करते हैं और फलखरूप
तत्त्वमी प्राप्तिमें भी उन्हें प्रियम्
हो सकता है।

१०—ज्ञानयोगी अपनी क्रियाओं-
को मिद्धान्तत प्रकृतिके अर्पण
करता हे, किन्तु पूर्ण निवेद
जाग्रत् होनेसे ही उसकी क्रियाएँ
प्रकृतिके अर्पण हो सकती हैं।
यदि निवेदकी फिद्धित् भी कभी
रही तो क्रियाएँ प्रकृतिके अर्पण
नहीं होगी और सामर्क कर्तृत्वा-
भिमान रहनेसे कर्म वन्धनमें
बँग जायगा।

१०—जबतक साधकके चित्तमें
पदार्थोका फिद्धित् भी आदर तथा
अपने कहलानेवाले शरीर और
नाममें अहता-ममता हे, तबतक
उसके लिये पदार्थोको मायामय
समझकर उन्हें त्यागना कठिन
होगा।-

११—भलीभाँनि रुचि न होनेसे सावनमे क्लेश प्रतीन होता है । परतु सगुणोपासको भगवान् पर ज्यो-यो विश्वास हो जाता है, त्यो-ही-न्यो सावनमे क्लेश (उत्तरोत्तर) रुम होना जाता है ।

१२—इस सावनमे विवेक और कैराण्यकी उत्तनी आपश्यस्ता नहीं है, जितनी प्रेम ओर विश्वासकी है । उठाहरणार्थ कौसलाके प्रति द्वेष-वृत्ति रहते हैं भी डोषर्तिके पुकारनमात्रस भगवान् प्रकट हो जाते थे, + क्योंकि वह भगवान् को अपना मानती थी । भगवान् नो अपने माथ भक्तके, प्रेम आर विश्वासको ही देखते हैं, उमक दोषोको नहीं । भगवान्के माथ अपनापनका सम्बन्ध नोडना उनना कठिन नहा । (स्योकि भगवान् की ओरसे अपनापन चतु-मिद है), जिनना कि पात्र चनना कठिन है ।

१३—पूरी योग्यता न होनेसे ही सावनमे क्लेश होता है । ब्रह्मभूत होनेपर क्लेश नहीं होता (उठ अ-यायके अद्वृत्तिमें इसके ब्रह्मस्त सामरको सुन्दरी ब्रह्मकी प्राप्ति उनशयी गयी है) ।

१४—यह सावन पात्र चनना ही नन्दको प्राप्त कर सकेगा । पात्र चननेके लिये विवेक औ तीव्र व्याधकी जापश्यस्ता ही है, जिन्हे आमक्ति रहते हुए प्राप्त करना कठिन है ।

* यह रात उठ भक्तिके लिये *, जिनके समग्रमात्मने भगवान् प्रवर्त दा जाओ हैं, मर्वनाभारणके लिय नहा है । तो भास सर्वथा भगवान् पर

हि—क्योंकि ।

‘देहवद्धि—दहाभिमानियोद्वारा ।’*

‘ही, ‘देहभृत’ आर्य पटोका अर्थ साधारणतया ‘देहधारी पुरुष’ किया गया है । प्रमङ्गलुमार इनका अर्थ ‘जीव’ और ‘आमा’ भी किया जाता है । यहाँ इस पटोका अर्थ ‘दहाभिमानी पुरुष’ लेना चाहिये, क्योंकि निर्गुण-उपासनोंके क्षिये इसी इलोकके पूर्वार्द्धमें ‘अव्यक्तामकचेतसाम्’ पट आया है, जिससे यह प्रतीत होता है कि वे निर्गुण-उपासनाको श्रेष्ठ तो मानते हैं, परतु उनका चित्त देहाभिमानके फ़ारण निर्गुण-तत्त्वमें आविष्ट नहीं रुजा है । देहाभिमानके कारण ही उन्हे साधनमें अपिक क्लेश होना है ।

निर्गुण-उपासनाम देहाभिमान ही मुख्य बागा है—
‘देहाभिमानिन सर्वं दोषा प्रादुर्भवन्ति ।’ इस बागकी ओर यान दिलानेके क्षिय ही भगवान्ने ‘देहवद्धि’ पट किया है । इस निभाग हो जाता है एव जियरी भगवान्के साथ इतनी प्रगाढ आत्मायिता होती है कि वेवल समरणग भगवान प्रकट हो जाते हैं, उसके द्वापर दृढ कर्ताका दायित्व भगवान्पर आ जाता है ।

* यहाँ ‘दृष्टि’ शब्दम ‘भूमनिदाप्राणामु नित्ययोगऽतिशायो । ससर्गेऽस्ति विद ताया भगवन्ति मतुरादय ॥’—इस कार्यक्रमे अनुसार भासणी अथम प्तदस्याम् यामार्तिति मतुपूर्व । २ । २ । ०) इस पाणिनि-सूत्रसे ‘मतुपूर्व प्रत्यय किया गया । ‘देहवद्धि’, नटका अथ है—२ पुरुष, जिनका देहके साथ दृटतापूर्वक सम्बन्ध माना हुआ ।

उठ अव्यायके सत्ताद्यसप इलाकम ‘प्रताभूत’ शेनपर सुरपूत्रक ब्रह्मकी प्राप्ति रत्नगायी गयी है जब कि यहाँ ‘देहभृत’ नामके बागण तु मृपृद्वक ब्रह्मा प्राप्ति रत्नगायी गयी है ।

देहाभिमानको दूर करनेके लिये ही (अर्जुनके पूछे मिना ही) माम
तेरहवाँ एवं चौदहवाँ अध्याय कहा हे । उनमें भी तेव
अध्यायका प्रथम श्लोक देहाभिमान मिटानेके लिये ही कहा गया हे ।

अव्यक्ता गति —अव्यक्तविप्रयुक्त गति ।

दुखम् अवायते—दुखपूर्वक प्राप्त की जाती हे ।

ब्रह्मके निर्गुण-निराकार खरूपकी प्राप्तिको यहाँ 'अव्यक्ता गति' कहा गया हे । सामाजिक पुरुषोक्ती स्थिति व्यक्त अर्थात् देहम है । इसलिये उन्हें अव्यक्तमें स्थित होनेमें कठिनाईमा अनुभव हो हे । यदि साधक अपनेको देहवाला न माने, तो उसकी अव्यक्त
सुगमता एवं शीतलापूर्वक स्थिति हो सकती हे ॥ ५ ॥

श्लोक—

ये तु नवाणि कर्माणि मयि सन्यस्य मन्त्रग् ।

अनन्येनैव योगेन मा न्यायन्त उपासते ॥ ६ ॥

* दूसरे अध्यायके नाइसर्वे श्लोकमें 'देही', पद जीवत्माये लिये और तीसर्वे श्लोकमें 'देही', पद आत्माके लिये प्रयुक्त हुआ हे । पाँचवें अध्यायके तेरहवें श्लोकमें 'देही', पद साध्ययोगके ऊचे साधककार्ण वोगा हे और चौदहवें अध्यायके चीमें श्लोकमें 'देही', पद सिद्ध पुरुषोंये लिये आया हे, क्योंकि लोकदृष्टिमें वह शारीरधारी ही दीर्घता हे ।

दूसरे अध्यायके तेरहवें और उनसठवें श्लोकमें 'देहिन', पद, तसरों अध्यायके चालीसवें और चौदहवें अध्यायके पाँचवें तथा सातवें श्लोकमें 'देहिनम्', पद, आठवें अध्यायके चौथे श्लोकमें 'देहभृताम्', पद, चौदहवें अध्यायके चौदहवें श्लोकमें 'देहभृत्', पद, सप्तवें अध्यायके दूसरे श्लोकमें 'प्रेहिनाम्', पद, चौदहवें अध्यायके आठवें श्लोकमें 'सप्तदेहिनाम्', पद और अठारहवें अध्यायके न्यारहवें श्लोकमें 'देहभृता', पद मामान्य देहाभिमानके लिये ही प्रयुक्त हुए हैं ।

भावार्थ—

अर्जुनने इसी अन्यायके प्रथम स्लोकमें (याहाँने अपायके चपनमें स्लोकको लक्ष्य करके) ‘पव सततयुक्ता ये’ पदोंसे जिनके त्रयमें प्रज्ञ किया था, उन अपने अनन्यप्रेमी सगुण-उपासकोंके अपयमें भगवान् यहाँ (निर्गुण उपासकोंसे भिन्न) तीन बातें तत्त्वात हैं—

(१) केवल मुझसे ही सम्बन्ध रखनेसे सगुणोपासक मेरे लिये ही सब कर्म करते हैं ।

(२) मुझे ही परमश्रेष्ठ और परम प्रापणीय मानकर वे मेरे द्वारा परायण रहते हैं ।

(३) मेरे अनिरिक्त किसी दूसरी वस्तुमें आसक्ति न रहनेके कारण वे अनन्यभावसे नित्य-निरन्तर मेरा ही ध्यान-चिन्तन करते हुए भी उपासना करते हैं ।

याहाँ अन्यायके पचपनमें स्लोकमें भगवान् ने अनन्य भक्तके लक्षणोंमें तीन प्रियात्मक (‘मत्कर्मकृत्’, ‘मत्परम्’ और ‘मद्भक्’) और दो निषेधात्मक (‘सङ्क्रयर्जित्’, और ‘निवैर्’) पद दिये हैं । उन्हीं पदोंका अनुग्राद इस स्लोकमें इस प्रकार हुआ है—

(१) ‘सर्वाणि कर्माणि मयि सन्यस्य’ पदोंसे ‘मत्कर्मकृत्’ की ओर लक्ष्य है ।

(२) ‘मत्परा’ पदसे ‘मत्परम्’ का समेत है ।

(३) ‘अनन्येनैव योगेन’ पदोंमें ‘मद्भक्’ का लक्ष्य है ।

(४) ‘अनन्येनैव योगेन’का तापर्य यह ह कि भगवान्में ही अनन्यनार्पवक् लगे रहनेके कारण उनकी अन्यत्र नहीं आसक्ति नहीं होती, अन वे ‘सङ्क्रयर्जित्’ हैं ।

(५) अन्यमें आसक्ति न रहनके काण उनके नर्व सिसा
प्रति भी नह, द्वेष, कोप आदि का भाव नहा रह पान,, ज्ञान
'निर्जन' पर्याय भाव भी इसीके अन्तर्गत आ जाता है। परं
भावानुने इसे महत्त्व देनके लिय आगे ने रहने इश्वरम सिद्ध भलो
लक्षणोंमें सबसे पहले 'बहुषा पर्याय प्रयोग किया है (अन भाव
प्रितीमें किञ्चिन्मात्र भी द्वेष नहीं रखना चाहिये) ।

अन्वय—

तु, ये, नवाणि, कर्माणि, मयि, मन्यस्य, मत्परा, अन्येष, योग
मास्, एव, ध्यायन्त, उपासते ॥ ६ ॥

पद-याग्वा—

तु—इनसे भिन्न ।

अन यहासे निर्गुणोपासनाकी अपेक्षा सगुणोपासनाकी सुगम
बतलानेके लिये प्रकरण-मेद भरते हैं ।

ये—जो ।

'ये' पद यहाँ सगुण-उपासकोंके लिये आया है ।

मर्वाणि कर्माणि—सम्पूर्ण कर्मोक्ति ।

यथापि 'कर्माणि' पद स्थानी बहुरचनान्त होनेसे सम्पूर्ण
कर्मोक्ति गोप करना है, तथापि इसके साथ सर्वाणि विशेषण तेज
मन, वाणी, गरीसे होनेवाले सभी लौकिक (शरीर-निर्वाहि
आजीविका-सम्बन्धी) एव पालोकिक (जप-ध्यानसम्बन्धी) आ
प्रिष्ठित वर्मोक्ति समावेश किया गया है ।*

* यत्करोपि यदस्नामि यज्ञुहोपि ददासि यन् ।

यत्पत्स्यति फौतेय तत्कुरुष्य मठपृष्ठम् ॥

(गीता ० । २३)

मनि सच्चय—नुजमे अर्पण नरक ।

इस पदमे भगवानका आग्रह क्रियाओका स्वरूपसे त्याग
नरनेका नहीं + म्योकि एक तो व्यक्त्यमे रमोका त्याग
सम्भव नहीं (गीता ३।५ १८।११) । इसर यहि सगुणो-
पासक शोहपूर्वक जाग्रत्तिहित क्रियाओका व्यक्त्यमे या नरता है, तो
उमका यह त्याग 'नामम' होगा (गीता १८।७), आर यहि
दुखरूप समझकर आरीमिक फ्लेडके भयसे वह उनका त्याग करता
है, तो यह याग 'राजम' होगा (गीता १८।८) । अन इस रीतिसे
त्याग नरनेपर कर्ममे मन्वन्य नहीं दृटेगा । कर्म-वन्ननसे मुक्त होनेके
लिये यह अन्याद्यक है कि सापक कर्ममि ममता, आमत्ति और फलेढ़ा-
का त्याग करे, म्योकि ममता, आमत्ति और फलेढ़ामे किये गये कर्म
ही चौप्रवेषके होते हैं, कर्म स्वरूपन कभी मनुष्यको नहीं बॉधते ।

यहि गाँधीका लक्ष्य भगवप्राप्ति होता है, तो वह पदार्थोक्ति
इच्छा नहा नरता, ओर अपने-आपको भगवान्का समझनेके कारण
उसकी ममता शरीरान्से हटकर एक 'भगवान्'मे ही हो जाती है ।
व्यय भगवान्के अर्पण होनेमे उमके सम्पूर्ण कर्म भी भगवदर्पित हो
जाते हैं । 'सर्वाणि कर्माणि मयि सन्यस्य मन्यरा पर्वोका सकेत
इसी अर्पणर्ता ओर है ।

* अनुन ! तू जो कुम रुग्ना , जो ग्राता है, जो इवन करता है,
जो दान देता । अर ना नप रुग्ना है, वह मन मेर अपण का ।

* तीर्गे जव्यानने तीर्गद 'लोकम 'अपात्मनेतमा मयि सर्वाणि
कर्माणि सन्यस्य' पदासे, पॉच्य अं रायके इमप श्लोकम 'प्रदाण्याधाय
कर्माणि' पदसि, नवै अध्यायषे अद्वाईमव इति भन्नामतोगुक्तात्मा पदसे,

भगवान्‌के लिये कर्म करनेके प्रियमें कई प्रकार हैं, जिन गीतामें 'मर्पण कर्म', मर्य कर्म, और 'मन्त्रम' नामसे चर्चा गया है।

१—'मदर्पण कर्म' उन कर्मोंको कहते हैं, जिनका उद्देश्य एक कुछ और हो, मिन्तु कर्म करते समय अथवा कर्म करनेके बारे उभगवान्‌के अर्पण कर दिया जाय।

२—'मदर्थ कर्म' वे कर्म हैं, जो प्रारम्भसे ही भगवान्‌के किये जायें अस्वा जो भगवत्सेवारूप हों। भगवत्प्राप्तिके लिये न करना, भगवान्‌की आज्ञा मानकर कर्म करना और भगवान्‌की प्रसन्नत लिये कर्म करना—ये सभी भगवदर्थ कर्म हैं।

३—भगवान्‌का ही होकर भगवान्‌के लिये सम्पूर्ण लोकित (व्यापार, नौकरी आदि) और भगवसम्बन्धी (जप, ध्यान आदि) कर्मोंको करना 'मत्कर्म' है।

वास्तवमें कर्म कैसे भी किये जायें, उनका उद्देश्य एकमात्र भगवप्राप्ति ही होना चाहिये।

जैसे भक्तियोगी अपनी क्रियाओंको भगवान्‌के अर्पण करने कर्मनन्दनसे मुक्त हो जाता है, वेसे ही ज्ञानयोगी क्रियाओंमें प्रकृतिः स्थानदेव अध्यायषे पचपनवै इत्येकमें 'मत्कर्मकृत्' पदमे, इसी अध्यायः दसवै श्लोकमें 'मत्कर्ममाग्मो भव' एव 'मदथप्रापि वमाणि कुर्वन्' पदमें अठाएवै अध्यायषे सत्तापनवै इत्येकमें 'चेतसा सप्तममाणि मयि सायद' पदमें और अठाएवै इत्येकमें 'सर्वधमात् परित्यज्य' पदमें कहाँ भगवान्‌के न्यन्तरसे कर्मप्रिय त्यागकी रात न फहकर उनके आप्रयके त्यागव यात ही कही दें।

हुई समझकर थपनेको उनसे सर्वथा असङ्ग और निर्लिपि अनुभव रहके कर्मवन्धनसे मुक्त होता हे ।

उपर्युक्त तीनो ही प्रकारों (मर्दपूर्ण-कर्म, मर्दर्थ-कर्म, मत्कर्म)- से सिद्धि प्राप्त करनेगले सामरका कर्मोंसे फिद्धिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं रहता, क्योंकि उसमें न तो फलेच्छा और कर्तृत्वाभिमान है और इन पदार्थोंमें और शरीर, मन, बुद्धि तभा इन्द्रियोंमें ममना ही है । जब कर्म करनेके सामन शरीर, मन, बुद्धि आदि ही अपने नहीं हैं, तो फिर कर्ममि ममता हो ही कंसे सकती है । इस प्रकार कर्मोंसे सर्वथा मुक्त हो जाना ही वाम्तपिक समर्पण है । सिद्धि पुरुषोंकी क्रियाओंका खत ही समर्पण होता है और सामन्क पूर्ण समर्पणका उद्देश्य रखकर वैसे ही कर्म करनेकी चेता करता है ।

मत्परा ——मेरे परायण हुए ।

परायण होनेका अर्थ है—भगवान्‌को परमपूज्य और सर्वश्रेष्ठ समझकर भगवान्‌के प्रति समर्पण-भावसे रहना । सर्वथा भगवान्‌के परायण होनेसे समृद्धि-उपासन अपने-आपको भगवान्‌का यन्त्र समझना है । अत शुभ क्रियाओंको यह भगवान्‌के द्वारा करवायी हुई मानता है एव ससारका उद्देश्यन रहनेके कारण उसमे भोगोंकी कामना नहीं रहती ओर कामना न रहनेके कारण उससे अशुभ क्रियाएँ होती ही नहीं ।*

* दूसरे अध्यायके इक्षुठवे श्लोकमें, उठे अध्यायके चौदहवे श्लोकमें और अठाहर्त्तर अध्यायके सत्तापनमें श्लोकमें 'मत्पर', पदसे, नौ अध्यायके चौंतीसवें श्लोकमें 'मत्परायण' पदमे तथा भ्यारहवें अध्यायके पचपनमें श्लोकमें 'मत्परम', पदसे और इसी (गारहवे) अध्यायके तीसवें श्लोकमें 'मत्परमा', पदसे भगवत्परायणताका ही निर्देश किया गया है ।

अनन्येन योगेन—अनन्ययोगसे अर्थात् अनन्यभक्तिसे ।

इन पर्वोंमें दृष्टमन्मनी आर उपायमन्मनी—शोरों प्रसारों
अनन्यनाका संकेत है अर्थात् उस साधकके दृष्ट भगवान् हो है
उनके मित्रा अन्य फोटो मननेयोग्य उमसी दण्डिमें ह ही नहीं औं
उनकी प्राप्तिके लिये आश्रय भी उन्हींका है । वह भगवद्गुणमें ह
साधनकी मिद्दि मानना है, अपने पुस्तपार्थ या साधनके गलसे नहीं
वह उपाय भी भगवान्को मानना है आर उपेत भी ।+

माम्—मुझ मणुण्डक्ष्य परमेश्वरकी ।

एव—ही ।

ध्यायन्त—(अनन्यग्रेम होनके कारण) तिन्तर चिन्त
करते हुए ।

उपासने—उपासना करते हैं ।

वे भक्त एक परमा माझा ही लक्ष्य येय गमयत जप शीर्नि
आनि करते हैं ॥ ८ ॥

अन्ये—

तेपामह समुद्धर्ता सृत्युससारमागरात् ।
भजामि नचिगापार्थं मन्यादेशितचेतनाम ॥ ९ ॥

* भाटन अ यायके चाढ़र इगरम 'अनन्यन्ता' पदमें आ
गाइमर्ते इगोरम 'ना यथा' पदसे, नरे अव्यायके तरार इगरम
'अनन्यमनस', पदमें जार तीसर्ते इगरम 'अनन्यभास', पदमें, तेसर्ते
अव्यायके दगड़ इगोरम 'अनन्याग्न', पदम, चार्ते अ यायके छब्बीसव
इलोकम 'अनन्यभिन्नाग्न' भक्तियोग्न, पदार तथा पदहर्ते अव्यायके
उप्रीमाँ इगरमें 'भास म गरनाम' पदम 'अनन्यभक्तियी दी
अभिव्यक्ति हुए हैं ।

भागार्थ—

पिठ्ठें इरोक्सम भगवान् ने प्रप्तं अनन्यप्रेमी भक्तोंके जो लक्षण
‘वन्वराय हैं, उन सपकाममाद्यार प्रस्तुत इरोक्समे ‘मद्यावेशितचेतसाम्’
(मुखमे चित्त आनेगाले) परमे किया गया है । ग्यारहवें अ यायके
पचपनवे इरोक्समे भगवान् ने अनन्यभक्तिके फलका वर्णन ‘मामेति’
(मुख प्रान होना हे) पदमे किया था । यहाँ भगवान् एक विशम वान
कहने हें कि म अपने प्रेमी भक्तोंको विन्द्वागाओंसे उत्तराते हुए उनका
मृग्युख्य समारन्मुद्रमे जीव ही उद्धार करनेवाला वन जाता हूँ ।

अन्य—

पार्थ, मधि, भावेशितचेतसाम्, तेषाम्, अहम्, मृग्युख्यसारमागरात्,
नचिगन्, समुद्धना, भवामि ॥ ७ ॥

पद-व्याख्या—

पार्थ—ह अर्जुन !

प्रथा (कुन्ती) का पुत्र होनेसे अर्जुनका एक नाम ‘पार्थ’ भी
है । ‘पार्थ’ सम्बोधन समानकी अर्जुनके साय प्रियता ओर घनिष्ठताका
धोनक है । गीतामे भगवान् न अडनीम वार ‘पार्थ’ सम्बोधनका प्रयोग
किया है । अर्जुनके अन्य सभी सम्बोधनोंकी अपेक्षा ‘पार्थ’ सम्बोधनका
प्रयोग जीविक नजा है । उसके गार मनसे अपिक प्रयोग ‘कौन्तेय’
सम्बोधनका नजा है, जिसकी आवृत्ति कुठ चावीम वार नहीं है ।

भगवान् को अर्जुनमे जन कोई पिशेष वात कहनी होती है या
कोई आदरासन देना होता है या उसके ग्रति भगवान् का पिशेषख्य से
ग्रेम उमडता है, तब भगवान् उन्हें ‘पार्थ’ कहकर पुकारते हैं । इस

सम्बोधनके प्रयोगसे मानो वे स्मरण करते हैं कि तुम मेरी बुँद
(पृथा—कुन्ती)के लड़के तो हो ही, सान-ही-साय मेरे घारे भ
और सबा भी हो (गीता ४ । ३) अन मैं तुम्हें किसे
गोपनीय बातें बताता हूँ और जो कुछ भी कहता हूँ, सत्यत
केवल तुम्हारे हितके लिये कहता हूँ ।

प्रस्तुत स्तोकमें 'पार्थ' सम्बोधनसे भगवान् विशेषस्त्वपसे ।
लक्ष्य करते हैं कि अपने ग्रेमी भक्तोका मे स्वयं तत्काल उद्धार
देता हूँ । यही नहीं, भगवान् अपने भक्तोका उद्धार करनेमें व
प्रसन्न होने हैं ।

**गीतामें विभिन्न स्थलोंपर आये 'पार्थ' सम्बोधन,
एवं उसकी विशेषताएँ**

अध्याय स्लोक

'पार्थ' सम्बोधनकी गिरो

- १-२५ अर्जुनके अन्त फरणमें अपने आत्मीय जनोंके प्रति जो मोह
पिघमान था, उसे जाग्रत् करनेके लिये भगवान्द्वारा
अर्जुनको सर्वप्रथम 'पार्थ' नामसे सम्बोधित करन
(कोटुम्बिक सम्बन्धमात्र स्त्री जानिसे ही होता है) ।
- २-३ पृथा (कुन्ती) के मन्देशमारी स्मृति लिलाकर अर्जुनके
अन्त फरणमें क्षत्रियोचित गीताका भाव जाग्रत्
करनेके लिये ।*

* इतीका सन्देश था—

एतद् धनव्यो गच्छो नित्योऽुक्तो शृङ्खोऽर ॥
यदये धनिया मून तस्य फालोऽयमागा ।

(महा० उत्तोगप० १३७ । ९१० ।

- २-२१ आमाके नित्य और अविनाशी स्वरूपकी ओर प्रिशेष-
रूपसे लक्ष्य करानेके लिये ।
- २-३२ कर्तव्यकी स्थृति दिलानेके लिये ।
- २-३० कर्मयोगके सामनकी ओर लक्ष्य करानेके लिये (भगवान्-
अर्जुनको कर्मयोगका अपिकारी मानते हैं । इसीलिये
उन्होने पहले कर्मयोगका उपदेश दिया) ।
- २-४२ कर्मयोगमें सुाय वाग मन्त्रामभावमी है । इसे हटानेके
उद्देश्यसे इमर्ही हानियोंकी ओर अर्जुनका ध्यान
आटष्ट कराकर कर्मयोगकी पुष्टि करनेके लिये ।
- २-५५ कर्मयोगमें निष्कामभावसे तुद्धि स्थिर हो जाती है—
इस ओर लक्ष्य करानेके लिये ।
- २-७२ निष्कामभावसे युक्त सामरकी नक्षमें ही स्थिति
(सारथयोगका अनुप्राप्ति किये प्रिना) होती है, यह
बनलानेके लिये ।
- ३-१६ अपने कर्तव्यका पास्त न करनेमें कितना दोष है,
यह समझानेके लिये ।
- ३-२२ अपना उदाहरण देकर भगवान् अन्वय-मुखसे कर्तव्य-
पालनकी आगश्यमताकी ओर ध्यान डिलाते हैं ।
- ३-२३ प्रिहित-कर्माको सामग्रीपूर्वक न करनेसे कितनी हानि
होता है, इसे व्यतिरेक-मुखसे बनलानेके लिये ।

नुम अर्जुनसे तथा युद्धके लिये सदा उत्तम रहनेवाले भीमसे
यह कहना कि जिस कायके लिये भविय माता पुत्र उत्पन्न करती है,
अब उसका समय आ गया है ।

- ४-१२ अपने स्वभावका रहस्य बनलानेके लिये ।
- ४-३३ तत्प्रज्ञानकी प्राप्ति हो जानेपर कुछ भी नरना, पा-
ओर जानना शेष नहीं रहता, इस महत्त्वपूर्ण मिति।
ओर ध्यान डिलानेके लिये ।
- ६-४० अयधिक घबराये हुए अर्जुनको आशासन देते हुए उ-
बड़े प्यासे वर्य पैंगाते हुए भगवान् उन्हे 'पार्थ' औं
'तानः' कहकर पुकारते हैं ('तान' सम्बोधन गीतामें
केवल इसी जगह आया है) ।
- ७-७ समग्ररूपकी विशेषता गिना पूछ ही कृष्णपूर्वक
बनलाते हुए ।
- ७-१० मैं ही सब प्राणियोंका कारणरूप भीज हूँ, एमो अपन
विशेष महत्त्व बतानेके लिये ।
- अन्तकालीन गतिके विश्वमें अर्जुनके ग्रन्थपर आटरें अयायमें
प्रारम्भ हुआ । अर्जुन अपने ग्रन्थका उच्चर यानपूर्वक सुनें, 'सत्य'
आटरें अयायमें ही 'पार्थ' सम्बोधनका पाँच गार प्रयोग हआ ह ।
- ८-८ अन्तकालीन गति भगवान्में ही हो—इस ओर इसा
करानेके लिये ।
- ८-१४ अनन्य प्रेमी भक्तोंको अपनी सुलभतामी और उत्तम
करानेके लिये ('सुलभ' अर्थ 'गीतामें एक ही गा-
यहा आया है') ।
- ८-१५ जगत्का न्याय प्राप्ति नहीं हांगी, नगनक यन्मुकुरणश्च
न्यन रहेगा ही—इस बाता ओर ध्यान
दिलानेके लिये ।

- ८-२२ जन्म-मरणरूप प्राप्ति से उड़नेके लिये अनन्य भक्ति ही
सख्त उपाय है—यह समवानेके लिये ।
- ८-२७ शुद्ध आर कृष्ण-मार्गको जाननेसे निष्कामभावकी प्राप्ति
सहज ही हो सकती है—यह बनवानेके लिये ।
- १०-१३ मामान्य मनुष्योर्का अपेक्षा सापरक्ती रिक्षणता
बतलानेके लिये ।
- १०-३२ गरण होनेपर अनेक जन्मोंके पापीका भी उद्धार कर देता
है—आरणागतिके इस महत्वकी ओर ध्यान आकृष्ट
करानेके लिये ।
- १०-२४ मनुष्योंमें बुद्धिकी श्रेष्ठता बतलानेके लिये ।
बृहस्पतिजी देवताओंके गुम और बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ हैं ।
उन्हे अपनी पिभूति बतलाकर बुद्धिकी श्रेष्ठताका
निरूपण करते हैं ।
- ११-१ किमी भी उपायसे निम विश्वरूपके दर्शन नहीं हो
सकते (११। ४८), केवल वृष्णि से उमके दर्शन
करते हुए अर्तुनको ‘पार्व’ नामसे सम्बोधित करते हैं ।
इसका भाव भागर्भमें दिया जा चुका है ।
- १२-७ आसुरी सम्पत्तिका सक्षेपसे वर्णन करते हुए उससे
सापगान करनेके लिये ।
- १६-४ पित्तामे आसुरी सम्पदाका सारूप बनवानेके लिये,
क्योंकि सापको लिये आसुरी सम्पदाका त्याग करना
अन्त आमर्यक है ।

- १७-२६ अर्जुनको सत् (परमात्मा) की ओर लक्ष्य करा-
लिये—सतकी ओर चलनेसे सभी कर्म सकर्म वै
सभी भाव सद्ग्राम हो जाते हैं, यह बतलानेके लिये
१७-२८ श्रद्धासहित कर्म करना ही देवी सम्पदा है, इस +
लक्ष्य करानेके लिये ।

गीताके अठारहनें अथायमें सभी पूर्वगतीं अव्यायोंके सु
उपदेशोका सार होनेसे भगवान्‌ने आठ बार 'पार्य' सम्बोधनका प्रयं
किया है ।

- १८-६ कर्मयोगके रिपयमें अपना निश्चित किया हुआ उर-
मन बतलानेके लिये ।

- १८-३० सात्त्विक बुद्धि धारण करानेके लिये (जिन्हें
होते हैं, बुद्धिके प्रकाशसे ही होते हैं । अत सामर्कन
चाहिये कि हर समय अपनी बुद्धिको सात्त्विक ही
रखनेका प्रयास करे) ।

- १८-३१ राजसी बुद्धिका त्याग करानेके लिये ।

- १८-३२ तामसी बुद्धिका त्याग करानेके लिये ।

- १८-३३ सात्त्विक धृति धारण करानेके लिये (सात्त्विक धृति—
प्रिवेकमें दृढ़ रहना सामरकरूपसे लिये प्रियोरहपसे
आपश्यक है । अत सामरकको चाहिये कि हर समय
सात्त्विक धृति धारण करनेका प्रयास करे) ।

- १८-३४ राजसी धृतिमा त्याग करानेके लिये ।

- १८-३५ तामसी धृतिमा त्याग करानेके लिये । (प्रत्येक कार्यको
कार्यको विपरीते उपर्युक्त उपर्युक्त उपर्युक्त उपर्युक्त)

धर्यपूर्वक अर्थात् उकलाये पिना करना—उद्धि एव
भृतिका क्रमण प्रवेचन करनेमा यही तार्पण है ।
ज्ञानयोगके सामनमे सात्त्विक बुद्धि एव वृत्तिकी प्रियेय
आपश्यस्ता है ।)

१८-७२ उपदेशके अन्तिम छ्लोकमें ‘पार्य’ सम्बोधन देकर
अर्जुनकी स्थिति जाननेके लिये सर्वज्ञ होते हुए भी
भगवान् प्रश्न करते हैं कि तुमने मेरे उपदेशको
ध्यानपूर्वक सुना कि नहा ? यहि मेरे उपदेशको
ध्यानपूर्वक सुना है, तो तुम्हारा मोह अपश्य ही नष्ट
हो जाना चाहिये ।

१९ मयि आवेशितचेतसाम् तेषाम्—मुझमें चित्त लगानेगाले उन
प्रेमी भक्तोका ।

२० जिन साधकोंका लक्ष्य, उद्देश्य, व्येय भगवान् ही बन गये हैं,
और जिन्होंने भगवान्में ही अनन्य प्रेमपूर्वक अपने चित्तको लगा
दिया है तथा जो स्वयं भी भगवान्में ही लगा गये हैं, उन्हींके लिये
यह पद आया है ।

२१ अहम्—मै ।

२२ मृत्युससारसागरात्—मृत्युख्य ससार-समुद्रसे ।

२३ जैसे समुद्रमें जल-ही-जल होता है, वैसे ही ससारमें मृत्यु-ही-
मृत्यु है । ससारमें उपन्न होनेगाली कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है, जो
कभी क्षणभरके लिये भी मृत्युके व्येष्ठोमे बचती हो अर्थात् उन्पन्न
होनेगाली प्रत्येक वस्तु प्रनिक्षण मृत्युकी ओर ही जा रही है ।
२४ इसलिये ससारको ‘मृत्यु ससार सागर’ कहा गया है ।

मनुष्यमें स्वभावत अनुकूल और प्रनिकूल—दोनों हैं रहती है। ससारकी घटना, परिस्थिति तथा प्राणी-पदार्थमें अनु प्रनिकूल वृत्तियाँ राग-द्वेष उपन्न करके मनुष्यको ससाम दौड़ हैं। ४ यहौंनक देखा जाना है कि सापक भी सम्प्रशाय पिशें सत पिशेपमें अनुकूल-प्रनिकूल भावना करके राग-द्वेषको छिपा जात है, निससे वे समार-समुद्रमें झील पार नहीं हो पाने। ५ कि तत्त्वको चाहनेवाले सापको छिपे सम्प्रशायिताका पक्षपत वापक है। सम्प्रशायका मोहपूर्वक आग्रह अनुष्यको गोपन गानाम भगवान्ने स्थान-स्थानपर इन द्वन्द्वों (राग और द्वेष) से होनेके लिये प्रियोप नोर दिया है। ६

यदि सापक भक्त अपनी सारी अनुकूलताएँ भगवान्म अर्थात् एकमात्र भगवानसे ही अनन्य प्रेमका सम्बन्ध जोड़ ले सारी प्रनिकूलताएँ समामें कर ले अर्थात् समारकी संग अनुकूलताकी इच्छामें प्रियोप हो जाय, तो वह इस मसार

० इच्छादेपसमुद्देश द्वन्द्वमोलेन भावत ।
सर्वभतानि सम्मोह नर्गे भान्ति परतप ॥

(गीता ७ । १)

ऐ भगवानी जरुन ! समाम इच्छा और द्वेषमे जप्त दु दु गादि द्वन्द्वरूप मोहमे साधुण प्राणी अन्त भगवानाको प्राप्त हो ८ ।

१ द्वन्द्वग्राय—जिह्वाद, (८ । ४६), निर्द्वाद्वो दि मदानी (८ । ३), त द्वन्द्वमो-निर्द्वाद, (८ । ४८), द्वन्द्वेत्तिर्द्वाद (८ । ५), ए द्वन्द्वकृशल रम तुण्डि गानुपञ्चते, (८ । ५०) पापदेवा द्वन्द्वना (८ । ५५) ।

— निशीत्र सर्वथा मुक्त हो सन्ता ॥ । ससारमे अनुकूल ओर प्रनिकूल
— त्तियोका ही स्वना ससारमे त्रैवना है ।

— जीव परमामाका ही अज है, परतु उसने प्रकृति अर्थात्
अरीरमे अपना सम्बन्ध मान रखा है । चेन्न परमात्माके अज एव
जड़ प्रकृतिके सम्बन्धमे ही जीवमे 'अहभाव' अर्थात् 'मैपन' होता
है ॥ १० । जीवने भल्लमे अपना सम्बन्ध अरीरके माय अयन्त घनिष्ठतासे
जोड़ छिया, जिससे वह अपनेको अरीर महुँ एव अरीर मेरा है'—
— ऐसा मानना है । अरीराडि पदार्थमि अहता और ममता करके वह
इनसार-बन्धनम त्रैव जाता है । प्रकृतिके कार्य मत्तार, अरीर आटिमे
केमी भी प्रकारका सम्बन्ध जोड़ना ही जन्म-मरणका हेतु है ।
— यदि मायक पिचारपूर्वक 'मैपन' के आगर परमामाको ठीक-ठीक
ममझकर (कि 'म' (अह) प्रकृतिका कार्य है ओर मैपनका आधार
प्राप्तिक सत्ता परमामा है ।) अटकारहित हो जाय अर्थात् अपनी
मानी हुई सत्ताका अभाव कर दे तो सुगमतापूर्वक ममारसे मुक्त होकर
कृतदृश्य हो ममता है ।

। । परमामाका अज होनेके काण नीव परमात्मासे अभिन्न है
। । एव जड़ प्रकृतिके अज गरीबीमे सर्वथा भिन्न है, किंतु शूलसे
। । शरीरके साथ 'मे'का सम्बन्ध जोड लेनेमे जीवको परमामाके माय
। । स्वत रहनेवाली अपनी अभिन्नता एव जड़ प्रकृति (गरीराडि) के

१ काण उगसज्जोऽस्य मदमयोनिन्ममु ॥ (गीता ४ । २५)

२ गोका उद्ध नी इम जीवा मावे अन्ती उगी योनियाम ज म अनेका

३ काण २ ।

साय स्वत रहनेगाली भिन्नाभी पिस्तृनि हो जाती है। यदि वह इस पिस्तृतिको हटाकर परमात्मामें अपनी स्वत मिद्र अभिन्नता अनुभव कर ले तथा जड-नाशवान् प्रकृति और प्रकृतिके कार्य एवं स्वरूप से (जिसके साय 'खय' का सम्बन्ध कभी हूआ नहीं है नहीं और होना सम्भव ही नहीं, केवल भूलसे ही जीवने सम्बन्ध मान रखा है) माने हुए सम्बन्धमो छोड़ दे, तो इस मृत्यु-समाप्ति सागरसे सदाके लिये सहज ही मुक्त हो सकता है।*

* गीताके निम्नलिखित पदमें भी मृत्यु-समाप्ति सागरकी ओर सर्व किया गया है—दूसरे अध्यायके उनतालीसवें इत्योऽपम 'कर्मणा परम्' परम-जन्मान्तरमें किये हुए शुभ अशुभ कर्मोंके सचित सत्कार-समुदाय चाचक हैं। जपतक कर्मोंका प्रधन है, तथतक मनुष्य आगरामनन्वश नहीं छूट सकता। इसलिये उसारको 'कर्मणा परम्' कहा गया है। दूसरे अध्यायमें ही चालीसवें इत्योऽपमें 'महतो भयात्' पद जाम-मृत्युन्त्र मरण भयका गोधर होनेमें 'मृत्यु-समाप्ति-सागर'के अर्थमें ही आया है, और पचासवें इत्योऽपमें 'सुदृढतदुष्टते' पदसे, परं अध्यायके अठाईसवें इत्योऽपमें 'गुभात्' परं, या 'कर्मणा धनै', पदसि एवं 'अठारहप अध्यायके गारहवें इत्योऽपमें 'अनिष्टमिष्ट मिथ फलम्' पदसि मृत्यु-समाप्ति-सागरका ही दर्शन किया गया है, क्यांकि वहीं गिरफ्तर अर्थात् समाप्ति-जाम लेवर ही जाम कर्म-समुदायके कर्मन्य पाप पुण्योंका भोगना है। चौथे अध्यायमें सोइसवें इत्योऽपमें तथा ७वें अध्यायमें पदहें इत्योऽपमें 'अनुभात्' पद मृत्यु-समाप्ति-सागरमें अर्थमें ही आया है, क्योंकि उसागरा प्रधा ही अशुभ है। आठवें अध्यायमें पदद्वें १०वें इत्योऽपमें 'पुत्रालयम् अशाश्वतम्' पदमें भराग्ना योनि कराया गया है। जैसे श्रीपरमात्ममें औपध ही होती है, ऐसे ही सगार दृश्य ही दृश्य है।

८। नचिरात् समुद्दर्ता भवामि—शीत्र ही सब प्रकारसे उद्धार
—रनेगाला होता हूँ ।

भगवान्‌का यह सामान्य नियम है कि जो जिस भावसे उनका
जन करता है, उसी भावसे भगवान् भी उसका भजन करते हैं—
ये यथा मा प्रपद्यन्ते तास्त्वयैव भजाम्यहम्' (गीता ४ । ११) ।
कृत वे कहते हैं कि यद्यपि मैं सबमें समभावसे स्थित हूँ—‘ममोऽह
'नर्वभूतेषु' (गीता ९ । २९), तथापि जिनका एकमात्र प्रिय मैं हूँ,
जो मेरे लिये ही सम्पूर्ण कर्म करते हैं, और मेरे परायण होकर नित्य-
नरन्तर मेरे ही ध्यान-जप-चिन्तन आदिमे लगे रहते हैं, ऐसे भक्तोंमा
में सब्य सम्यक् प्रकारसे उद्धार करता हूँ* ॥ ७ ॥

‘होनेके कारण ‘अशाश्वत’ है । नवें अध्यायके तीनीसर्वे श्लोकमें ‘अनित्यम्
अमुखम् लोकम्’ पदोंसे भी भसारका ही नोध कराया गया है । सरार सदा,
नित्य नहीं रहता, इसलिये उसे ‘अनित्य’ कहा गया है । भोगोंमें सुरक्षी
प्रतीति होते हुए भी वास्तवमें उनमें सुर नहीं है अर्थात् ससारमें कहीं सुर
ही नहीं, इसलिये इसे ‘अमुखम्’ कहा गया है ।

* इस पदफे अन्तगत भगवान्के ये भाव भी समाहित समझने
चाहिये कि चट सगुणोपासक मेरी वृपासे साधनकी सर विज्ञ-वाधाओंसे
पार करके मेरी वृपासे ही मेरी प्राप्ति कर देता है (गीता १८ । ५६-५८),
साधनकी कमोको पूरा करके मैं उमे अपनी प्राप्ति करा देता हूँ (गीता १ । २२), उन्ह अपने समग्रलूपमे समझनेकी शक्ति देता हूँ (गीता १० । ०), उन्ये अन्त ऊरगमे स्थित हुआ तत्त्वज्ञानसे उन्ये अज्ञान
जित अन्यकारका नाश कर देता हूँ (गीता १० । ११) और उहै
सम्पूर्ण पापोंमे मुक्त कर देता हूँ (गीता १८ । ६६) ।

सम्पर्ख—

भगवान्‌ने दूसरे इलोकमें सगुण-उपासनाको व्रष्टि दा
यतलाया तभा छठे और सातवें इलोकम यह जात कही कि
भक्तोंका मैं शीघ्र उद्धार करता हूँ । इसलिये अब भगवान् अर्जुन
ऐसा श्रेष्ठ योगी प्रनन्दनके लिये आठवें इलोकमें समर्पणयोगस्त्रप सामन
वर्णन करके नहें, दसवें और च्याहरहें इलोकम करमज्ञ जम्या
योग, भगवदर्थ कर्म और सर्वकर्मफलत्यागस्त्रप साधनोंका व
करते हैं ।

श्लोक—

मर्येव मन आधत्स्य मयि बुद्धि निवेशय ।
निवनिष्पसि मर्येव जन ऊर्ध्वं न नशय ॥ ८ ॥

भागार्थ—

भगवान् अर्जुनको आङ्गा देते हुए कहते हैं कि तू मन-बुद्धि
समारको किसी प्राणी-पश्चारमें न लगाकर मुक्तमें ही लगा । इस प्रे-
मन-बुद्धि सर्वथा मुखमें लगानेमें तू उसी भण मुखे ही प्राप हो ॥
इसमें रोद्द मशय नहीं ।

बुद्धिको भगवान्से लगानेका अर्थ यह है कि बुद्धिमें 'भगवान्'
को ही प्राप करना हे, ऐसा निश्चय रहे और मनको उनमें लगानेका
भाव यह है कि मनमें प्रेषपूर्वक भगवानका ही चिन्तन होना रह ।
तापर्य यह है कि मन-बुद्धि भगवान्को ही है, मेरे नहीं—ऐसा ही
भाव करना रहे । मन-बुद्धिम ममारपा महत्त्व पर ममार्की प्रियता
रहनेके पापण भगवान् जगत्त सर्वाप होने हए भी अनि दूर प्रनीत
रहने हैं । भगव-आप ('व्य') को भगवान्के अर्पण कर रहनेमें

(कि मे केवल भगवान्‌मा ही है) मन-बुद्धि सुगमतासे स्त भगवान्‌मे लग जाते हैं । प्से सामर्ज्ञको भगवान्‌की स्मृति तो वनी ही ही रहती है, पर कभी भगवान्‌की स्मृति स्वन्दपमे न रहनेपर भी । उसका सम्बन्ध निरन्तर भागवान्‌से वना रहता है, वेमे ही जेमे पनि-की स्मृति निरन्तर न रहनेपर भी खीझा सम्बन्ध पनिमे वना ही रहता है ।

निवय—

मयि, मन, आधत्स्व, मयि, पूज, उद्घिम्, निवेशय, वत्, अर्जुनम्, मयि, एव, नियमित्यमि, (अत्र,) न, मशय ॥ ८ ॥

पद याम्या

मयि मन आधत्स्व मयि एव उद्घिम् निवेशय—
मुझमें मनको लगा और मुझमें ही बुद्धिको लगा ।

भगवान्‌के मतमे वे ही पुरुष उत्तम योगवेत्ता हैं, जिन्हें भगवान्‌के साथ अपने निययोगका अनुभव हो गया है । सभी सावकोको उत्तम योगवेत्ता वनानेके उद्देश्यसे भगवान्‌ अर्जुनको निमित्त वनाकर यह आज्ञा देते हैं कि मुझ परमेश्वरको ही परमश्रेष्ठ और परम प्रापणीय मानकर बुद्धिको मुझमें लगा दे ओर मुझे ही अपना परम प्रियतम मानकर मनको मुझमें लगा दे । गास्त्रमें मन-बुद्धिको भगवान्‌के समर्पण करना ही मन बुद्धिको भगवान्‌में लगाना है ।

भगवान्‌में हमारी स्त मिद्र स्थिति (निययोग) है, परतु भगवान्‌में मन-बुद्धिके न लगानेके कारण हमे भगवान्‌के साथ अपने स्त मिद्र निय-सम्बन्धका अनुभव नहा होता । इसकिये भगवान्

कहते हैं कि मन-बुद्धिको मुझमें लगा, फिर तू मुझमें ही निवास करेगा (जो पहलेसे ही है) अर्थात् तुझे मुझमें अपनी सत मिद्र स्थिनिका अनुभव हो जायगा ।

मन-बुद्धि लगानीका तात्पर्य यह है कि अप्रतक मनुष्य निः मनसे जड़ सासारमें ममता, आमकिं, सुख-भोगकी इच्छा, आगा आहि के कारण बार-बार सासारका ही चिन्तन करता रहा है एव बुद्धिसे सासारमें ही अच्छे-बुरेका निश्चय करता रहा है, उम मनको सासारमें हटाकर भगवान्‌में लगाये एव बुद्धिके द्वारा दृढ़तामें निश्चय करे कि मैं केवल भगवान्‌का ही हूँ और केवल भगवान्‌ ही मेरे हैं तथा मेरे लिये सर्वोपरि, परमश्रेष्ठ एव परम प्रापणीय भगवान्‌ ही हैं । ऐसा दृढ़ निश्चय करनेसे समारका चिन्तन और महत्त्व समाप्त हो जायगा और एक भगवान्‌के साथ ही सम्बन्ध रह जायगा । यही मन-बुद्धिका भगवान्‌में लगाना है ।

मन-बुद्धि लगानमें भी बुद्धिका लगाना मुर्य है । निसी विषयमें पहले बुद्धिका ही निश्चय होता है और फिर बुद्धिके उस निश्चयको मन स्वीकार कर लेता है । सामन घरनमें भी पहले (उद्देश्य बनानेमें) बुद्धिकी प्रगतना होनी है, फिर मनकी प्रगतना होनी है । जिन पुरुषोंका लक्ष्य भगवप्राप्ति नहीं है, उनके मन-बुद्धि भी, वे जिस विषयों लगाना चाहेंगे, उस विषयमें लग सकते हैं । उम विषयों मन-बुद्धि लग जानेपर उन्हें भिक्षियों से प्राप्त हो सकती है, जितु (भगवप्राप्ति उद्देश्य न होनेने) भगवप्राप्ति नहीं हो सकती । अन सामरकों चाहिये कि बुद्धिसे यह दृढ़ निश्चय गरले

कि 'मुझे भगवत्प्राप्ति ही मरनी है ।' इस निश्चयमें बहुत शक्ति है । ऐसी निश्चयाभिका बुद्धि होनेमें सबसे बड़ी वागा है—भोग और सप्रहका सुख लेना । सुखकी आआसे ही मनुष्यकी वृत्तियाँ धन, मान-बङ्गार्द आदि पानेका उद्देश्य बनानी हैं, इसलिये उसकी बुद्धि बहुत भेदोगाली तथा अनन्त हो जाती है । * परतु यदि भगवत्प्राप्तिका ही एक दृढ़ निश्चय हो, तो इस निश्चयमें इतनी पवित्रता और शक्ति है कि दुराचारी-से-दुराचारी पुरुषको भी भगवान् साधु माननेके लिये तैयार हो जाते हैं । इस निश्चयमात्रके प्रभावसे वह शीर्ष ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेगाली परमशान्ति प्राप्त कर लेता है ।†

'मैं भगवान्-का ही हूँ और भगवान् ही मेरे हैं'—ऐसा निश्चय (साधककी दृष्टिमें) बुद्धिमें दुआ प्रनीत होता है, परतु वास्तवमें ऐसा नहीं है । बुद्धिमें ऐसा निश्चय दीखनेपर भी साधकको इस चातका पता नहीं होता कि वह 'खय' पहलेसे ही भगवान्-में स्थित है । वह चाहे इस चातको न भी जाने, पर सच्य यही है । 'खय' भगवान्-में स्थित होनेकी अचूक पहचान यही है कि इस सम्बन्धकी

* व्यप्तसायात्मिका बुद्धिरेषेऽ तु रुद्धनन्दन ।

व्युत्थाराता श्वनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवमायिनाम् ॥

(गीता २ । ८१)

† अपि चेत्सु दुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।

साधुरेय स मातव्य सम्यायवसितो हि स ॥

क्षिप्र भवति धमात्मा शशच्छान्ति निगच्छति ।

कोन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्त प्रणश्यति ॥

(गीता ९ । ३१)

पभी प्रिमुति नहीं होती । यदि यह केवल बुद्धिमी वत हो तो भूली भी जा सकती है, पर 'मे-पननी वानको सामन रभी नहीं भूल्सा । जसे, 'म प्रियाहित हूँ' यह बुद्धिका नहा अपितु 'मे-पननी निधय ह । इसीलिये मनुष्ण इस वानको कभी नहीं भूल्सा । यदि नोड यह निश्चय कर ले कि म अमुक गुरुका शिष्य हूँ, तो उस सम्बन्धके लिये कोड अभ्यास न बरनेपर भी यह निश्चय उनके भीतर अटल रहता है । स्मृतिमें तो स्मृति रहती ही है, प्रिमुतिमें भी सम्बन्धका अभाव नहीं होता जबोकि सम्बन्धका निश्चय 'मे-पनमें है । इस प्रकार समारम्भ माना दुआ सम्बन्ध भी जब स्मृति और प्रिमुति दोनों अपस्थाओंमें अटल रहता है, तब भगवान्‌के माय जो सदासे ही नियन्मन्यन्य है, उससी प्रिमुति के समें हो सकती है । जब 'मे भगवानका ही हूँ और भगवान्‌ही मेरे हैं'—इस प्रकार 'मे-पन (स्वय)को भगवान्में लग जानेसे मन-नुदि भी स्वत भगवान्में लग जाते हैं ।

मन बुद्धिमें भत्त परण—चतुष्प्रयत्ना अन्वर्तन है । मनके अन्वर्तन चित्त और बुद्धिके अन्वर्तन अहंकारका अन्वर्तन है । मन-बुद्धि भगवान्‌में लगनेसे अवकारन। उद्गममध्यान 'व्यय' भगवान्‌में लग जायगा और परिणामस्वरूप 'मे भगवानका ही हूँ और भावाए ही मेरे हैं' एवा भाव हो जायगा । अम भावमें निर्विकल्प अथवा होनेसे 'मे पन परमामामें लौत हो जायगा ।

मन-बुद्धिको भगवान्‌के अपित जरनेका उत्तम और श्रेष्ठ उपाय यह है—गायक अर्नेभासे पूर्ण मरात्मके भाव भगवान्‌ने ग्राहन

करे कि 'हे नाथ ! मन, बुद्धि आदि अपनेन होते वा भी मैंने मूलसे इन्हें अपना मान दिया (यदि ये वास्तवमें मेरे होते, तो इनपर मेरा पूर्ण नियन्त्रण होता । पर इनपर मेरा स्तोऽपश नहीं चलता ।) अत हे नाथ ! मेरे इस अपरागको क्षमा करो और ऐसा पठ प्रदान करो कि अप इन्हे कभी अपना न मान सकूँ । ऐसा आपके द्विये हुए बल्से ही हो मरता ह । इस प्रकार प्रार्थना करते हुए सख्तापूर्वक अपने-आपको भगवान्‌के समर्पित कर दे कि 'हे नाथ ! मे तो आपका ही हूँ थोड़ा आप ही मेरे हो ।' फिर सुझके द्विये निर्भय और निश्चिन्त हो जाय । कारण कि भय और चिन्ता मरनेसे मन, बुद्धि आदि में अपनापन और अग्रिम दृढ़ होता ह ।

पिशेष चात

साधारणतया अपना स्वरूप ('मे' पनमा आगर 'खय') मन, बुद्धि, शरीर आदिके माथ ढीरता ह, पर वास्तवमें इनके साथ हे नहीं । मामान्य स्वप्नसे प्रायक व्यक्ति यह अनुभव कर सकता ह कि वचपनसे लेकर अपतक शरीर, इन्द्रियों, मन, बुद्धि आदि सम-के-मन प्रबल गये, पर मै उही हूँ । - म 'म वर्तनेवाम नहीं हूँ' इस चातको बाजसे ही दृढ़तापूर्वक मान लेना चाहिये (साधारणतया मनुष्य बुद्धिसे ही समर्थनेकी चेता रहता ह, पर यहाँ स्वयसे जाननेकी चात ह) ।

पिचार करें—एक ओर अपना स्वरूप नहीं बदला, यह सभीका प्रयक्ष अनुभव ह और आस्तिको एव भगवान्में वद्वा रखनेवालेके भगवान् भी कभी नहीं बदले, दूसरी ओर शरीर-इन्द्रियों-मन-बुद्धि आदि सम-के-मन बदल गये और ससाग भी बदलता हुआ प्रयक्ष

दीखता है। इससे सिद्ध हुआ कि कभी न बदलनेवाले 'खय' और 'भगवान्' दोनों एक जानिके हैं, जब कि निरन्तर बदलनेवाले 'शरीर' और 'ससार' दोनों एक जानिके हैं। न बदलनेवाले 'खय' वै 'परमात्मा'-दोनों ही व्यक्तिरूपसे नहीं दीखते, जब कि बदलनेवाले शरीर और ससार—दोनों ही व्यक्तिरूपसे प्रत्यक्ष दीखते हैं। प्रकृतिरूप अश बदलनेवाले मन-वृद्धि-इन्द्रियाँ-शरीरादिको पकड़कर ही 'अह' (मैं) अपनेको बदलनेवाला मान लेता है। वास्तवमें 'अह'का जो सत्ताखालने आधार ('खय') है, वह कभी नहीं बदलता, क्योंकि वह परमात्मा अशरूप है।

'मैं'को होनेमें सन्देह नहीं, 'मैं'-पनका अभाव भी नहीं वास्तवमें 'मैं' क्या हूँ, इसका तो पता नहीं, पर 'मैं हूँ' इस होनेपर में थोड़ा भी सन्देह नहीं है। जेसे ससार प्रत्यक्ष दीखत, है, वही 'मैं'-पनका भी भाव होता है। अनग्व तत्त्वत 'मैं' क्या है इसकी खोज करना सामरके लिये बहुत उपयोगी है।

'मैं' क्या है, इसका तो पता नहीं, परतु समार (शरीर) क्या है, इसका तो पता है ही। समार (शरीर) उत्पत्ति, नियम याल है, सदा एकरूप रहनेवाला नहीं है—यह सरका अनुभव है। इस अनुभवको निरन्तर जाग्रत रखना चाहिये। यह नियम है कि ससार ओर 'मैं'—दोनोंमेंमें किसी एकथा भी टीकटीक शब्दोंनेपर दूसरेके लागूपना जान अपने जाप हो जाता है।

'मैं'का प्रकाशन और आगर (अपना सम्पद) चेनन औंस लिय है। इसन्तरे उपचिन्मात्रावाले जरुर समाजसे लगाया थे।

सम्बन्ध नहीं है । स्वरूपना तो भगवान्‌से सत सिद्ध सम्बन्ध है । इस सम्बन्धको पहचानना ही 'मे' की वास्तविकताका अनुभव करना है । इस सम्बन्धको पहचान लेनेपर मन-बुद्धिसत भगवान्‌में लग जायेगे* ।

जिन साधकोकी साधारिक ही भगवान्‌में श्रद्धा और प्रेम है, उनके लिये उपर्युक्त साधन अन्यत्त उपयोगी और सुलभ हैं† ।

अत ऊर्ध्वम्—इसके अनन्तर ।

इस पदका भाव यह है कि जिस क्षण मन-बुद्धि भगवान्‌में पूरी तरह लग जायेगे अर्थात् मन-बुद्धिमें किञ्चिन्मात्र अपनापन नहीं

* चेतन और अपिनाशावरूप (आत्मा) को ही यहाँ 'स्वय', 'अह' का आधार, वास्तविक 'मैं', 'मैं'का प्रकाशक और आवार आदि नामोंसे कहा गया ।

| इसी अध्यायके दूसरे श्लोकमें भगवान्‌ने अपने जिस म्वरूपके लिये 'माम्' और 'मयि' पदोंका प्रयोग किया है, उसीके लिये इस श्लोक में 'मयि' पद आया है ।

‘एव’ पद यहाँ अन्यतारे लिये आया है । भगवान्‌ने गीतामें स्थान-स्थानपर अपनी अनन्य भक्तिपर यहुत जोर दिया है । इतवे अध्यायके चौदहवें श्लोकमें 'मामेव' और अठाहवें अध्यायके छाउठवें श्लोकमें 'मामेकम्' पदोंसे इसी अनन्यताकी महत्ता कही गयी है ।

आठवें अध्यायके सातवें श्लोकमें 'मध्यर्पितमनोबुद्धि', पदके द्वारा साधकको भगवान्‌म मन बुद्धि अर्पित करनेये लिये कहा गया है । इसी (गारहवें) अध्यायके चौदहवें श्लोकमें 'मध्यर्पितमनोबुद्धि', पद जिसकी मन-बुद्धि भगवान्‌में सपथा अर्पित हो गये हैं, ऐसे सिद्ध भक्तये-लिये आया है ।

रहेगा, उसी भण भावप्राप्ति हो जायेगी। ऐसा नहीं है कि मन-बुद्धि पूर्णतया लानेके बारे भगवन् प्राप्तिमें जान्मा फोर्ड ब्रवर्न रह जाय।

मथि एव निवस्तिष्यसि (अत) न सशय —तू मुझमें भी नियास करेगा, (इसमें फोर्ड) सशय नहीं।

भगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन ! मुझमें ही मन-बुद्धि लगानेपर तू मुझमें ही नियास करेगा, इसमें सशय नहीं है। इन्हें यह आभास मिलता है कि अर्जुनके हृत्यमें शासयकी रेखा है, ताँ भगवान् 'न सशय' पद देने हैं। यदि शासयकी सम्भावना न होती, तो इस पदके दलेकी आपश्यकता ही नहीं पड़ती। मनुष्यके हृत्यमें मागरण यह वात बैठी है कि 'रूप अच्छे हैं'। आचरण अच्छे होंगे, एकान्तमें व्यान लगायेंगे, तभी परमामार्थी प्राप्ति होगी, और यदि इस प्रकार साधन नहीं कर पाये, तो परमामार्थी असम्भव है। इस आन्तिको दूर करनेके लिये भागवान् कहते हैं कि मेरी प्राप्तिका उद्देश्य रखकर मन-बुद्धिको मुझमें लगाना चिन्ह मूल्यवाही है, ये सर साधन मिठाकर भी उतने मूल्यवान् नहीं हैं। मरने, अपि मन-बुद्धि मुझमें लगानमें निधय ही मेरी प्राप्ति होंगी रसों फोर्ड शशय नहीं है —मर्यादितमनातुकिर्मिर्यस्यस्यगत्यन्। (गीता ८। ७)

जननर सुदिमें नगरका महरर है ओर मनसे भक्तार्था चिन्ह दोना रहता है, तन्नेत्र (परमामार्थे व्यापाविर स्थिति होने हर १) जपनी स्थिति मनाएं तो साधनी चाहिये। मनामें स्थिति जपने समारका मध्य रहनेमें मलारामने तूमना पड़ता है।

उपर्युक्त पदोंसे अर्जुनका सशय दूर करते हुए भगवान् कहते हैं कि तू यह चिन्ता मत कर कि मुझमें मन-बुद्धि सर्वथा लग जानेपर तेरी स्थिति कहाँ होगी । जिस क्षण तेरे मन-बुद्धि एकमात्र मुझमें सर्वथा लग जायेंगे, उसी क्षण तू मुझमें ही निवास करेगा ।

मन-बुद्धि भगवान्में लगानेमें अतिरिक्त साधकके लिये और मोई वर्तव्य नहीं है । मन भगवान्में लगानेसे ससारका चिन्तन नहीं होगा और बुद्धि भगवान्में लगानेसे साधक ससारके आश्रयसे रहित हो जायगा । ससारका फिसी प्रकारका चिन्तन और आश्रय न रहनेसे भगवान्का ही चिन्तन और भगवान्का ही आश्रय होगा । फलस्वरूप भगवान्की ही प्राप्ति होगी ।

यहाँ मनके साथ 'चित्त'को तथा बुद्धिके साथ 'अह'को भी प्रहण करना चाहिये, क्योंकि भगवान्में चित्त और अहके लो बिना 'तू मुझमें ही निवास करेगा' यह कहना सार्थक नहीं होगा ।

सम्पूर्ण सृष्टिके एकमात्र ईश्वर (परमात्मा) का ही साक्षात् अश यह जीवात्मा है । परतु यह इस सृष्टिके एक तुच्छ अश (शरीर, इंद्रियो, मन, बुद्धि आदि) को अपना मानकर इन्हें अपनी ओर खींचना है (गीता १५ । ७) अर्थात् इनका खामी वन बैठता है । वह (जीवात्मा) इस वातको सर्व भूल जाता है कि ये मन-बुद्धि आदि भी तो उसी जगदीश्वरकी समायि सृष्टिके ही एक अश हैं । मे उसी परमात्माका अश हूँ और सर्वदा उसीमें स्थित हूँ, इस सत्यको भूलकर वह अपनी अलग सत्ता मानने लगता है । जैसे, एक

करोडपतिका मूर्ख पुत्र उससे अब्द होकर अपनी पिशाच कोग
एक-दो कमरोंपर अपना अभिकार जमाकर अपनी उन्नति ममज्ज ले
हे, पर जब उसे अपनी भूठ समझमें आ जानी है, तब उसे ऊर्ज्ज्वल
का उत्तरानिकारी होनेमें कठिनाई नहीं होती । इमी लक्ष्यसे भाव
कहते हैं कि जब तू इन व्यष्टि मन-बुद्धिको मेरे अर्पित कर देणा (—
खत ही मेरे हैं, क्योंकि मैं ही समष्टि मन-बुद्धिका स्वामी हूँ),
स्वयं इनसे मुक्त होकर (वास्तवमें पहलेसे ही मेरा अब और मुझ
ही स्थित होनेके कारण) नि सन्देह मुझमें ही नियास झरेगा ।*

* चौथे अध्यायके चालीसवें द्व्योक्तमें ‘सदायात्मा’ और ‘सदायात्मन्’
पद उस पुरुषके लिये आये हैं, जिने प्रत्येक विषयमें उत्तम होना रुक्ष
है, जो अपना अविवेकके कारण विषयको ठीक समझ नहीं पाता और
महापुरुषोंके निषयमें भी उत्तम फरता रहता है । ऐसी समाप्तुदि
माध्यकी साधनामें मान् वाधक होती है ।

चौथे अध्यायके चालीसवें द्व्योक्तमें ‘सदायम्’ पद अशाके कारण
होनेवाली इहर, परलोक, आत्मा और जीव विषयक शक्तिप्रबोधने
आया है ।

उठे अध्यायके उत्तालीसवें द्व्योक्तमें आये हुए ‘सदायम्’ और
‘उत्तायम्नाम्ना’ पद ‘सिद्धिको प्राप्त न हुए माध्यका पनान ना नहीं हो जाए’
भ्रुनके इस साधकी ओग स्वयं पराते हैं ।

जीवाभर चाहे जैसी गृहिणीं क्यों न रही ही, यदि अन्तर्ज्ञन
राधकरो भगवत्स्तमण ही गया, तो उसके प्रभावमें वह निःउन्देह मुक्त है
जावगा—इस भावसे भगवानने आठवें अध्याद्यके पाँचवें द्व्योक्तमें स
उत्तम, पर दिया है ।

बो येता एव विमुक्तिको तत्त्वे जान देगा, उने नि मदेद भक्तिनेत्र
भाष दो जायगा—यह भाव प्रकट परतेवे जिन्हे दमरे अध्याद्ये रात्रें
द्व्योक्तमें ‘न साग्रह’ पर आया है ।

भगवान्‌ने सान्वें अयायके चौथे श्लोकमें पॉच महाभूत, मन, मुद्दि और अहकार—इस प्रकार आठ भागोमें प्रिमक्त अपनी 'अपरा' (जड़) प्रकृतिका वर्णन किया और पॉचवें श्लोकमें इसमें भिन्न अपनी जीवभूता 'परा' (चेनन) प्रकृतिका वर्णन किया । इन दोनों प्रकृतियोंको भगवान्‌ने अपनी कहा, अन इन दोनोंके सामी भगवान् हैं । इन दोनोंमें, जड़ प्रकृतिका कार्य होनेमें 'अपरा प्रकृति' तो निष्ठ है और चेनन परमामाका अत्र होनेसे 'परा प्रकृति' श्रेष्ठ है । (गीता १५ । ७) परतु परा प्रकृति (जीव) भूत्से अपरा प्रकृति-को अपनी तथा अपने लिये मानकर उससे त्रैं जानी है तथा जन्म-मरणके चक्रमें पड़ जाती है । (गीता १३ । २१) । इसलिये भगवान् प्रस्तुत श्लोकमें मानो यह कह रहे हैं कि मन-वुद्धिस्त्रैं अपरा प्रकृतिसे अपनापन हटाकर इन्हें मेरी ही मान ले, जो वास्तवमें मेरी ही है । इस प्रकार मन-वुद्धिको मेरे अर्दण करनेसे इनके साथ भूलसे माना हुआ सम्बन्ध टूट जायगा और तुझे मेरे साथ अपने खत मिद्द नित्य-मन्त्रका अनुभव हो जायगा ।

भगवत्प्राप्ति-सम्बन्धी प्रिशेष यात

भगवान्‌की प्राप्ति किमी मायनप्रिशेषसे नहीं होती । कारण कि ध्यानादि साधन शरीर-मन-वुद्धि-इन्द्रियोंके आश्रयसे होते हैं । शरीर मन-वुद्धि-इन्द्रियों आदि प्रकृतिके कार्य होनेसे जड़ नस्तुएँ हैं ।

जह पदार्थके द्वारा चिन्मय भगवान् खरीदे नहा जा सकते, क्यै प्रकृतिके सम्पूर्ण पदार्थ मिल्कर भी चिन्मय परमात्माके तुच्छ नहीं हो सकते ।

सासारिक पदार्थ कर्म (पुस्पार्थ) करनेसे ही प्राप्त होते अत सापक भगवान्की प्राप्तिको भी सामाजिक ही कर्मसे होनेमान लेता है । इसलिये भगवत्प्राप्तिके सम्बन्धमें भी यह यही रुख है कि मेरेद्वारा किये जानेवाले सामनसे ही भगवप्राप्ति होगी ।

मनु-शतान्पा, पर्वती आदिको तपस्यासे ही अपने इष्टमहादेव—इनिहास-पुराणादिमें इस प्रकारकी कथाएँ पढ़नेमुननेमेसात अन्त करणमें ऐसी छाप पड़ जानी है कि साधनके द्वारा ही भगव मिलते हैं और उसकी यह धारणा क्रमशः दृढ़ होती रहती है, कि सामनसे ही भगवान् मिलते हैं, ऐसी बात वस्तुत है कि तपस्यानि सामनोंसे जहाँ भगवान्की प्राप्ति हुई दीवनी है, वहाँ नह जदके साथ माने हुए सम्बन्धका सर्वया निष्ठेद होती ही हुई है, न कि सामनोंसे । सामनकी सार्थकता शमावन (जो साथ माने हुए सम्बन्ध) वा त्याग करनेमें ही है । भगवान् सुन्दर सर्वामर्या सत प्राप्त है ही, यिन्तु जदके साथ माने हुए सम्बन्ध सर्वया त्याग होनेपर ही उनकी प्रब्यक्ष अनुभूति होनी है । इसी भगवप्राप्ति जदनाके द्वारा नहीं, अपितु उदनाके त्याग (सम्बन्ध निष्ठेद में होती है) । उह जो कामक अपने सामनके इन्हें प्राप्त करनोंहैं, वे यही धर्त्तोंहैं । कामयी सार्थकता करउ यहाँ त्याग पराओंहैं—इस गत्यत्तों न समझकर रातों करना है

और उसमा आश्रय लेनेसे सावरका जड़के साथ सम्बन्ध बना रहता है। जबतक हृदयमे जड़ताका किञ्चित् भी आढ़र है, तबतक भगवत्प्राप्ति नहिं है। इसलिये सामरको चाहिये कि 'वह सामनकी सहायतासे जड़ताके साथ सर्वथा सम्बन्ध-पिछेद कर ले।

एकमात्र भावप्राप्तिके उद्देश्यसे किये जानेगाले सामनसे प्रकृत करण शुद्ध हो जानेके कारण जड़तामा सम्बन्ध सुगमतापूर्वक छूट जाता है। जड़तामे सर्वथा सम्बन्ध-पिछेद करनेके तीन मुख्य पामन हैं—

(१) कर्मयोग—गाखनिहित कियाका नाम 'कर्म' और समताका नाम 'योग' है—'समत्व योग उच्यते' (गीता २। ४८)। सिद्धिअसिद्धिमे सम रहते हुए फल और आसक्तिका त्याग करके गाखनिहित कर्तव्य-कर्मोंको करना 'कर्मयोग' है। कर्मयोगका सामर जब निष्कामभावमे शाखनिहित कर्तव्य-कर्म करता है, तब फलकी इच्छा न होनेसे विकार कर्म उसे वैग्नेगाले नहीं होते। निषिद्ध कर्म (पाप) तो उसके द्वारा होते ही नहीं, क्योंकि निषिद्ध कर्म होनेमें 'कामना' हेतु है (गीता ३। ३७) जब कि कर्मयोगका मावक सर्वप्रथम कामनाओं त्यागकर ही कर्तव्य-कर्ममि प्रवृत्त होता है।

कर्मयोगीको मत्तमङ्ग, मत्त-आख और स्त-पिचारसे इस वर्तका जान हो जाता है कि पर्याय, शरीर, इन्द्रियों, मन, वुद्धि आदि उसके अपने नहीं हैं, अधितु उसे जगत्मे मिले हैं। जो अपने नहीं है, वे अपने लिये हो ही कर्मे मजले हैं। ये सब जगत्के हैं और जगत्के लिये ही हैं। भूम्से इन्हें अपना और अपने लिये मान लिया गया था।

अत जगत्‌से मिले हुए पदार्थोंको जगत्‌की सेवामें लगाना ही ईमानदारी है । उनसे अपने त्रिये कुछ भी चाहना ईमानदारी नहीं है । जो वह जिसकी है, उसे उसीकी सेवामें लगा देना चाहिये और उन सेवक्यनेका अभिमान भी नहीं आने देना चाहिये । निसकी वस्तु ही उसीकी सेवामें वह वस्तु लगा देना कौन-सा बड़ा फ़ाम है, किंतु अभिमान पैदा हो ।

अपने त्रिये कुछ न करने और न चाहनेसे अपनेमें फर्त्त्यू भौक्तृत्य नहीं रहता तथा योग सिद्र हो जाता है* । योगकी विश्वासी होनेपर शान्तिकी प्राप्ति हो जाती है, जो परमात्माकी प्राप्तिमें ही है । उस शान्तिका भी उपभोग न करनेसे मूल्य रहता भौक्तृत्य भी मिट जाता है इस प्रकार कर्मयोगी अन्य विभी मार्गों अपलब्धन लिये रिना ही अवश्य ही अपनेमें अपने नरस्परका साथ्य रख लेता है—‘तत्स्वयं योगससिद्ध कालेनामनि विद्वा’ (गीता ४ । ३८) ।

० कर्मयोगीका पर्त्त्यू (अभिनयकताकी भौति) खेल किए परनेमें समयतक रहता है । यद अपनेमें पर्त्त्यू निरन्तर नहीं मानता तो कर्त्त्यू निरन्तर अपनोमें मान लिया जाता है, यद पर्त्त्यू ही योगीका दोता है । अपनो लिये कुछ न चाहोसे नित्य-निरन्तर अपनेमें पर्त्त्यू मारवा नहीं रहती । अपने लिय यिद्धि-माप भी चाहना शेषों पर्त्त्यू भाव रहता है, अन्यथा कर्त्त्यू रह ही नहीं सकता ।

॥ आरुण्यामुनेयोगा कम पारणमुच्यन् ॥

योगास्त्रदम्य तर्पतः कम पारणमुच्यन्ते ॥

(गीता ६ । १)

(२) ज्ञानयोग—प्रकृति-पुरुष, जड़-चेतनके पिवेकद्वारा

अपनेको जडतासे सर्वथा निर्गिरि, असङ्ग अनुभव करना 'ज्ञानयोग' है ।

“शरीर मैं नहीं हूँ, शरीर मेरा नहीं है, शरीरसे होनेवाली कियाएँ भी

मेरी तथा मेरे क्षिये नहीं हैं, स्थूल, सूक्ष्म और कारण—तीनों ही शरीर

केवल प्रकृतिके हैं—ऐसा पिवेक होनेसे जो अपना स्वरूप नहीं है,

उसकी निवृत्ति और नित्यसिद्ध स्वरूपकी प्राप्ति खत हो जाती है ।

(३) भक्तियोग—एकत्मात्र भगवान्‌में मेरेपनके भावको (मैं

भगवान्‌का ही हूँ और भगवान्‌ही मेरे हैं—इस भावको) अखण्ड-

रूपसे जाग्रत रखकर जड सासारसे सर्वथा पिमुख हो जाना

'भक्तियोग' है ।

भक्तियोगका साधक प्रारम्भसे ही किसी वस्तुको अपनी नहीं

मानता । वह तो वस्तुमात्र (व्यक्ति, शरीर, इन्द्रियों, प्राण, मन,

बुद्धि आदि) को भगवान्‌की ही मानता है । सब कुछ भगवान्‌का

माननेमें जो आनन्द है, उससे पिंडोर होकर वह अपने-आपको

भगवान्‌के प्रति समर्पित कर देता है अर्थात् भगवान्‌के हाथकी कठ-

पुतड़ी बन जाता है । इस प्रमाण समर्पित होनेपर भगवान्‌की ओसे

जो मिलेगा, वह किसी ज्ञानयोगी या कर्मयोगीको मिलनेवाली वस्तुसे

कम कैसे होगा ?* उसे मिलेगा वह पिण्डुद्ध प्रेम, जिसके परस्पर

* तेषा सततयुक्ताना भवता प्रीतिपूवकम् ।

ददामि बुद्धियोग त चेन मामुपयान्ति ते ॥

तेषामेवानुकम्पाथमहमजानज तम ।

नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥

(गीता १० । १० ११)

आदान-प्रदानके लिये भगवान् भी लालयित रहते हैं। पहले प्र प्रतिक्षण वढ़ता ही रहता है।

कर्मयोगमें मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, शरीर आदि जड़ पदार्थों ससारके ही मानकर ससार (प्राणिमात्र) की ही सेवामें लगा दूर जड़तासे सम्बन्ध-पिछेड़ हो जाता है।

ज्ञानयोगमें मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, शरीर आदि सब पर प्रकृतिके हैं, उनमा चेतन-स्वरूपके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है-ऐसा ज्ञान लेनेसे जड़तासे सम्बन्ध-पिछेड़ हो जाता है।

भक्तियोगमें मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, शरीर आदि सब पदार्थ भगवान्के ही मानकर उन्हें (समारकी सेवाको भगवत्सेवा मानकर भगवान्की सेवामें लगा देनेसे जड़तासे सम्बन्ध-पिछेड़ जाता है ॥ ८ ॥

इति—

अथ चित्त समाधातु न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।

मम्यासयोगेन ततो मामिच्छातुं धनञ्जय ॥ ९ ॥

भावार्ग—

दे अर्जुन ! यदि त मन-बुद्धिको भगवान्मानि मेरे अपित अन्तें अर्थात् उनपरमे अपनापा हाथानेमें अपनेस्तो अमर्त्य मानन्हैं,

“उन चिन्नारे द्वारा आदिं एव शुष्टु और प्राप्तूदक भक्तर् भक्तान्हों में ये तत्त्व नमन्य ने न ऐता है, किन्तु उन्होंनी प्राप्त गोपहैं”

“नन्दे ऊपर अनु” “एवं एव नन्दे ग्रन्थान्में निरुद्ध नै नव दा उनके अगाहीं जापानाराम प्रसादाद्य गत्वश्च अनाद्ये द्वारा नह कर देता है ॥

तो भी तुझे मेरी प्राप्तिके लिये निराश नहीं होना चाहिये । मन-
बुद्धिको मेरेमें अर्पण करना ही मेरी प्राप्तिका एकमात्र साप्तन है, ऐसी
वात नहीं है । एकमात्र मेरी प्राप्तिका उद्देश्य एवं निष्कामभाव होनेपर
नाम-जप-कीर्तन, लीला-चिन्तन, ऋषा-श्रवण, सत-आख-अध्ययन आदि
मिसी भी कियाका अन्यास तुझे मेरी प्राप्ति करा देगा । अत तू
अन्यासयोगके द्वारा मेरी प्राप्तिकी इच्छा कर ।

अन्वय—

अथ, चित्तम्, मयि, स्थिरम्, समाधातुम्, न, शक्नोषि, तत्,
धनजय, अन्यासयोगेन, माम्, आप्नुम्, इच्छ ॥ ९ ॥

पद-व्याख्या—

अथ—यहि ।

चित्तम्—मनको ।

यहाँ ‘चित्तम्’ पदका अर्थ ‘मन’ है । परतु इस श्लोकका
पूर्बकर्ता श्लोकमें वर्णित सामनसे सम्बन्ध है, इसलिये ‘चित्तम्’ पदसे
वहाँ मन और बुद्धि दोनों ही लेमा युक्तिमगत है ।

मयि—मुझमें ।

स्थिरम्—अचलभावसे अर्थात् पूर्णरूपसे ।

समाधातुम्—स्थापित ऊरने अर्थात् अपित ऊरनेके लिये ।

न शक्नोषि—(तू) समर्थ नहीं है ।

भगवान् अर्जुनसे कहते हैं कि यदि तू मन-बुद्धिको मेरे अर्पित
ऊरनेमें अपनेको अमर्य मानता है, तो अन्यासयोगके द्वारा मुझे
प्राप्त होनेकी इच्छा कर ।

तत्—नो ।

धनजय—हे अर्जुन !

अभ्यासयोगेन—अभ्यासयोगके द्वारा ।

‘अभ्यास’ और ‘अभ्यासयोग’ पृथक्-पृथक् हैं । मिसी लक्षण चित्तको बार-बार लगानेप्रा नाम ‘अभ्यास’ है और समनामा नाम ‘योग’ है । समना रखते हुए अभ्यास करना ही ‘अभ्यासयोग’ कहूँगा है । ‘वेत्त’ भगवत्प्राप्तिके उद्देश्यसे किया गया भजन, नाम जप आदि ‘अभ्यासयोग’ है ।

‘योग’की परिभाषा गीतामें दो प्रकारसे दी गयी है—(१) ‘समत्वं योग उच्यते’ (गीता २ । ४८) ‘समनामें अटल स्थितिः ॥ नाम योग है, म्योकि समना परमात्माका स्वरूप ही है—‘निर्दोष हि समं ग्रह्य (गीता ५ । १०) । (२) ‘त विद्याद् दु घसयोगवियोग योगसशितम्’ (गीता ६ । २३) ‘दु खर्षण समारम्भे 'सर्वथा सम्बन्ध-पिञ्छेदका नाम योग है । ‘समना’की इन दोनों परिभाषाओंमें पह सिद्ध होना है कि समना (परमामा)में स्थिति होनेमें दु ग्रह्य समारम्भे व्यत सम्बन्ध-पिञ्छेद होगा और समारम्भे सम्बन्ध पिञ्छेद होनेमें समनामें व्यत स्थिति होगी । इस प्रकार दोनों स्थानात्मक योगकी परिभाषा घरनेके प्रभार दो हैं, भाव तो एक ही है ॥ ३८ ॥

१ दूसरा अभ्यासरे अहोगीर्गे शोषणे गता प्राप्तिरा उद्देश्य रागा आगुक्षा त्याग त । मिठि भसिद्विमें सम होण्य तम यस्तेव्व आगा है, व्यत यर्ण गाप्तमें योगही यात आयी है । छठे अव्यासक द्वेषण शोषणमें मिद्य मुक्तारी पिनिद्य वर्ता है, अत यहौ मिद्यप देखाई वात आयी है । इस प्रकार प्रपरमात्मागार यह भद्र किया गया है । गानगमें योगही परिभाषामें योहै भद्र नहा है ।

क्रियाका उद्देश्यदु खरूप ससारसे सर्पया सम्बन्ध-पिछेन और समता (परमात्मा) की प्राप्ति हो, उसे अभ्यास-'योग' कहा जायगा ।

अभ्यासके साथ योगका स्थोग न होनेसे साधकका उद्देश्य ससार ही रहेगा । ससारका उद्देश्य होनेपर ही-पुत्र, वन-सम्पत्ति, मान-वडाई, नीरोगता, अनुकूलता आदिकी अनेक कामनाएँ उत्पन्न होगी । फलस्वरूप ऐसे पुरुषकी क्रियाओंके उद्देश्य भी (कभी पुत्र, कभी धन, कभी मान-वडाई आदि) भिन्न-भिन्न रहेगे । दूसरे अयायके इकतालीसें श्लोकमें भगवान् कहते हैं कि ऐसे सकाम पुरुषोंकी बुद्धियाँ बहुत भेदोगती और अनन्त होती हैं—‘बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ।’ इसलिये ऐसे पुरुषकी क्रियामें योग नहीं होगा । योग तभी होगा, जब, क्रियामात्रका उद्देश्य (ध्येय) केवल परमामा ही हो ।

साधक जब भगवत्त्रासिका उद्देश्य रखकर वार-वार नाम-जप आदि करनेकी चेष्टा करता है, तब उसके मनमें दूसरे अनेक सकल्प भी उत्पन्न होते रहते हैं । अत साधकको ‘मेरा ध्येय भगवत्त्रासि ही है ।’ इस प्रकारकी दृढ़ धारणा करके अन्य सब सकल्पोंसे उपराम हो जाना चाहिये * ।

* भगवानने छठे अध्यायके उच्चोसवें श्लोकमें मनको अभ्यासपूर्वक अपनेमें ल्यानेकी जात कही है । गीतामें अभ्यासने मावनकी गीति विजेप रूपसे इसी श्लोकमें उतायी गयी है ।

छठे अयायके पंतीसवें श्लोकये अत्तगत ‘अभ्यासेन’ पद तथा इसी (नारदें) अध्यायके नारदें श्लोकये अत्तर्गत ‘अभ्यासात्’ पद साधारण अभ्यासमात्रके चाचक हैं ।

माम् आप्तुम् इच्छ—मुझे प्राप्त होनेकी इच्छा कर ।

इन पदोंसे भगवान् ‘अन्यासयोग’ को अपनी प्राप्तिका सत्त्व साप्तन बताते हैं ।

पिछले अन्तमें भगवान् ने अपनेमें मन-बुद्धि अर्पित करनके लिये कहा । अब इस अन्तमें अन्यासयोगके लिये कहते हैं । इनके यह धारणा हो सकती है कि अन्यासयोग भगवान् में मन-बुद्धि अर्पित करनेका साप्तन है, अत पहले अन्यासके द्वारा मन-बुद्धि भागाएँ अर्पित होंगे फिर भगवान् जी प्राप्ति होगी, परंतु मन-बुद्धियों अंग करनेसे ही भगवप्राप्ति हो, ऐसा नियम नहीं है । भगवान् के कथनका तात्पर्य यह है कि यदि समप्रख्यसे उद्देश्य भगवप्राप्ति ही हो अर्थात् उद्देश्यके साथ साप्तनकी पूर्ण षट्कता हो, तो केवल ‘अन्यास’ से ही उसे भगवप्राप्ति हो जायगी ।

जब सारक भगवप्राप्तिके उद्देश्यसे वार-वार नाम-नाम, भगवन्, कीर्ति, श्रवण आदिका अन्यास करता है, तब उसका अन यह शुद्ध होन लाना है और भगवप्राप्तिकी इच्छा जप्रत् हो जाती है ।

भाष्टरे अन्यासभे नाट्ये नौरा प्रमुज अ-वाल्योगवुल्लन् ॥३
अन्यासक द्वाग द्वाग द्विते द्विते द्विता द्विता ॥४ ।

द्विते (द्वित्य) न द्वाग द्विते द्विते द्विता द्विता ॥५ ॥ द्विता द्विते
भावो भव द्वाग द्वाग द्विते द्विते द्विता द्विता ॥६ ।

द्विता न द्वाग द्विते द्विते द्विता द्विता द्विता ॥७ ॥ द्विते
द्विते द्विते द्विते द्विते द्विते द्विता द्विता द्विता ॥८ ॥ द्विते द्विते
द्विते द्विते द्विते द्विते द्विता द्विता द्विता ॥९ ॥

सिद्धि-असिद्धिमें सम होनेपर भगवत्प्राप्तिकी इच्छा तीव्र हो जाती है। भगवत्प्राप्तिकी तीव्र इच्छा होनेपर भगवान्‌से मिलनेके लिये व्याकुलता उत्पन्न हो जाती है। यह व्याकुलता उसकी अवशिष्ट सासारिक आसक्ति एवं अनन्त जन्मोक्ते पापोक्ते जला डालती है। सासारिक आसक्ति तथा पापोक्ता नाश होनेपर उसका एकमात्र भगवान्‌में ही अनन्य प्रेम हो जाता है और वह भगवान्‌के प्रियोगको सहन नहीं कर पाता। जब भक्त भगवान्‌के प्रिया नहीं रह सकता, तब भगवान् भी उस भक्तके बिना नहीं रह सकते* अर्थात् भगवान् भी उसके प्रियोगको नहीं सह सकते और उम भक्तको मिल जाने हैं।

साधकको भगवत्प्राप्तिमें प्रिलम्ब प्रतीत होनेका कारण यही है कि यह भगवान्‌के प्रियोगको सहन कर रहा है। यदि उसे भगवान्‌का प्रियोग असह्य हो जाय, तो भगवान्‌के मिलनेमें प्रिलम्ब नहीं होगा। भगवान्‌की देश, काल, वस्तु, व्यक्ति आदिसे दूरी ही ही नहीं। जहाँ साधक ह, वहाँ भगवान् ही ही। भक्तमें उत्कण्ठाकी कमीके कारण ही भगवत्प्राप्तिमें प्रिलम्ब होता है। सासारिक सुख-भोगकी इच्छाके कारण ही ऐसी आशा कर ली जाती है कि भगवत्प्राप्ति भविष्यमें होगी। जब भगवत्प्राप्तिके लिये व्याकुलता एवं

* ये यथा मा प्रपद्यते तास्तथैव भजाम्यहम् (गीता ४। ११)

‘जो भक्त मुझे जिस प्रकार भजते ह, मैं भी उनको उसी प्रीत्यार भजता हूँ।’

अस्ति—है ।

(तर्हि) तो ।

मत्कर्मपरम भव—केवल मेरे लिये कर्म करनेके पास हो जा ।

इसका तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण कर्मों (वर्णाश्रमपर्मात्मा शरीरनिर्गाह और आजीविका-सम्बन्धी लौकिक एवं भजन, धारा, नाम-जप आदि पारमार्थिक कर्मों) का उद्देश्य सासारिक भोग और सग्रह न होकर एकमात्र भगवत्प्राप्ति ही हो । जो कर्म भगवत्प्राप्ति लिये भगवदाज्ञानुसार किये जाते हैं, उन्हें 'मत्कर्म' कह है । जो सामर्क इस प्रकार कर्मोंके परायण है, वे 'मत्कर्मपरम' न जाते हैं । सामरकका अपना सम्बन्ध भी भगवान्‌से हो ओर कर्मों सम्बन्ध भी भगवान्‌के साथ रहे, तभी मत्कर्मपरायणता सिद्ध होगी ।

सामरकका ऐये जन समार (भोग और सग्रह) नहीं रहे तब निषिद्ध क्रियाएँ सर्वथा दृष्ट जायेंगी, क्योंकि निषिद्ध क्रियाओं अनुष्टानमें ससारकी 'कामना' ही हेतु है (गीता ३ । ३७) ।^० भगवत्प्राप्तिका ही उद्देश्य होनेसे सायककी सम्पूर्ण क्रियाएँ शाखाविहि एवं भगवदर्थ ही होगी ।*

मदर्थम् कर्माणि कुर्वन् अपि—मेरे लिये कर्मोंको कर हुआ भी ।

* तीसरे अध्यायके नवें श्लोकमें 'तदर्थं कम समाचरण पद इ भावमें प्रयुक्त हुए हैं । यादहरें जन्मायने पचपनमें श्लोकमें 'मत्कर्म' पद भी इसी भावका दौतव है ।

भगवान्‌ने जिस साधनकी बात इसी श्लोकके पूर्वार्द्धमें मत्कर्मपरमा भव'पदोंसे कही है, वही बात इन पदोंमें पुन कही रखी है । भाव यह है कि केवल परमात्माका उद्देश्य होनेसे उस नाथककी अन्यत्र स्थिति हो ही कैसे सकती है ।

सिद्धिम् अवास्यसि—(तृ) सिद्धिको प्राप्त होगा अर्थात्
‘उमे मेरी प्राप्ति होगी ।

जिस प्रकार भगवान्‌ने आठवें श्लोकमें मन-बुद्धि अपनेमें अर्पित करनेके साधनको तथा नवें श्लोकमें अन्यासयोगके साधनको अपनी प्राप्तिका खतन्त्र साधन बतलाया, उसी प्रकार यहाँ भगवान् ‘मत्कर्मपरमा भव’ (केवल मेरे लिये कर्म करनेके परायण हो)— इस साधनको भी अपनी प्राप्तिका खतन्त्र साधन बनला रहे हैं ।

जैसे धन-प्राप्तिके लिये व्यापार आदि कर्म करनेवाले मनुष्यको ज्यो-ज्यों धन प्राप्त होता है, त्यो-ज्यों उसके मनमें धनका लोभ एवं कर्म करनेका उत्साह बढ़ता है, वेसे ही साधक जब भगवान्‌के लिये ही सम्पूर्ण कर्म करता है, तब उसके मनमें भी भगवन्प्राप्तिकी उत्कण्ठा एवं साधन करनेका उत्साह बढ़ता रहता है । उत्कण्ठा तीव्र होनेपर जब उसे भगवान्‌का वियोग असद्य हो जाना है, तब मर्वत्र परिपूर्ण भगवान् उससे छिपे नहीं रहते । भगवान् अपनी कृपासे उमे अपनी प्राप्ति करा ही देते हैं ॥ १० ॥

श्लोक—

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाग्नितः ।
सर्वकर्मफलत्याग तत् कुरु यतामवान् ॥ ११ ॥

असि—है ।

(तर्हि) तो ।

मत्कर्मपरम भव—केवल मेरे लिये कर्मः करनेके परम हो जा ।

इसका तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण कर्मों (वर्णश्रमधर्मातुना शरीरनिर्गाह और आजीनिका-सम्बन्धी लौकिक एवं भजन, धारा, नाम-जप आदि पारमार्थिक कर्मों) का उद्देश्य सासारिक भोग वौ सग्रह न होकर एकमात्र भगवत्त्रामि ही हो । जो कर्म भगवप्राप्ति लिये भगवदाज्ञातुसार किये जाते हैं, उन्हें 'मत्कर्म' कहते हैं । जो सामक इस प्रकार कर्मोंके परायण है, वे 'मत्कर्मपरम' कहते हैं । सामकका अपना सम्बन्ध भी भगवान्‌से हो ओर कर्माण सम्बन्ध भी भगवान्‌के साथ रहे, तभी मत्कर्मपरायणता सिद्ध होगी ।

सामकका ध्येय जग सासार (भोग और सग्रह) नहीं होगा, तब निषिद्ध क्रियाएँ सर्वथा झूट जायेंगी, क्योंकि निषिद्ध क्रियाएँ वै अनुष्टानमें सासारकी 'कामना' ही हेतु है (गीता ३ । ३७) । अन भगवत्त्रामिका ही उद्देश्य होनेसे सामककी सम्पूर्ण क्रियाएँ शारणिद्वय एवं भगादर्थ ही होगी ।*

मदर्थम् कर्माणि कुर्वन् वपि—मेरे लिये कर्मोंको करना हुआ भी ।

* तीसर अध्यायमें नवें श्लोकमें 'तदर्थं वम समाचरा पद इति भावम् प्रयुक्त हुए हैं । यारह्यें अध्यायमें पञ्चपन्नमें श्लोकम् 'मत्कर्मपरम्' पद भी इसी भावका घोतक है ।

भगवान्‌ने जिस साधनकी बात इसी लोकके पूर्णदिमें
मत्कर्मपरम भवयदोंसे कही है, वही बात इन पदोंमें पुन कही
ही है । भाग यह ह कि केवल परमात्माका उद्देश्य होनेसे उस
साधककी अन्यत्र स्थिति हो ही कैसे सकती है ।

सिद्धिम् अवाप्यसि—(तू) सिद्धिको प्राप्त होगा अर्थात्
तुझे मेरी प्राप्ति होगी ।

जिस प्रकार भगवान्‌ने आठवें लोकमें मन-बुद्धि अपनेमें
अर्पित करनेके साधनको तथा नवें लोकमें अप्यासयोगके साधनको
अपनी प्राप्तिका खतन्त्र साधन बताया, उसी प्रकार यहाँ भगवान्
‘मत्कर्मपरम भव’ (केवल मेरे लिये कर्म करनेके परायण हो)—
इस साधनको भी अपनी प्राप्तिका खतन्त्र साधन बनाए रहे हैं ।

जैसे धन-प्राप्तिके लिये व्यापार आदि कर्म करनेवाले मरुष्यकर्त्ता
ज्यो-ज्यों धन प्राप्त होता है, त्यो-यो उसके मनमें धनका लोभ एवं
कर्म करनेका उत्साह बढ़ता ह, वैसे ही साधक जब भगवान्‌के लिये
ही सम्पूर्ण कर्म भरता है, तत उसके मनमें भी भगवन्प्राप्तिकी उत्कण्ठा
एवं साधन करनेका उत्साह बढ़ता है । उत्कण्ठा तीव्र होनेपर
जब उसे भगवान्‌का वियोग असह्य हो जाना है, तत मर्वत्र परिपूर्ण
भगवान् उससे छिपे नहीं रहते । भगवान् अपनी कृपासे उसे अपनी
प्राप्ति करा ही देते हैं ॥ १० ॥

लोक —

अधैतदप्यशकोऽसि कर्तुं मद्योगमाधितः । ।
सर्वकर्मफलत्याग तत कुरु यतात्मवान् ॥ ११ ॥

मिहित सम्पूर्ण रसोंका वाचक है। सर्वकर्मफलन्यागका अभिन्न खखण्डमें कर्मफलका त्याग न होकर कर्मफलमें ममता, आमति कामना, वामना आदि का त्याग हो है।

कर्मफलके चार विभाग हैं—

(क) प्रारम्भ—

(१) प्रात कर्मफल—प्रारब्धगतुसार प्राप शरीर, जाति, वर्ण वस्तुणें, प्राणी, वन-सम्पत्ति, निर्धनता, रोग, नीरोगता, अभिन्न आदि सब 'प्राप कर्मफल'के अन्तर्गत आते हैं।

(२) अप्रात कर्मफल—प्रारब्धकर्मके फलस्तुपमे जो अनुशृण्या प्रतिकूल परिस्थिति भविष्यमें मिलनेवाला है, वह सब 'अप्राप कर्मफल' है।

(ख) क्रियमाण—

(३) दृष्ट कर्मफल—वर्तमान जीवनमें किये जानेवाले कर्मोंका फल, जो कर्माके पश्चात ताकाल प्रायक्ष मिलता है अदीखना है, वह 'दृष्ट कर्मफल' है, उसे—भोजन करनेसे हुसि हो गयी, नौकरी करनमें पंसे मिल गये, खेती करनसे अनाज हो 'यादवा लिनमें रोग दूर हो गया इन्द्र्यादि।

(४) अदृष्ट कर्मफल—वर्तमान जीवनमें किये जानेवाले नय कर्मोंका जो कर्म कारन्तरामें इम लाक आर पहलोकमें अनुकूलता या प्रतिकूलताके रूपमें मिलनेवाला है, जो मचितरत्परमें है औ सनिद्धपमें हो रहा है तो उसके भोगका विगत अर्भा नहीं करना

‘र्वर्वकर्मफलत्याग’का व्यापक अर्थ ह—प्राप कर्मफलमें
ममता न करना, अग्रास फलकी इच्छा न करना, दृष्ट फलमें
आग्रह, आसक्ति न रखना आर अदृष्ट फलकी आशा न रखना ।

कर्मफलत्यागके सावनमें कर्मोंको व्यरूपसे त्यागनेकी बात नहीं
कही गयी, क्योंकि कर्म करना तो अनिवार्य ह—‘आरुष्वसो-
मुनेयोग कर्म कारणमुच्यते’ (गीता ६ । ३) योगमें आख्य
होनेकी इच्छावाले मननशील पुरुषके लिये योगकी प्राप्तिमें निष्काममावसे
कर्म करना ही हेतु कहा जाता है, जैसा कि पहले कह चुके हैं,
अवश्यकता केवल कर्मों एवं उनके फलोंमें ममता, आसक्ति,
कामना आदिके त्यागकी ही है ।

कर्मयोगके साधकों अकर्मण्य नहीं होना चाहिये, क्योंकि
कर्मफल-त्यागकी बात सुनकर प्राय साधक सोचता है मि नब कुछ
होना ही नहीं है तो क्यों न कर्मोंको ही त्याग दिया जाय !
इसलिये भगवान् ने दूसरे अध्यायके सेतारीसर्वे इलोकमें कर्मप्रधान
कर्मयोगकी बात कहते हुए ‘मा ते सहोऽस्त्वकर्मणि’ ‘तेरी कर्म न
करनेमें आसक्ति न हो’—यह कहकर साधकके लिये अकर्मण्यता
(कर्मके त्याग)का नियंत्र किया है ।

अठाहृषे अध्यायके नवें इलोकमें भगवान् ने सात्त्विक त्यागके
लक्षण बनजाते हुए कर्ममिं फलामक्तिके त्यागको ही ‘सात्त्विक त्याग’
कहा है, न मि व्यरूपसे कर्मको त्यागको—‘सद्ग त्यक्त्वा फलं
चैव स त्याग सात्त्विको मत’ (गीता १८ । ९)

फलामक्तिको त्यागकर कियाओंको जरते रहनेसे कियाओंको
करनेका बेग शान्त हो जाता है और पुरानी आसक्ति मिट जाती है ।

फल्वर्गे हच्छा न रहनेसे जर्मेसि सर्वथा सम्बन्ध निष्ठेद हो जा और नयी आसक्ति पैदा नहीं होती। फिर साधक छुतछुत्य होते हैं। पदार्थमें राग, आसक्ति, कामना, समता, फलेच्छा जैसे क्रियाओंमें वेग उत्पन्न करनेवाली है। इनके रहते हुए हठ क्रियाओंका त्याग करनेपर भी क्रियाओंका वेग शान्त नहीं है। राग-द्वेष रहनेके कारण साधककी प्रकृति पुन उसे कर्मेवि लालने है। अत राग-द्वेषपादिको त्यागकर (निष्कामभास्पूर्वक) करनेसे ही क्रियाओंका वेग शान्त होता है।

जिन साधकोंकी समुण्ड-साकार भगवान्‌में स्वाभाविक और भक्ति नहीं है, अपितु व्यापहारिक और लोकहितके कार्यकर्त्ता ही अधिक श्रद्धा और रुचि है, ऐसे साधकोंके लिये यह (सर्वमर्म-फलत्याग-रूप) साधनं बहुत उपयोगी है*।

भावान्‌ने जहाँ भी 'कर्मफलत्याग'की बात कही है, वह आसक्ति और फलेच्छाके त्यागका अन्याहार कर लेना चाहिये, क्यों-

* दूसरे अध्यायके सौतालीसवें इनोवमें 'मा फलेषु वदाचन' पढ़ते हैं अध्यायपे चारहवें इनोकम 'युक्त कमफल त्यक्त्वा' पढ़ते हैं, अध्यायपे पढ़ते हैं इनोकमें 'अनाश्रित कर्मपत्रम्' पढ़ते हैं, इसी (चारहवें अध्यायपे चारहवें इनोकमें 'कर्मफलत्याग') पढ़ते, अठाहवें अध्याय छठे इनोकमें 'सद्गत्यक्त्वा फलानि च' पढ़ते हैं, नवें इनोकमें 'सद्गत्यक्त्वा' चैषा पढ़ते, चारहवें इनोकमें 'कर्मफलत्यागी' पढ़ते, चारहवें इनोकमें 'विविक्तं फलम् भवति अत्यागिनाम्' पढ़ते हैं और तेहसवें इनोकमें 'अमेघुना' पढ़ते (इसी भावसे) यमकल त्यागरे बरनेवारी बात कही गई। इन पढ़ोंमें कर्मफलत्यागरे अन्तर्गत यमों और उनके फलोंमें मात्र असक्तिका त्याग ही निर्दिष्ट हुआ है।

भगवान्‌के मतमें आसक्ति और फलेच्छाका पूर्णतया त्याग होनेसे ही
क्रमेसि मर्या सम्बन्ध-पिछ्ले होता है* ।

- अठाहटें अध्यायके दूसरे श्लोकमें ‘सर्वर्मफलत्यागम्’ पद
पिद्वानोंके मतानुसार केवल कर्मफलकी ‘कामना’के त्यागके लिये
आया है । इसमें ममना-आसक्तिके त्यागकी बात इसके अन्तर्गत नहीं
आयी है । इसलिये वहाँ पूर्ण कर्मफलत्यागकी वैसी बात नहीं है,
जैसी बात भगवान्‌ने ‘मर्यर्मफल याप्त’ पदसे (अपने मतानुसार)
यहाँ कही है । यदि पिद्वानोंके मतमें भी ‘सर्वर्मफलत्यागम्’का
अभिप्राय कर्मफलमें आसक्ति और कामना—दोनोंका त्याग करना होता
अर्थात् उनका मन पूर्ण होता तो भगवान्‌को अलगसे (गीता १८ ।
६ में) अपना मन बनानेको आवश्यकता नहीं रहती । अन
अठाहटें अध्यायके टुटे श्लोकमें ‘सङ्ग त्यक्त्वा फलानि च’ पदोंसे
भगवान्‌ने कर्मफलमें आसक्ति और कामनाके त्यागको ही अपना
निश्चिन मत बतलाया है ॥ ११ ॥

सम्बन्ध—

भगवान्‌ने आठटें इचोकसे ग्यारहवें श्लोकतक एक साधनमें
असमर्थ होनेपर दूसरा, दूसरे साधनमें असमर्थ होनेपर तीसरा

* एतान्यपि तु फलाणि सङ्ग त्यक्त्वा फलानि च ।

कर्तव्यनीति मे पार्थ निश्चित मनमुक्तम् ॥

: (गीता १८ । ६)

हे पार्थ ! इन (पश्चान्तरत्तरस्य) कर्मोंके तथा और भी सम्पूर्ण
कर्तव्य-कर्मोंको आसक्ति और फलेच्छाका त्याग करके अपश्य करना चाहिये,
यह मेरा निश्चय किया हुआ उत्तम मत है ।

और तीसरे साधनमें असमर्थ होनेपर चौथा साधन बताया । इ यह जङ्गा हो सकती है कि अन्तमें बताया गया 'सर्वकर्मफलत्व साधन कदाचित् सबसे निम्न श्रेणीका हो । क्योंकि उस स अन्तमें रहा गया तथा भगवान् ने उस (सर्वकर्मफलत्वाग् रोईं फल भी नहीं बताया । इम जङ्गाका निराकरण वह भगवान् सर्वकर्मफलत्वाग साधनकी श्रेष्ठता तथा उसकी बतलाते हैं ।

इति—

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाद्ज्ञानाद्यान विशिष्यते ।
ध्यानात्कर्मफलत्वागस्त्यागाच्छ्रान्तिरनन्नरम ॥ १२ ॥

भावा । —

अभ्याससे शाखज्ञान श्रेष्ठ है, शाखज्ञानसे ध्यान श्रेष्ठ है औ ध्यानसे भी सब ऊर्मोंके फलका त्याग श्रेष्ठ है । कर्मफलत्वात्मेतत्काल ही परमशान्ति प्राप्त हो जानी है, क्योंकि कर्मफलत्वात्मेत असत्से सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है ।

निस 'अभ्यास'में ज्ञान, ध्यान और कर्मफलत्वाग नहीं है तथा जिस 'ज्ञान' में अभ्यास, ध्यान और कर्मफलत्वाग नहीं है—उन दोनोंमें अभ्यासकी अपेक्षा ज्ञान ही श्रेष्ठ है । इसी प्रकार जिस 'ज्ञान' में अभ्यास, ध्यान और कर्मफलत्वाग नहीं है, तथा निस 'ध्यान'में ज्ञान और कर्मफलत्वाग नहीं है—उन दोनोंमें ध्यान ही श्रेष्ठ है । पुन निस 'ध्यान'में ज्ञान और कर्मफलत्वाग नहीं है तथा निस 'कर्म'के त्वागमें ज्ञान और ध्यान नहीं है—उन दोनोंमें 'कर्मफलत्वाग' ही श्रेष्ठ है । क्योंकि एकमात्र कर्मफलत्वागमें ही परमशान्तिकी प्राप्ति

‘(भगवप्राप्ति) हो जाती है । इसका कारण यह है कि आसक्ति - और फलेच्छाके कारण ही दुखदृष्टि समारसे सम्बन्ध उत्पन्न होता है और कर्मफलन्यागमे आसक्ति ओर फलेढाका नाश होता है ।

कर्मफलन्यागका अर्थ है—आसक्ति, ममता ओर कामनाका त्याग । अन कर्मफलन्यागमे (ससारके प्रति आसक्तिका नाश होनेके कारण) साथक अन्त करणकी स्वत्त्वता, प्रमदता एवं शान्तिको प्राप्त कर लेना है—‘आत्मदद्यैर्विद्येयात्मा प्रसाद्मधिगच्छति’ (गीता २ । ६४) । शान्तिकी शितिमें भी आसक्तिके त्यागका कम बना रहने (शान्तिका उपभोग न करने) से सूक्ष्म ‘अह’ भी मिट जाता है और तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति हो जाती है । फिर जन्म-मरणका कोई कारण ही न रहनमे मनुष्य परमशान्तिको प्राप्त हो जाता है ।

अन्वय—

हि, अभ्यासान्, ज्ञानम्, श्रेय, ज्ञानात्, ध्यानम्, विशिष्यते,
ध्यानात्, कर्मफलन्याग (विशिष्यते), स्वागात्, अनन्तरम्,
शान्ति ॥ १२ ॥

पठ-व्याख्या—

हि—क्योंकि ।

ग्याहृवें इन्होंनमे भगवान्ने कर्मफलन्याग करनेकी आज्ञा दी थी । उम कर्मफलन्यागकी श्रेष्ठता बनानेके लिये यहाँ ‘हि’ पदका प्रयोग किया गया है ।

भगवान्ने आठमें इन्होंकसे ग्याहृवें इन्हेकहक एकत्पक साधनमें असमर्प्य होनेपर क्रमशः समर्णणयोग, अन्यामयोग, भगवर्थं कर्म और कर्मफलन्याग—ये चार माध्यन चतुर्लाये । इसमे प्राप्य ऐसा प्रनीन

होता है कि क्रमशः पहले सामनकी अपेक्षा आगेका सामने श्रेणीका है, और अन्तमें कहा गया कर्मफलत्यागका सामने मर्हे निम्न श्रेणीका है। इस बातकी पुष्टि इसमें भी होती है कि पहले तीन साधनोंमें भगवत्प्राप्तिरूप फलकी नात ('निवसिष्यति मन्येव', 'मामिच्छाप्तु' तथा 'सिद्धिमयाम्यसि'—इन परेवाण) साय-साथ कही गयी, परतु ग्यारहमें इत्योक्तमें जहाँ कर्मफलत्याग करनेकी आज्ञा दी गयी है, वहाँ उसका फल 'भगवत्प्राप्ति' न बतलाया गया।

उपर्युक्त सभी भ्रान्त धारणाओंका निराकरण करनेके लिये वारदव शुरू करा गया है। इसमें भगवान् ने कर्मफलत्यागरो श्रेणी और तकाल परमशान्ति देनेवाला बतलाकर यह स्पष्ट कर दिया। कि इस चौथे सामनको कोई निम्न श्रेणीका न समझे, क्योंकि इस साधनमें आसक्ति, ममना एवं फलेच्छाके त्यागकी ही प्रगतता होनेसे जिस तत्त्वकी प्राप्ति समर्पणयोग, अभ्यासयोग एवं भगवदर्थ कर्म करनेसे होती है, ठीक उसी तत्त्वकी प्राप्ति कर्मफलत्यागमें भी होती।

वास्तवमें उपर्युक्त चारों सामन स्वतन्त्ररूपसे भगवत्प्राप्ति करानेवाले हैं। सामनोंकी रुचि, विद्वाम और योग्यनानी मिलताके ग्राही भगवान् ने आठवेंसे ग्यारहमें इत्योक्तक अलग-अलग सामने करदे हैं।

जहाँतक कर्मफलत्यागके फल (भगवत्प्राप्ति)तो अल्पने वारदबें इत्योक्तमें कहनेका प्रश्न है, उसमें यही विचार करता चाहिये कि समर्पणयोग, अभ्यासयोग एवं भगवदर्थ कर्म करनेसे भगवत्प्राप्ति

‘तोती ह, यह तो प्राय प्रचल्नि ही ह, किंतु कर्मफलत्यागसे भी गमप्राप्ति होती ह, यह वान प्रचलित नहीं ह। इसलिये प्रचलित गमनोकी अपेक्षा इसकी श्रेष्ठता बतलानेक लिये वारहवो स्लोक इहा गया ह और उसीमें कर्मफलत्यागका फल कहना उचित प्रतीत होता ह।

अभ्यासात्—अभ्याससे ।

महपि पनश्चनि कहते हैं—‘तत्र स्थितो यत्तोऽभ्यास ।’

(योगदर्शन १ । १३) अर्थात् किसी एक पिपथमें स्थिति (स्थिता) प्राप्त करनेके लिये वारन्वार प्रयत्न करनेका नाम ‘अभ्यास’ है ।

यहाँ (इस श्लोकमें) ‘अभ्यास’ शब्द केवल अभ्यासरूप क्रियाका वाचक है, अभ्यासयोगका वाचक नहीं, क्योंकि इस (प्राणायाम, मनोनिग्रह आदि) अभ्यासमें शास्त्रज्ञान और ध्यान नहीं है तथा कर्मफलकी इच्छाका त्याग भी नहीं ह। जडतासे सम्बन्धित होनेपर ही योग होता है, जर कि उपर्युक्त अभ्यासमें जडता (शरीर, इच्छियों, मन, दुष्टि)का आश्रय रहता है ।

ज्ञानम् श्रेय—शास्त्रज्ञान श्रेष्ठ ह ।

यहाँ ‘ज्ञान’ शब्दका अर्थ शास्त्रज्ञान ह, तत्त्वज्ञान नहीं, क्योंकि तत्त्वज्ञान ना सभी साधनोका फल है। अत यहाँ जिस ज्ञानकी अभ्याससे तुलना की जा रही ह, उस ज्ञानमें न अभ्यास है, न ध्यान है और न कर्मफलत्याग ही ह। जिस अभ्यासमें न ज्ञान है, न ध्यान है और न कर्मफलत्याग ही हे—ऐसे अभ्यासकी अपेक्षा उपर्युक्त ज्ञान ही श्रेष्ठ है ।

आखोंके अभ्यन और सदसज्जके द्वारा आध्यात्मिक ज्ञानकर्त्ता
तो प्राप कर ले, पर न तो उसके अनुसार तत्त्व (ज्ञानविकृता) व
अनुभव करे और न ध्यान, अभ्यास और कर्मफलत्यागान्प तिनि
सावनका अनुष्ठान ही करे—ऐसी (केवल शास्त्रोऽपि) ज्ञानकारीके लिए
यहाँ 'ज्ञानम्' पद प्रयुक्त नहीं है। इस ज्ञानको उपर्युक्त अभ्यासमें
अपेक्षा श्रेष्ठ कहनेका अभिप्राय यह है कि आध्यात्मिक ज्ञानमें रहने
अभ्यास भगवत्प्राप्तिमें उतना महायक नहीं होता, जिनका अन्यत्र
रहित 'ज्ञान' महायक होता है। कारण यह कि ज्ञानसे भगवत्प्राप्तिर्हि
अभिलाप्त जाप्रत हो सकती है, जिससे समारम्भे ऊपर उठना लिख
सुगम हो सकता है, उतना अभ्यासमात्रसे नहीं। *

* श्रीमद्भगवद्गीतामें 'ज्ञानम्' पदसे अन्य प्रयोग अपेक्षित
इस प्रकार है—

चौथे अध्यायमें चौनीसवें श्लोकम् एव गारतथा उन्तात्मेष्य
श्लोकमें दो गार 'ज्ञानम्' पद, पाँचवें अध्यायके पद्रहवें श्लोकमें 'ज्ञान'
तथा शोलहवें श्लोकमें 'ज्ञानेन', एव 'ज्ञानम्' पद, नवहवें अध्यायके दृष्टि
श्लोकमें दो गार 'ज्ञानम्' पद और चौदहवें अध्यायमें। पहले शुरु 'चौं
'ज्ञानम्' पद तत्त्वज्ञानके बाबक है।

गातरें अध्यायमें शुरु और नवें अध्यायमें पहले श्लोकमें 'ज्ञानम्'
पद भगवान्मने तिगुणनिराकार तत्त्वके प्रभाव, मादात्म्य और रस्स
सहित यथार्थ ज्ञानका बाबक है और 'विज्ञानम्' पद भगवान्मने तिगुण
निराकार तथा दिव्य सामार तत्त्वके लीला, रस्स, तुण, मरुत एवं
प्रभावसहित यथार्थ ज्ञानका बाबक है।

दूसरें अध्यायमें चौथे श्लोकमें 'ज्ञानम्' पद गाधागण ज्ञानमें लिखा

ज्ञानात् व्यानम् विभिष्यने—शास्त्र-ज्ञानसे ज्ञान श्रेष्ठ है ।

यहा यान् अवर केवल मनकी एकाग्रतारूप क्रियाका वाचक है, प्रानयोगका वाचक नहीं । इस ज्ञानमें शास्त्रज्ञान और कर्मफलस्थापन ही है । ऐसा ज्ञान उम ज्ञानकी अपेक्षा बहुत है, जिस ज्ञानमें सम्याम, ध्यान और कर्मफलस्थापन नहीं है । कारण यह है कि व्यानसे मनका नियन्त्रण होता है जब कि केवल शास्त्र-ज्ञानसे मनका नियन्त्रण नहीं होता । इसलिये मन-नियन्त्रणके लाभ ज्ञानसे जो शक्ति संचित होती है वह शास्त्र-ज्ञानसे नहीं होती । यदि साधक उस शक्तिका मदुपयोग करके परमामार्की ओर बढ़ना चाहे, तो जितनी सुगमता उसे होगी, उतनी शास्त्रज्ञानगलेकरो नहीं । इसके साथ-साथ व्यान करनेवाले साधकको (यदि वह शास्त्रका अध्ययन करे, तो)

तेरहवें अध्यायके ग्यारहवें और अठारहवें श्लोकमें ‘ज्ञानम्’ पद साधनरूप ज्ञानका वाचक है । तेरहवें अध्यायके ही सवहरे श्लोकमें ‘ज्ञानम्-पद ज्ञानस्वरूप परमात्माके लिये आया है ।

तीसरे अध्यायके उन्ताल्लीसव चालीसवं श्लोकमें, चौदहवें अध्यायके नवें, ग्यारहवें और सवहरे श्लोकमें तथा पद्रहवें अध्यायके पद्रहवें श्लोकमें ‘ज्ञानम्’ पद वित्तक-ज्ञानके अर्थमें प्रयुक्त हुए हैं ।

दसवें अध्यायके अहतीसवें तथा अठारहवें अध्यायके अठारहवें उनीसवं श्लोकमें ‘ज्ञानम्-पद साधारण ज्ञानके वाचक है । अठारहवें अध्यायके ही बीसवें श्लोकमें ‘ज्ञानम्-पद सात्त्विक ज्ञानका, इक्कीसवें श्लोकमें दो पार प्रयुक्त ‘ज्ञानम्’ पद लौकिक ज्ञानका तथा व्याल्लीसवें श्लोकमें ‘ज्ञानम्’ पद शास्त्रज्ञानका वाचक है ।

अठारहवें अध्यायके तिर्णठवें श्लोकमें ‘ज्ञानम्’ पद सम्पूर्ण गीतोपदेशके लिये आया है ।

मनकी एकाग्रताके कारण वास्तविक ज्ञानकी प्राप्ति बहुत मुश्किल हो सकती है, जब कि केवल शाश्वाध्यायी साधकको (चाहतेपरम्) मनकी चञ्चलताके कारण ध्यान लगानेमें कठिनाई होती है ।*

ध्यानात् कर्मफलत्याग (विशिष्यते)—ध्यानसे (म्) सब कर्मोंकि फलका त्याग श्रेष्ठ है ।

ज्ञान और कर्मफलत्यागसे रहित 'ध्यान'की अपेक्षा ज्ञान के ध्यानसे रहित 'कर्मफलत्याग' श्रेष्ठ है । यहाँ कर्मफलत्यागका कर्मों एवं 'कर्मफलोंका स्वरूपसे त्याग नहीं है, अपितु कर्मों उनके फलोंमें ममना, आसक्ति एवं कामनाका त्याग ही है ।

कर्मोंमिं आसक्ति और फलेच्छा ही ससारमें बन्धनका कारण है आसक्ति और फलेच्छा न रहनेमें कर्मफलत्यागी पुरुष मुगमनसु ब ससार-बन्धनसे मुक्त हो जाता है ।

शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, योग्यता, मामर्थ्य, पदार्थ आदि मुच्छ हमारे पास हैं, वह सबका ममारसे ही मिला हुआ अपना व्यक्तिगत नहीं है । इसलिये कर्मफलत्यागी अर्थात् कर्मों मिली हुई (शरीरादि) सब सामग्रीको अपनी और अपन लिये मानकर उसे निष्कामभावपूर्वक ससारकी ही मेवाम लगा देता है ।

* तेगदेव अध्यायके चौरीसों श्लोकमें 'ध्यानेन' पद माधव ध्यानसा वाचक है । दूसरे अध्यायके बामटां श्लोकमें 'ध्यानं' चिन्तनपे अर्थमें आया है । इसी (बामट) अध्यायके छठे दो 'ध्यायन्त' पद अनन्य-चिन्तनपे अगम प्रयुक्त हुआ है । अठारां अन्यायपे बावजूद श्लोकमें 'ध्यानयोगमर' पद निरुगतत्वसा ध्यान वाले पुङ्गामे लिय आया है ।

१ प्रकार मिली हुई सामग्री (जडता) का प्रगाह ससार (जडता)
ही ही ओर हो जानेसे उसका जडतासे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो
जाता है और उसे परमात्मासे अपने स्वाभाविक और नित्यसिद्ध
चब्बका अनुभव हो जाता है । इसलिये कर्मयोगीके लिये अलगसे
ध्यान लगानेकी आवश्यकता नहीं है । यदि वह ध्यान लगाना भी
है, तो कोई सांसारिक कामना न होनेके कारण वह सुगमतापूर्वक
ध्यान लगा सकता है, जब कि ध्यान करनेवाले सामान्य कोटिके
धरको सकामभावके कारण ध्यान लगानेमें कठिनाई होती है ।

२ गीताके छठे अध्यायमें वर्णित ध्यानयोगके प्रकरणमें भगवान् ने
‘तलाया है कि ध्यानका अभ्यास जरते-करते अन्तमें जप साधनना
त्रुत एकमात्र परमात्मामें भलीभौति स्थित हो जाता है । तब वह
सम्पूर्ण कामनाओंसे रहित हो जाता है और चित्तके उपराम होनेपर
इ ‘खयं’से परमात्मतत्त्वमें स्थित हो जाता है, * परतु कर्मयोगी
स्मृर्ण कामनाओंका त्याग करके तत्काल ‘खय’से परमात्मतत्त्वमें

* यदा निनियत चित्तमात्मन्येनावतिष्ठते ।

नि सृह सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥

(गीता ६ । १८)

‘भलीभौति वशमें किया हुआ चित्त जिस कालमें परमात्मामें ही
सत हो जाता है, उस कालमें सम्पूर्ण भोगसि सृहारहित पुरुष योगयुक्त
होता है ।

यत्रोपस्मते चित्त निरुद्ध योगसेवया ।

यत्र चैवात्मनात्मान पश्यन्नात्मनि तुप्यति ॥

(गीता ६ । २०)

अर्जुनने भी युद्ध-जैसे घोर कर्मको अपने वल्यागमें वा वाधक समझा (गीता १ । ३१) तथा ऐसे घोर हिंसाक करनेकी अपेक्षा मरना ही उचित समझा (गीता १ । ४१) परतु भगवान्‌को यह अभीष्ट नहीं था । उन्होंने अर्जुनवीं विजय विमूढताको भलीभौति समझ लिया और दूसरे अध्यादके शोकसे साख्ययोगविषयक उपदेश प्रारम्भ किया । इस सार्व विषयकी समाप्ति भगवान्‌ने 'एषा तेऽभिहिता साख्ये' (गीता ३९) पदोंसे की । यहाँ 'एषा' पदका तार्पण 'सुखु दस्तु छत्वा' (गीता २ । ३८) शोकमें वही 'समता' से है । अनामा, सत्-असत्, नित्य-अनित्य, चेतन जट आदिके दृष्ट्यार्थ जाननेवाला साख्ययोगी भी जय-पराजय, लाभ-हानि अनुकूल-प्रतिकूलरूपसे प्राप्ति प्रत्येक परिस्थितिमें सम रहकर कर्तव्यका पालन करता है । अत जिस समताकी प्राप्ति सार्व सम्भव है, वही समता कर्मयोगसे भी सम्भव है । उस प्राप्ति उपदेश भगवान् 'योगे त्विमा शृणु' (गीता २ । ३९) प्रारम्भ करते हैं ।

कर्मयोगमें फलासक्तिका त्याग ही मुख्य है । स्वस्तांश्च धनपत्ता-निर्धनता, मान-अपमान, स्तुति-निन्दा आदि सभी कुछ प्रतिकूल परिस्थितियाँ क्योंकि फलरूपमें आती हैं । इनके द्वाये द्वेष रहनेसे कभी परमात्माकी प्राप्ति नहीं हो सकती (गीता ४२-४४) ।

उत्पन्न होनेवाली मात्र वस्तु कर्मफल है । जो फलरूप है वह सदा रहनेवाला नहीं होता, क्योंकि जब कर्म सता

इता, तब उससे उत्पन्न होनेवाला फल सदा कैसे रहेगा ? इसलिये समें आसक्ति, ममता करना भूल ही है। जो फल अभी नहीं मिला है, उसकी कामना करना भी भूल है। अत फलासक्तिका याग कर्मयोगका बीज है।

कर्मयोगमें क्रियाभोक्ती प्रधानता प्रतीत होती है और शरीरादि (जड़) पदायोकि बिना क्रियाभोक्ता होना सम्भव नहीं है, इसलिये कर्मों एव फलोंसे छुटकारा पाना कठिन प्रतीत होता है। पर यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो मिली हुई कर्म-सामग्री (शरीरादि जड़-पदायों)को अपनी तथा अपने लिये माननेसे ही फलासक्तिका त्याग कठिन प्रतीत होता है। शरीरादि प्राप्त-सामग्रीमें किसी प्रकारकी आसक्ति न रखकर कर्तव्य-कर्म करनेसे परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है*। वास्तवमें क्रियाएँ कभी बन्धनकारक नहीं होतीं। बन्धनका मूल हेतु कामना और फलासक्ति है। कामना और फलासक्तिके मिटनेपर कर्म अकर्म हो जाते हैं (गीता ४। १९ से २३)।

'कर्म'का सम्बन्ध ससार (जड़)से और 'योग'का सम्बन्ध स्थय (चेतन)से होता है। इसलिये 'कर्म' सदैव ससारके लिये और 'योग' सदैव अपने लिये होता है।

४ तसादुक्त सतत कार्यं कर्म समाचर ।

व्यसक्तो ह्याचरन्कर्मं परमाणोति पूरुप ॥

(गीता ३। १९)

इसलिये तू निरन्तर आसक्ति-रहित होकर कर्तव्य-कर्मको भलीभाँति करता रह। क्योंकि आसक्तिसे रहित होकर कर्मकरता हुआ मनुष्य परमात्माको प्राप्त हो जाता है।

भगवान्‌ने कर्मयोगको कर्मसन्याससे भी श्रेष्ठ बतलाया है—
 तथोस्तु कर्मसन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥३ (गीता ५।३)
 भगवान्‌के मनमें स्वरूपसे कर्मोंका त्याग, करनेवाला व्यक्ति स्वयं
 नहीं है, अपि तु कर्मफलका आश्रय न लेकर कर्त्तव्यकर्म करनेवाला
 कर्मयोगी सन्यासी है (गीता ६।१)। आसक्तिरहित कर्त्तव्य
 सभी सकलत्योंसे मुक्त होकर सुगमतासे योगाखण्ड हो जाता है (गीता
 ६।४)। इतना ही नहीं, कर्मयोगीको भगवान्‌ने तपसी, तथा
 कर्मोंसे भी श्रेष्ठ बतलाया है *। इसके विपरीत जो कर्मों
 उनके फलोंको अपना (ममता) और अपने छिये गानकरमुख मोगमीर
 रखते हैं, वे वास्तवमें पाप-भोग करते हैं—‘भ्रञ्जते ते त्वघ पाणि
 पचन्त्यात्मकारणात् ॥’ (गीता ३।१३)। अनु फलात्मकि ही
 ससारमें बन्धनका मुख्य कारण है—‘फले सको निवध्यते’ (गीता
 ५।१२)। इसका त्याग ही वास्तवमें त्याग है †।

* तपस्विभ्योऽधिको योगी शानिभ्योऽपि भतोऽधिक ।
 कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवाञुन ॥
 (गीता ६।४)

‘योगी (कर्मयोगी) तपस्वियोंसे श्रेष्ठ है, शान्तशानियोंसे भी श्रेष्ठ
 माना गया है और सकाम कर्म फलनेवालीसे भी योगी श्रेष्ठ है, इचलिये
 अर्जुन। तू योगी हो ।’

† न हि देवभूता शक्य त्यक्तुं कमाण्यशेषत ।
 यत्तु कर्मफलत्वागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥
 (गीता १८।११)

‘शरीरधारी हिन्दी भी मनुष्यके दारा समूणतामे सर कर्मोंका त्याग
 पिया जाना शक्य नहीं है, इचलिये जो कर्मफलका त्यागी है, वही लगाई
 है—गद कहा जाता है ।’

गीता फलासक्तिके त्यागपर जितना जोर देती हे, उतना और अस्त्र। सभी साधनपर नहीं। अन्य साधनोका वर्णन करते समय भी कर्म-
फलत्यागको उनके साथ खा गया है। भगवान्‌के मतानुसार त्याग
ही है, जिसमें निष्कामभावसे अपने कर्तव्यका पालन हो और फलोंमें
केसी प्रकारकी आसक्ति न हो (गीता १८।६)। उत्तम-से-उत्तम
कर्ममें भी आसक्ति न हो और साधारण-से-साधारण कर्ममें भी द्वेष न
हो, क्योंकि कर्म तो उत्पन्न होकर समाप्त हो जायेंगे, पर उनमेंहोने-
शली आमज्ञि (राग) और द्वेष रह जायगा, जो बन्धनका हेतु है।
इसके विपरीत अहभाव तथा राग-द्वेषसे रहित मनुष्यके सामने समस्त
कोकोका सहारखूप कर्तव्य-कर्म भी आ जाय तो भी वह बँध नहीं
सकता (गीता १८।१७)। इसीलिये भगवान् 'कर्मफलत्याग'को
तप, ज्ञान, कर्म, अभ्योग, ध्यान आदि साधनोसे श्रेष्ठ बतलाते हैं।
अन्य साधनोंमें क्रियाएँ तो उत्तम प्रतीत होती हैं, पर विशेष वाम
दिखायी नहीं देता तथा श्रम भी करना पड़ता है। परतु फलासक्तिका
त्याग कर देनेपर न तो कोई नये कर्म झरने पड़ते हैं, न आश्रम, देश
आदिका परिवर्तन ही करना पड़ता है, अपितु साधन जहाँ है, जो
करता है, जैसी परिस्थितिमें है, उसीमें (फलासक्तिके त्यागसे) बहुत
सुगमतासे अपना कल्याण कर सकता है।

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृतीयं निराश्रय ।

कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चिल्करोति स ॥

(गीता ४।२०)

(जो) समन्त कर्ममें और उनके फलमें आसक्तिका उर्वथा त्यागकरके
समारणे आश्रयसे रहित हो गया हे और परमात्मामें नित्यतृतीय है, वह कर्ममें
भलीभाँति बरतता हुआ भी वास्तवमें कुछ भी नहीं करता ।

नित्यप्राप्त परमात्माकी अनुभूति होती है, प्राप्ति नहीं। वे 'परमात्माकी प्राप्ति' कहा जाता है, वहाँ उसका अर्थ नित्यप्राप्ति या अनुभव ही मानना चाहिये। वह प्राप्ति साधनोंसे होती, अपितु जड़ताके त्यागसे होती है। समता, कामना और बुद्धि जड़ता है। शरीर, मन, इन्द्रियाँ, पदार्थ आदिको 'ये' या 'मेरे' मानना ही जड़ता है। ज्ञान, अभ्यास, ध्यान, तप आदि हमें करते-करते जब जड़ताका सम्बन्ध-विष्वेद होता है, तभी नित्यपरमात्माकी अनुभूति होती है। इस जड़ताका त्याग जितना बहुत त्याग अर्थात् कर्मयोगसे सुगम होता है, उतना ज्ञान, अभ्यास, ध्यान तप आदिसे नहीं। कारण कि ज्ञानादि साधनोंमें क्रियाकी मुख्य दृष्टिकोण सम्बन्ध बना रहता है। इन साधनोंका लक्ष्य परमामप्राप्ति है। भन्तमें सफलता तो मिल जाती है, किंतु उसमें विलम्ब और कठिनी होती है। परन्तु कर्मयोगमें प्रारम्भसे ही जड़ताके त्यागका लक्ष्य रहता है। जड़ताका सम्बन्ध ही नित्यप्राप्त परमात्माकी अनुभूतिमें प्रधान वाधा है—यह बात अन्य साधनोंमें स्पष्ट प्रतीत नहीं होनी यही कारण है कि भगवान् ने ग्रस्तुत स्तोत्रमें कर्मयोगको ही केवल बनवाया है।

कर्मयोगकी यह विव्याहणता है कि ज्ञानयोग या भक्तियोग किसी भी मार्गपर क्यों न चला जाय, कर्मयोगकी प्रणाली (अनेक छिपे कुछ न करना, फलासकिका त्याग) आ ही जाती है। परन्तु कि मनुष्यमें क्रिया निरन्तर रहती है (गीता ३। ५), पर विवरण तथा ध्यान निरन्तर नहीं रहता, अपितु समय-समयपर होता है।

|१ श्रुतिमें भी कामनाओंके त्यागकी विशेष महिमा कही गयी है *।
‘कामनाओंके त्यागसे निषिद्ध कर्मोंका त्याग सत् होता है तथा निषिद्ध-
कर्मोंकी त्यागसे कामनाओंके त्यागका बल आता है ।

जब साधक यह दृढ़ निश्चय कर लेना है कि मुझे कभी किसी
दशामें मन, वाणी अथवा क्रियासे चोरी, द्वूष, व्यमिचार, हिंसा, छल,
कपट, अभश्य-भक्षण आदि कोई शाश्व-पिरुद्ध कर्म नहीं करने हैं, तो
उसके द्वारा सत् ही विहित-कर्म होने लगते हैं ।

साधकजो निषिद्ध-कर्मोंकी त्यागका ही निश्चय करना चाहिये,
न कि विहित-कर्मोंको करनेका । कारण कि यदि माधक विहित-कर्मोंको
करनेका निश्चय करता है, तो उसमें विहित-कर्म करनेका अभिमान
आ जायगा और उसका ‘अह’ सुरक्षित रहेगा । विहित-कर्म करनेका
अभिमान रहनेसे निषिद्ध-कर्म अवश्य होते हैं । परतु ‘मैं निषिद्ध-कर्म
नहीं करूँगा’ इस प्रिषेधात्मक निश्चयमें किसी योग्यता, सामर्थ्यकी
अपेक्षा न रहनेके कारण साधकमें अभिमान नहीं आता और उसका
‘अह’ नष्ट हो जाता है । फलकी कामना तभी होती है, जब कुछ

* यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य द्वदि श्रिता ।

अथ भर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥

(कठोपनिषद् २ । ३ । १४)

साधकके हृदयमें स्थित सम्पूर्ण कामनाएँ जर समूल नष्ट हो जाती
हैं, तब मरणघर्मा मनुष्य अमर हो जाता है और यहीं (मनुष्य शरीरमें
ही) ब्रह्मका भलीभाँति अनुभव कर लेता है ।

त्यागेनैवे अमृतत्वमानशु ॥ (कैवल्योपनिषद् ३)

फौई साधक त्यागके द्वारा ही अमृतत्वको प्राप्त हुए हैं ॥

किया जाता है। जब कुछ किया ही नहीं, केवल निषिद्धन् त्याग ही किया है, तब फलकी कामना क्यों होगी? अनस्त्र करनेका अभिमान न रहनेसे फलासक्तिका त्याग स्थित हो जाता फलासक्तिका त्याग होनेपर शान्ति स्थित सिद्ध है।

निषिद्ध-कर्म न बतनेका निष्ठय होनेपर तो अपस्थित है—या तो विद्वित-कर्ममें प्रवृत्ति होगी या सर्वथा निष्वृति। जिस कर्ममें प्रवृत्तिसे अन्त करण निर्मल होता है और सर्वथा निष्वृति होनेपर मात्रामें स्थिति होती है। सर्वथा निष्वृतिका तात्पर्य वासनारहित अपस्थामें है न कि अकर्मण्यता या आलस्यसे, क्योंकि आलस्य और भी निषिद्ध-कर्म है।

कर्मयोगी अपनेको निरन्तर 'कर्ता' नहीं मानता। वह कर्म करते समय ही उस कर्मका कर्ता बनता है, दूसरे समय नहीं। कर्मका अन्त होनेके साथ ही उसके कर्तापिनका भी अन्त हो जाता है। जैसे—बोलनेके समय वह 'वक्ता' बनता है, बोलना समाप्त होने ही उसका कर्तापिन (मैं वक्ता हूँ) भी समाप्त हो जाता है। वास्तवमें कर्म करते समय भी वह अपनेको उस कर्मका कर्ता बैठे ही नहीं मानता, जैसे नाटकमें घोंगधारी व्यक्ति कर्म (अभिनय) करते हुए भी वस्तुत अपनेको उसका कर्ता नहीं मानता। इस प्रकार कर्मयोगीम् कर्तापिन निरन्तर नहीं रहता। जो वस्तु निरन्तर नहीं रहती, अपितु बदलनी रहती है, वह वास्तवमें नहीं होती—यह निष्ठान्त है। अनश्व कर्म करते हुए भी कर्मयोगीका कर्तृत्वाभिमान छुगमनारूपक निष्ठा जाता है और उसका जइतासे सर्वथा सम्बन्धित विष्ट्रेद हो जाता है।

साधन-सम्बन्धी विशेष चात

भगवान्‌ने नवें, दसवें और ग्यारहवें श्लोकमें क्रमशः जो तीन साधन (अभ्यासयोग, भगवदर्थ-कर्म और कर्मफलत्याग) बतलाये हैं, निचारपूर्वक देखा जाय तो उनमेंसे (कर्मफलत्यागको छोड़कर) प्रत्येक साधनमें शेष दोनों साधन भी आ जाते हैं । जैसे—(१) अभ्यासयोगमें भगवान्‌के लिये भजन, नाम-जप आदि क्रियाएँ करनेसे वह भगवदर्थ है ही और नाशवान् फलकी कामना न होनेसे उसमें कर्मफलत्याग भी है, (२) भगवदर्थ-कर्ममें भगवान्‌के लिये कर्म होनेसे अभ्यासयोग भी है और नाशवान् फलकी कामना न होनेसे कर्मफलत्याग भी है ।

वास्तवमें साधकको सबसे पहले अपने लक्ष्य, ध्येय अथवा उद्देश्यको सुनिश्चित करना चाहिये । इसके बाद उसे यह पहचानना चाहिये कि उसका सम्बन्ध वास्तवमें किसके साथ है । फिर चाहे कोई भी साधन करे—अभ्यास करे, भगवत्प्रीत्यर्थ कर्म करे अथवा कर्मफलत्याग करे, वही साधन उसके लिये श्रेष्ठ हो जायगा । जब साधकका यह लक्ष्य हो जायगा कि उसे भगवान्‌को ही प्राप्त करना है और वह यह भी पहचान लेगा कि अनादिकालसे उसका भगवान्‌के साथ स्वतं सिद्ध सम्बन्ध है, तब कोई भी साधन उसके लिये छोटा नहीं रह जायगा । किसी साधनका छोटा या बड़ा होना लौकिक दृष्टिसे ही है । वास्तवमें मुख्यता उद्देश्यकी ही है । अत साधकको चाहिये कि वह अपने उद्देश्यमें कभी किञ्चिन्मात्र भी शिथिलता या अनिश्चय न आने दे ।

किसी साधनकी सुगमता या कठिनता साधकर्ता ही और 'उद्देश्य' पर निर्भर करती है। रुचि और उद्देश (भगवान्‌का) होनेसे साधन सुगम होता है तथा रुचि समझौर उद्देश्य भगवान्‌का होनेसे साधन कठिन हो जाता है।

जैसे—भूख सबकी एक ही होती है और भोजन इस वृत्तिका अनुभव भी सबको एक ही होता है, पर भोजनसे ही सबकी भिन्न-भिन्न होनेके कारण भोज्य-पदार्थ भी भिन्न भिन्न हैं। इसी प्रकार साधकोंकी रुचि, विश्वास और योग्यताके अनुभव साधन भी भिन्न-भिन्न होते हैं, पर भगवान्‌की अप्राप्तिका दुष्ट दर्शन भगवत्प्राप्तिकी अभिवाप्ता (भूख) सभी साधकोंमें एक ही है। साधक चाहे किसी भी श्रेणीका क्यों न हो, सान्त्वना पूर्णताके बाद भगवत्प्राप्तिरूप आनन्दकी अनुभूति (तृप्ति) में सबको एक-जैसी ही होती है।

प्रत्युत प्रकरणमें अर्जुनको निमित्त बनाकर भगवान्‌ने मुख्य मात्रके कल्याणके लिये चार साधन बताये हैं—(१) सर्वर्गयोगः (२) अभ्यासयोग, (३) भगवान्‌के लिये ही सम्पूर्ण कर्मोंसे अनुष्ठान और (४) सर्वकर्मफलत्याग। यद्यपि चारों साधनोंमें दृढ़ भगवत्प्राप्ति ही है, तथापि साधकोंमें रुचि, श्रद्धा-विश्वास और योग्यताकी भिन्नताके कारण ही भिन्न-भिन्न साधनोंका धर्णन दुआ है। पास्तबमें चारों ही साधन समानरूपसे स्वतन्त्र और अत्रहैं। इसप्रीति साधक जो भी साधन अपनाये, उसे उस साधनको संगेष्ठी मानना चाहिये।

इसे अपने साधनको किसी प्रकार हीन (निम्नश्रेणीका) नहीं गरिना चाहिये और साधनकी सफलता (भगवद्वासि)के विषयमें इसमी निराश भी नहीं होना चाहिये, क्योंकि कोई भी साधन नेम्नश्रेणीका होता ही नहीं । यदि साधकका एकमात्र उद्देश्य भगवद्वासि हो, साधन उसकी रुचि, विश्वास तथा योग्यताके अनुसार हो, साधन पूरी शक्ति और तपरता (ज्ञान) से किया जाय और भगवद्वासिकी उत्कण्ठा भी तीव्र हो, तो सभी साधन एक समान हैं । साधकको उद्देश्य, सामर्थ्य एवं तपरताके विषयमें कभी इतोत्साह नहीं होना चाहिये । भगवान् साधकसे इतनी ही अपेक्षा रखते हैं कि वह अपनी पूरी शक्ति और योग्यताको साधनमें लगा दे । साधक चाहे भगवत्तत्त्वको ठीकठीक न आने, पर सर्वद्व भगवान् तो उसके उद्देश्य, भाव, शक्ति, तपरता आदिको भलीभाँति जानते ही हैं । यदि साधक अपने उद्देश्य, भाव, चेष्टा, तपरता, उत्कण्ठा आदिमें किसी प्रकारकी कमी न आने दे तो भगवान् स्वय उसे अपनी प्राप्ति करा देते हैं । बास्तवमें अपने उद्घोग, बल, ज्ञान आदिकी कीमतसे भगवान्की प्राप्ति हो ही नहीं सकती । यदि भगवान्के दिये हुए बल, ज्ञान आदिको भगवान्की प्राप्तिके लिये ही ज्ञान दिया जाय तो वे साधकको कृपापूर्वक अपनी प्राप्ति करा देते हैं ।

सप्तरमें भगवद्वासि ही सबसे मुगम है और इसके सभी अधिकारी हैं, कारण कि इसीके लिये मनुष्यशरीर मिल है । सब प्राणियोंके कर्म भिज-भिज होनेके कारण किन्हीं भी दो व्यक्तियोंको सप्तरके पदार्थ एक समान नहीं मिल सकते, जबकि (भगवान् एक

होनेसे) भगवत्प्राप्ति सबको एक समान ही होती है, वे भगवत्प्राप्ति कर्मजन्य नहीं है। जीवात्मा परमामाका ही जी और अश अशीको ही प्राप्त होता है, ऐसा सिद्धान्त है।

भगवान्‌की प्राप्तिमें ससारसे वैराग्य और भगवत्प्राप्ति उत्कण्ठा—ये दो बातें ही मुख्य हैं, इन दोनोंमेंसे किसी ए साधनके भी तीव्र होनेपर भगवत्प्राप्ति हो जाती है। पर वे भगवत्प्राप्तिकी उत्कण्ठामें पिशेष शक्ति है।

ऊपर जो चार साधन बतलाये गये हैं, उनमेंसे प्रथम तीव्र साधन तो प्रधानतया भगवत्प्राप्तिकी उत्कण्ठा जाप्रद करनेवाले हैं और चौथा साधन (कर्मफलत्याग) मुख्यत ससारमें मन्त्र विच्छेद करनेवाला है।

साधन कोई भी हो, जब सासारिक भोग दुष्टायी प्रत्यक्ष द्वाने लगेंगे तथा भोगोका हृदयसे त्याग होगा, तभी (वृक्ष भावन् द्वानेसे) भगवान्‌की ओर सत प्रगति होगी और भगवान्‌की इपासे ही उनकी प्राप्ति हो जायगी।

इसी तरह जब भगवान् परमप्रिय लगने लगेंगे, उनके स्तु रक्षा नहीं जायगा, उनके मियोगमें व्याकुलता होने लगेगी, तब ही ए ही भगवान्‌की प्राप्ति हो जायगी ॥ १२ ॥

सम्पर्क—

भगवान्‌ने निर्गुण-निराकार वस्त्र और सगुण-साकार भगवान्-की उपासना करतेवाले उपासकोमें सगुण-उपासकोको शेष बतलाएँ अजुंगको सगुण-उपासना करनेकी आशा दी। सगुण-उपासनाने

प्रस्तर्गत भगवान् ने आठवेंसे न्यारहवें श्लोकतक अपनी प्रातिके चार गाधन बतलाये । अब तेरहवेंसे उन्नीसवें श्लोकतक भगवान् पाँच लक्षणोंमें चारों साधनोंसे सिद्धावस्थाको प्राप्त हुए अपने प्रिय भक्तोंके लक्षणोंका वर्णन करते हैं । पहला प्रकरण तेरहवें और चौदहवें दो श्लोकोंका है, जिसमें सिद्ध भक्तके वारह लक्षण बतलाये गये हैं ।

श्लोक—

अद्वेषा सर्वभूताना मैत्र करण एव च ।

निर्ममो निरहकार समदुखसुख क्षमी ॥ १३ ॥

सतुष्ट सतत योगी यतात्मा दृढनिश्चय ।

मर्यादितमनोबुद्धियो मद्भक्त स मे प्रिय ॥ १४ ॥

भावार्थ—

एकमात्र भगवान्‌में ही आत्मीयता और प्रेम होनेसे भक्तका ससारके प्राणियोंके प्रति दयाका भाव हो सकता है, पर द्वेषका भाव होना सम्भव नहीं । अतः सिद्ध भक्तमें सम्पूर्ण प्राणियोंके प्रति द्वेषका सर्वथा अभाव होता है ।

सिद्ध भक्तोंके लक्षणोंमें सबसे पहले स्पष्टत्वपर्याप्त ‘अद्वेषा सर्वभूतानाम्’ पद देकर भगवान् यह बतलाते हैं कि साधकका भी किसी प्राणीके साथ वैर-प्रियोध नहीं होना चाहिये । सिद्ध भक्तमें प्राणिमात्रके प्रति द्वेषका आत्यन्तिक अभाव तो होता ही है, साथ ही उसके दृश्यमें सबके प्रति मित्रता और करुणाका भाव भी रहता है । एकमात्र प्रभुमें ही आत्मीयता होनेके कारण उसका शरीर और ससारके प्रति ममता (अपनेपन) का फ़िश्चित् भी भाव नहीं रहता । उसकी शरीरमें अहबुद्धि भी नहीं रहती । अत्यन्त कष्टमय अथवा अत्यन्त सुखमय परिस्थितिके उपस्थित होनेपर भी उसके अन्त करणमें समभाव

रहता है। किसी भी प्राणीके द्वारा अपने प्रति किये गये ज्ञान-वा अपराध न माननेसे वह सदैव क्षमाशील होता है। एकमात्र मात्र, ही उसकी सतुष्टिका कारण होते हैं। इसलिये वह सदा ही सदा रहता है। केवल भगवान्‌में ही रमण करनेसे वह योगी है। शब्द सहित मन-इन्द्रियाँ भलीभाँति उसके वशमें रहते हैं। उसके निलंबन सर्वत्र एक भगवान्‌की ही सत्ता होती है। भगवान्‌में ही अनंग प्राण होनेसे उसके मन और बुद्धि भगवान्‌के अपित रहते हैं अर्थात् उसकी किञ्चित् भी ममता नहीं रहती। ऐसे भक्तको भगवान् बता प्रिय बतलाते हैं।

अन्वय—

सर्वभूतानाम्, पूज, अद्वेषा, मैथ, च करण, निर्मनं, निरहकार, समदुखसुख, क्षमी ॥ १३ ॥

सततम्, सतुष्ट, योगी, यतात्मा, इदनिश्चय, मयि, आप्तिम्, उद्दि, च, मद्भक्त, सु, मे, प्रिय ॥ १४ ॥

पदव्याख्या—

सर्वभूतानाम् एव अद्वेषा—सब भूतोंमें ही द्वेषभावसे रहता। (किसी भी प्राणीके साथ—यहाँतक कि बिना कारण असा अत्यधिक अनिष्ट करनेवालेके साथ भी जिनका द्वेषभाव नहीं है।)

अनिष्ट करनेवालोंके दो भेद हैं—(१) इष्टकी प्राप्तिमें याधा उत्पन्न बरनेवाले अर्थात् धन, मान-बड़ाई, आदर-संकार आदि की प्राप्तिमें याधा उत्पन्न बरनेवाले और (२) अनिष्ट पदार्थ, विश्व, ज्युक्ति, घटना आदिसे सयोग करनेवाले। भक्तके शरीर, मन, मुर्द्दि, इन्द्रियाँ और सिद्धान्तके प्रतिकूल चाहे कोई कितना ही, किसी

कारका व्यवहार करे—इष्टकी प्राप्तिमें घाधा ढाले, अनिष्ट करे,
निन्दा करे, अपमान करे अथवा फिसी प्रकारकी आर्थिक और
गारीरिक हानि पहुँचाये, पर भक्तके मनमें उसके प्रति कभी
किञ्चिन्मात्र द्वेष नहीं होता, क्योंकि वह प्राणिमात्रमें अपने प्रभुको ही
ज्ञास देखता है। ऐसी स्थितिमें वह पिरोध करे तो फिससे करे—
नन् निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं विरोध ॥

(मानस ७। २१२ च)

इतना ही नहीं, वह तो अनिष्ट करनेवालोंकी सब कियाओंको
भी भगवान्‌का कृपापूर्ण मङ्गलमय विधान ही मानता है।

प्राणिमात्र भगवान्‌का अश है। अत किमी भी प्राणीके प्रति
योद्धा भी द्वेषभाव रहना भगवान्‌के प्रति ही द्वेष है। इसलिये फिसी
प्राणीके प्रति द्वेष रहते हुए भगवान्‌से अभिनता तथा अनन्यप्रेम नहीं
हो सकता। प्राणिमात्रके प्रति द्वेषभावसे रहित होनेपर ही भगवान्‌में
पूर्ण प्रेम हो सकता है। इसलिये भक्तमें प्राणिमात्रके प्रति द्वेषका
सर्वया अभाव होता है।

मैत्र च करुण—खार्यरहित सवक्ता प्रेमी और हेतुरहित
दयालु ॥*

भक्तके अन्त करणमें प्राणिमात्रके प्रति केषल द्वेषका अत्यन्त
भाव ही नहीं होता, अपितु समूर्ण प्राणियोंमें भगवद्वाव होनेके नाते

* यहाँ भक्तोंके जो लक्षण बतलाये गये हैं, वे जानी (गुणातीत)
मुरुघोंके (गीता १४। २२-२५ में वर्णित) लक्षणोंकी अपेक्षा भी
अधिक प्रब विलक्षण हैं। ‘मैत्र’, और ‘करुण’, पद भी यहाँ—भक्तोंके
स्वर्णोंमें ही आये हैं।

उसका सबसे मैत्री और दयाका व्यवहार भी होता है। प्राणिमात्रके सुदृढ़ हैं—‘सुदृदं सर्वभूतानाम्’ (गीता ५।२९) भगवान्‌का स्वभाव भक्तमें अवतरित होनेके कारण भक्त भी स्व प्राणियोंका सुदृढ़ होता है—‘सुदृदः सर्वदेहिनाम्’ (श्रीमद्भा॒ ३।२५।२१)। इसलिये भक्तका भी सभी प्राणियोंके किसी स्वार्थके बिना खाभाविक ही मैत्री और दयाका भाव रहता है देह रहित जग लुग उपकारी। सुग्रह सुम्हार सेवक असुररी। (मालस ७।४१)

भक्तका अपने अनिष्ट करनेवालोंके प्रति भी मित्रताका अवहर होता है, क्योंकि उसका भाव यह रहता है कि अनिष्ट करनेवाले अनिष्टरूपमें भगवान्‌का विधान ही प्रस्तुत किया है। अत दूसरे जो कुछ किया है, मेरे लिये ठीक ही किया है कारण कि भगवान्‌का विधान सदैव मंगलमय होता है। इतना ही नहीं, भक्त ये मानता है कि उसका अनिष्ट करनेवाला (अनिष्टमें निमित्त बनकर उसके (भक्तके) पूर्वकृत पापकर्मोंका नाश कर रहा है, अत ५२ मिश्ररूपसे आदरका पात्र है।

साधकमात्रके मनमें यह भाव रहता है और रहना ही चाहिये कि उसका अनिष्ट करनेवाला उसके पिठले पारोंका कल मुक्ताकर उसे शुद्ध कर रहा है। जब सामान्य सामर्कने द्वारा अनिष्ट करनेवालेके प्रति मैत्री और करुणाकर भाव रहता है, तिरस्ति मरकर तो करना ही यथा है। सिद्ध भक्तका तो उसके प्रति ही क्या, प्राणिमात्रके प्रति मैत्री और दयाका विशुद्ध भाव होता है। पात्रध्यायोगदर्शामें चित्त शुद्धिके चार हेतु बनवाये गये हैं—

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणा सुखदुखपुण्यापुण्यविषयाणा
भावनातश्चित्प्रसादनम् । (१ । ३३)

‘मुखियोंके प्रति मैत्री, दुखियोंके प्रति करुणा, पुण्यात्माओंके प्रति मुदिता (प्रसन्नता) और पापात्माओंके प्रति उपेक्षाके भावसे चित्तमें निर्मलता आती है ।’

परतु भगवान्‌ने इन चारों हेतुओंको दोमें विभक्त कर दिया है—‘मैत्र च करुण ।’ तात्पर्य यह है कि सिद्ध भक्तका मुखियों और पुण्यात्माओंके प्रति ‘मैत्री’ का भाव तथा दुखियों और पापात्माओंके प्रति ‘करुणा’का भाव रहता है ।

दुख पानेवालेकी अपेक्षा दुख देनेवालेपर (उपेक्षाका भाव न होकर) दया होनी चाहिये, क्योंकि दुख पानेवाला तो (पुराने पापोंका कल भोगकर) पापोंसे छूट रहा है, पर दुख देनेवाला नया पाप कर रहा है । अत दुख देनेवाला दयाका विशेष पात्र है ।

निर्मम —ममतासे रहित ।

यद्यपि भक्तका ग्राणिमात्रके प्रति खभावत मैत्री और करुणाका भाव रहता है, तथापि उसकी किसीके प्रति किञ्चिमात्र भी ममता नहीं होती । ग्राणियों और पदार्थोंमें ममता (मेरेपनका भाव) ही मनुष्यको ससारमें बँधनेवाली होती है । भक्त इस ममतासे सर्वथा रहित होता है । उसकी अपने कहलानेवाले शरीर, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धिमें भी बिल्कुल ममता नहीं होती ।

साधकसे भूल यह होती है कि वह ग्राणियों और पदार्थोंसे तो ममता हटानेकी चेष्टा करता है, पर अपने शरीर, मन, बुद्धि

उसका सबसे मैत्री और दयाका व्यवहार भी होता है। प्राणिमात्रके सुदृढ़ हैं—‘सुषुदं सर्वभूतानाम्’ (गीता ५।२९)। भगवन्‌का सभाव भक्तमें अवतरित होनेके कारण भक्त भी सूर्य प्राणियोंका सुदृढ़ होता है—‘सुषुदं सर्वदेहिनाम्’ (श्रीमद्भागवत् ३।२५।२१)। इसलिये भक्तका भी सभी प्राणियोंके प्रीति किसी स्थार्थके बिना सामाजिक ही मैत्री और दयाका भाव रहता है—
‘हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी।’
(मानस ७।५)

भक्तका अपने अनिष्ट करनेवालोंके प्रति भी मित्रताका व्यवहार होता है, क्योंकि उसका भाव यह रहता है कि अनिष्ट करनेवाले अनिष्टरूपमें भगवान्‌का विधान ही प्रस्तुत किया है। अतः उन्होंने जो कुछ किया है, मेरे लिये ठीक ही किया है कारण कि भगवान्‌का विधान सदैव मंगळमय होता है। इतना ही नहीं, भक्त परमानन्दा है कि उसका अनिष्ट करनेवाला (अनिष्टमें निमित्त बनकर) उसके (भक्तके) पूर्वज्ञ पापकर्मोंका नाश कर रहा है, अतः उसके विशेषरूपसे आदरका पात्र है।

साधकमात्रके मनमें यह भाव रहता है और रहना ही चाहिये कि उसका अनिष्ट करनेवाला उसके पिछ्ले पार्गोंसे फल सुग्राहकर उसे शुद्ध कर रहा है। जब सामाय सामर्कमें अनिष्ट करनेवालेके प्रति मैत्री और करुणाका भाव रहता है, तिरंसिर भक्तका तो फहना ही क्या है? सिद्ध भक्तका तो उसके प्रति ही क्या, प्राणिमात्रके प्रति मैत्री और दयाका विलक्षण भाव होता है—
पातञ्जलयोगदर्शनमें चित्त शुद्धिके चार हेतु वतलाये गये हैं—

मैश्रीकरुणामुदितोपेक्षाणा सुखदुःखपुण्यापुण्ययिष्याणा
भावनातश्चित्प्रसादनम् । (१ । ३३)

‘सुखियोंके प्रति मैत्री, दुखियोंके प्रति करुणा, पुण्यात्माओंके प्रति मुदिता (प्रसन्नता) और पापात्माओंके प्रति उपेक्षाके भावसे चित्तमें निर्मलता आती है ।’

परतु भगवान् ने इन चारों हेतुओंको दोमें विभक्त कर दिया है—‘मैत्र’ च करुणा । तात्पर्य यह है कि सिद्ध भक्तका सुखियों और पुण्यात्माओंके प्रति ‘मैत्री’ का भाव तथा दुखियों और पापात्माओंके प्रति ‘करुणा’का भाव रहता है ।

दुख पानेवालेकी अपेक्षा दुख देनेवालेपर (उपेक्षाका भाव न होकर) दया होनी चाहिये, क्योंकि दुख पानेवाला तो (पुराने पापोंका फल भोगकर) पापोंसे छूट रहा है, पर दुख देनेवाला नया पाप कर रहा है । अत दुख देनेवाला दयाका विशेष पात्र है ।

निर्मम —ममतासे रहित ।

यद्यपि भक्तका प्राणिभात्रके प्रति स्वभावत मैत्री और करुणाका भाव रहता है, तथापि उसकी किसीके प्रति किञ्चित्भात्र भी ममता नहीं होती । प्राणियों और पदार्थोंमें ममता (मेरेपनका भाव) ही मनुष्यको सुसारमें बौधनेवाली होती है । भक्त इस ममतासे सर्वथा रहित होता है । उसकी अपने कहलानेवाले शरीर, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धिमें भी विलकुल ममता नहीं होती ।

साधकसे भूल यह होती है कि वह प्राणियों और पदार्थोंसे तो ममता हटानेकी चेष्टा करता है, पर अपने शरीर, मन, बुद्धि

और इन्द्रियोंसे ममता हटानेकी ओर विशेष ध्यान नहीं देता। ही लिये वह सर्वथा निर्मम नहीं हो पाता। साधक जबतक मन, दुर्दि इन्द्रियाँ और शरीरको 'अपना' मानकर उन्हें शुद्ध करनेसी दें करेगा, तबतक उसे मगनव्यासिमें निलम्ब ही होगा, क्योंकि उसे अपना मानना ही मूल अशुद्धि है।

निर्मम होना प्रत्येक साधनमें 'अत्यावश्यक है। कर्मकों शरीरादिको अपना न मानकर उनसे दूसरोंकी निष्कामभावसे सेव करता है (गीता ५। ११) जिससे (निर्मम होनेसे) उस अन्त करण शुद्ध हो जाता है। ममतासे रहित होकर दूसरेकी सेव (या पालन-पोषण) करनेसे सेवक ('सेवा' करनेवाले) तथा सेवक ('जिसकी सेवा की जाय) — दोनोंका अन्त करण शुद्ध होता है। इसके विपरीत ममतासहित दूसरेकी सेवा, करनेसे सेवक औ सेव्य—दोनोंका अन्त करण ('आसक्ति, कामना आदिसे) अब होता है।

ज्ञानयोगी विवेक-विचार तथा वैराग्यसे जड़ ससारसे बरना कोई सम्बन्ध न मानकर निर्मम होता है। भक्तियोगमें भक्त प्रारम्भसे ही एक भगवान्‌के सिवा किसीको अपना नहीं मानता, अत वह श्रीम ही सुगमतापूर्वक निर्मम हो जाता है ।

* घस्तुत सेव्यका अन्त करण तभी शुद्ध होगा, जब वह भी ममता-रहित हो ।

† दूसरे अध्यायके इकहत्तरवें इलोकमें, तीसरे अध्यायके तीसवें इलोकमें और अठारहवें अध्यायके तिरपनवें इलोकमें आया 'निर्मम' पद इसी भाषणों व्यक्त करता है।

निरहंकार — अंहकारसे रहित ।

शरीर, इन्द्रियाँ आदि जड़-पदार्थोंको अपना सरूप माननेसे 'अहकार' उत्पन्न होता है । गीताके अनुसार अहकार (अहता)से रहित होना प्रत्येक साधकके लिये अत्यापश्यक है । इसीलिये दूसरे अव्यायके इकहत्तरवें श्लोकमें 'कर्मयोगी'के लिये, अठारहवें अव्यायके तिरपनवें श्लोकमें 'ज्ञानयोगी'के लिये और यहाँ (प्रस्तुत श्लोकमें) 'भक्तियोगी' के लिये अहकाररहित होनेकी बात कही गयी है ।

'कर्मयोगी' अहकारको शुद्ध करके अहकाररहित होता है । जैसे 'मैं पुत्र हूँ' ऐसा अहकार रखनेवाला कर्मयोगी ऐसा मानेगा कि मैं पुत्रोचित कर्तव्य-कर्म (सेगा) करनेमात्रके लिये पुत्र हूँ, कुछ पानेके लिये नहीं ।

'ज्ञानयोगी' अहकारको मियाता है, क्योंकि उसकी दृष्टिमें जड़ताका सर्वथा अभाव है, और अहकार जड़तासे तादात्य होनेपरे ही होता है । जब शरीर आदि जड़ पदार्थोंकी स्ततन्त्र सत्ता ही नहीं रही तो अहकार कैसे रह सकता है ।

'भक्तियोगी' अहकारको बदलकर अहकाररहित होता है । जो पहले 'मैं ससारी हूँ' ऐसा मानता था, वही 'मैं भगवान्‌का ही हूँ' ऐसा मानकर अपना अहकार बदल लेता है । वास्तवमें सम्पूर्ण प्राणी भगवान्‌के ही हैं । अत 'मैं भवगान्‌का ही हूँ' इस वास्तविकताको स्वीकारकर लेनेसे भक्तका (बाँधनेवाला) अहकार मिट जाता है ।

भक्तकी अपने शरीरादिके प्रति किञ्चित् भी अहंबुद्धि न होनेके कारणे एवं केवल भगवान्‌से सम्बन्ध हो जानेके कारण उसके अन्ते-

करणमें खत श्रेष्ठ, दिव्य, अलौकिक गुण प्रकट होने लाते हैं। इन गुणोंको भी वह अपने गुण नहीं मानता, अपितु (दैवतस्तु द्वानेसे) भगवान्‌के ही मानता है। 'सद' (परमात्मा)के ही कारण ही ये गुण 'सद्गुण' कहलाते हैं। ऐसी दशामें भक्त अपना मान ही कैसे सकता है। इसलिये वह अहकारसे पूर्ण हित होता है।

समदुखसुख — सुख-दुखोंकी प्राप्तिमें सम ।

भक्त सुख-दुखोंकी प्राप्तिमें सम रहता है अर्यादृ अनुशूल्भ-प्रतिकूलता उसके हृदयमें राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि विकारउत्पन्न कर सकते ।

गीतामें 'सुख-दुख' पद अनुकूलता-प्रतिकूलताकी परिस्थिति (जो सुख-दुख उत्पन्न करनेमें हेतु है) के लिये तथा अन्त घरणमें होनेवाले हर्ष-शोकादि विकारोंके लिये भी आया है।

अनुकूलता-प्रतिकूलताकी परिस्थितियाँ मनुष्यको सुखी-दुःखी बनाकर ही उसे वाँधती है। इसलिये सुख-दुःखमें सम होनेका काम है—अनुकूलता या प्रतिकूलताकी परिस्थिति आनेपर अपनेमें हर्षशोकादि विकारोंका न होना।

भक्तके शरीर, इन्द्रियाँ, मन, सिद्धान्त आदिके अनुकूल प्रनिकूल प्राणी, पदार्थ, परिस्थिति, घटना आदिका संयोग या क्रिये होनेपर उसे अनुकूलता और प्रतिकूलताका 'ज्ञान' तो होता है, परं बसके अन्त कारणमें हर्ष-जोकाहि कोई 'विकार' उत्पन्न नहीं होता।

— अपने होना अपने-आपमें कोई दोष नहीं है, अपितु उससे अन्त करणमें इनकार उत्पन्न होना ही दोष है। भक्त राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि इनकारोंसे सर्वथा रद्दित होता है। उदाहरणार्थ—प्रारब्धानुसार भक्तके अन्तरीमें कोई रोग होनेपर उसे शारीरिक पीड़ियाका ज्ञान (अनुभव) तो न होगा, किंतु उसके अन्त करणमें किसी प्रकारका विकार नहीं होगा।
क्षमी—क्षमावान् ।

अपना किसी प्रकारका भी अपराध करनेवालेको किसी भी कारणका दण्ड देनेकी इच्छा न रखकर उसे क्षमा कर देनेवालेको 'क्षमी' कहते हैं।

भक्तके लक्षणोंमें पहले 'अद्वेषा' पद देकर भगवान् ने भक्तमें अपना अपराध करनेवालेके प्रति द्वेषका अभाव बतलाया, अब यहाँ 'क्षमी' पदसे यह बतलाते हैं कि भक्तमें अपना अपराध करनेवालेके प्रति ऐसा भाव रहता है कि वह भगवान् अथवा अन्य किसीके द्वारा भी दण्डित न हो ऐसा क्षमाभाव भक्तिकी एक विशेषता है।

सततम् सतुष्ट—निरन्तर सतुष्ट ।*

जीवको मनके अनुकूल प्राणी, पदार्थ, घटना, परिस्थितिके सयोगमें एवं मनके प्रतिकूल प्राणी, पदार्थ, घटना, परिस्थितिके

* ऐसे सतोषीके लिये भागवतकार कहते हैं—

सदा सतुष्टमनस सर्वा सुतमया दिशा ।
शक्तराकण्टकादिभ्यो यथोगानत्यद शिवम् ॥

(श्रीमद्भागवत ७ । १५ । १७)

जैसे दैरोंमें जूते पहनकर चलनेवालेको ककड़ और कॉटोंसे कोई भय नहीं होता, वैसे ही जिसके मनमें सतोष है, उसके लिये सर्वदा सब जगह सुख ही सुख है, दुःख है ही नहीं ।

वियोगमें सतोप होता है। विजातीय एवं अनित्य पदार्थसे कारण यह सतोष स्थायी नहीं रह पाता। स्वयं नित्य होनेके जीवको नित्य परमात्माकी अनुभूतिसे ही वास्तविक और सारी होता है।

भगवान्‌को प्राप्त होनेपर भक्त नित्य-निरन्तर सतुष्टे रहते हैं क्योंकि न तो उसका भगवान्‌से कभी वियोग होता है और न उसका नाशवान् ससारकी कोई आवश्यकता ही रहती है। अत उसके असंतोषका कोई कारण ही नहीं रहता। इस सतुष्टिके कारण ही ससारके किसी भी प्राणी-पदार्थके प्रति किञ्चित् भी महत्व-बुद्धि व स्वता—‘यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिक तरं (गीता ६ । २२) ।*

‘सतुष्ट’के साथ ‘सततम्’ पढ़ देकर भगवान् ने भक्तके रूप नित्य-निरन्तर रहनेवाले सतोषकी ओर ही लक्ष्य कराया है, जिसके न तो कभी कोई अंतर पड़ता है और न कभी अन्तर पड़नेमी सम्भाल ही रहती है। कर्मयोग, ज्ञानयोग या भक्तियोग—किसी भी ‘योगमार्ग’ से सिद्धि प्राप्त करनेवाले महापुरुषमें ऐसी सतुष्टि (जो वास्तवमें है) निरन्तर रहती है।†

॥ संत कवीरदासेंजी कहते हैं—

गोधन गजधन राजधन, और रतन धन सान ।

जब आवै सतोप धन, सब धन धूरि समान ॥

† दूसरे अध्यायके पचपनवें श्लोकमें ‘आत्मन्येवात्मना तुष्ट’ पढ़ोने और तीसरे अध्यायके सप्तद्वें श्लोकमें ‘आत्मन्येव च संतुष्ट’ पढ़ोसे कर्मणोर्ही की, छठे अध्यायके यीसवें श्लोकमें ‘आत्मनि तुष्ट्यति’ पढ़ोसे व्यानयोगीकी।

१३८ योगी—परमात्मासे युक्त ।

१३९ भक्तियोगके द्वारा परमात्माको प्राप्त (नित्य-निरन्तर परमात्मासे अनुभूति) पुरुषका नाम यहाँ 'योगी' है ।

वास्तवमें किसी भी मनुष्यका परमात्मासे कभी वियोग हुआ नहीं
मनुष्यनहीं, हो सकता नहीं और सम्भव ही नहीं । इस गात्राविकलाक
द्वारा सने अनुभव कर लिया है, वही 'योगी' है ।

१४० समताका नाम ही योग है—'समत्वं योग उच्यते' (गीता २
(४, ५६-८)) भक्तमें स्वाभाविक ही समता रहती है । उसमें राग-द्वेष, दृष्टि-
विश्वासीक आदि विकार कभी होते ही नहीं । इस दृष्टिसे भी उसे 'योगी'
होता जाता है ।

यतात्मा—मन-बुद्धि-इन्द्रियोंसहित शरीरको वशमें किये हुए
जिसका मन-बुद्धि-इन्द्रियोंसहित शरीरपर पूर्ण अधिकार है
जहाँ 'यतात्मा' है । सिद्ध भक्तको मन-बुद्धि आदि वशमें करने नहीं
मिलते, अपितु ये स्वाभाविक ही उसके वशमें रहते हैं । इसलिये उसमें
किसी ग्रकारके इन्द्रियजन्य दुर्गुण-दुराचारके आनेकी सम्भावना ही
नहीं रहती ।

और इसी (बारहवें) अध्यायके उन्नीसवें श्लोकमें प्रतुष, पदसे भक्तियोगी-
की निरन्तर सतुष्टिका वर्णन हुआ है ।

सिद्ध भक्तमें स्वाभाविक ही निरन्तर सतोष रहता है, जब कि साधक
सतोषके लिये चेष्टा करता है । दसवें अध्यायके नवें श्लोकमें 'तुष्यति' पदसे
साधकके सतोषकी बात कही गयी है ।

वास्तवमें सतुष्टि नित्य निरन्तर ही रहती है, पर जड़ताके सम्बन्धसे
इसकी अनुभूति नहीं होती । । । ।

वास्तवमें मन-बुद्धि-इन्द्रियाँ स्वाभाविकरूपसे स-मार्गसंरचना लिये ही हैं, किंतु ससारसे रागयुक्त सम्बन्ध रहनेसे ये (मनुर्मुख इन्द्रियाँ) मार्गच्युत हो जाती हैं। भक्तका ससारसे किञ्चित् रागयुक्त सम्बन्ध नहीं होता, इसलिये उसके मन-बुद्धि इन्द्रियाँ सूर्य उसके वशमें होती हैं। अतएव उसकी प्रत्येक किया दूसरोंके आदर्श होती है।

ऐसा देखा जाता है कि न्याय-पथपर चलनेवाले सत्पुरुष इन्द्रियाँ भी कभी कुमार्गणामी नहीं होतीं। उदाहरणार्थ, राजा दुष्ट वृत्ति शकुन्तलाकी ओर जानेपर उन्हें दृढ़ विश्वास हो जाता है यह क्षत्रिय-कन्या ही है, ब्राह्मण-कन्या नहीं। कवि कालिकायनानुसार जहाँ सदेह हो, वहाँ सत्पुरुषके अन्तर्करणकी प्राणी ही प्रमाण होती है—

सता हि सदैहपदेषु वस्तुपु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तः
(अभिज्ञानशकुन्तलम् १। २।)

जब न्यायशील सत्पुरुषकी इन्द्रियोंकी प्रवृत्ति भी सत 'कुमार्गणी' और नहीं होती, तब सिद्ध भक्त (जो न्यायधर्मसे कभी किंतु अवस्थामें च्युत नहीं होता) की मन-बुद्धि-इन्द्रियाँ कुमार्गकी ओर जो ही कैसे सकती हैं ! भगवान् ने 'यतात्मा' पदसे इसी भावको व्यक्त किया है* ।

दृढ़निश्चय — दृढ़ निश्चयनाला ।

* पौँचवें अध्यायके पचीसवें श्लोकमें 'यतात्मान', पद रिद्ध इती महापुरुषोंके लिये और इसी (वारहवें) अध्यायके ग्यारहवें श्लोकमें 'यतामवान्' पद साधकोंके लिये आया है।

सिद्ध महापुरुषके अन्त करणमें शरीरसहित ससारकी खतन्त्र
गीताका सर्वया आभाव रहता है। उसकी बुद्धिमें एक परमात्माकी
अटल सत्ता रहती है। अत उसकी बुद्धिमें निर्पर्यय-दोप
प्रतिक्षण बदलनेवाले ससारका स्थायी दीखना) नहीं रहता,
गीताकी सिद्ध भक्तको एक भगवान्‌के साथ ही अपने नित्यसिद्ध
मन्त्रानुभव होता रहता है। अत उसका भगवान्‌में ही दृढ़ निश्चय
होता है। उसका यह निश्चय बुद्धिमें नहीं, अपितु 'खय'में होता
जिसका आभास बुद्धिमें प्रतीत होता है।

ससारकी खतन्त्र सत्ता मानने अथवा ससारसे अपना सम्बन्ध
माननेसे ही बुद्धिमें निर्पर्यय और सशयरूप दोप उत्पन्न होते हैं।
निर्पर्यय और सशययुक्त बुद्धि कभी स्थिर नहीं होती। ज्ञानी और
ज्ञानी पुरुषकी बुद्धिके निश्चयमें ही अन्तर होता है, खरूपसे तो
दोनों समान ही होते हैं। ज्ञानीकी बुद्धिमें ससारकी सत्ता और
उसका महत्त्व रहता है, परतु सिद्ध भक्तकी बुद्धिमें एक भगवान्‌के
अतिरिक्त न तो ससारकी फिसी वस्तुकी खतन्त्र सत्ता रहती है और
न उसका कोई महत्त्व ही रहता है। अन उसकी बुद्धि विर्पर्यय
और सशयदोषसे सर्वया रहित होती है और उसका केवल परमात्मामें
ही दृढ़ निश्चय होता है*।

* दूसरे अध्यायके चौबनवें श्लोकमें 'स्थितप्रशस्य' और 'स्थितधी',
पद, पचमनवें श्लोकमें 'स्थितप्रश', पद, छठनवें श्लोकमें 'स्थितधी', पद
तथा सत्तावनवें, अद्वावनवें एवं इकमठवें श्लोकमें 'प्रशा प्रतिष्ठिता' पद
पाँचवें अध्यायके उच्चीसवें श्लोकमें 'प्रशा साम्ये स्थित मन', पद तथा
चीसवें श्लोकमें 'स्थिरबुद्धि', पद सिद्ध महापुरुषोंमें सत रहनेवाले दृढ़

मयि अर्पितमनोबुद्धि—मुक्त (भगवान्) में आँख
बुद्धिवाला ।

जब साधक एकमात्र भगवान्मित्रो ही अपना उद्देश कर
हे एव स्वयं भगवान्का ही हो जाता हे (जो कि वात्सल्यमें
तब उसके मन-बुद्धि भी अपने-आप भगवान्में ला जाते हैं)
सिद्ध भक्तके मन-बुद्धि भगवान्के अर्पित रहें—इसमें तो
क्या है ?

जहाँ प्रेम होता है, वहाँ स्वाभाविक ही मनुष्यमा मनुष्य
एव जिसे मनुष्य सिद्धान्ततः श्रेष्ठ समझता है, उसमें
उसकी बुद्धि लगती है । भक्तके लिये भगवान्से बढ़कर कोई
और श्रेष्ठ नहीं होता । भक्त तो मन-बुद्धिपर अपना अधिकार
मानता । वह तो इन्हें सर्वया भगवान्का ही मानता है । अत
मन-बुद्धि स्वाभाविक ही भगवान्में लगे रहते हैं ।

निधयका बोध करते हैं । 'स्वयं'के निश्चय (स्वतं सिद्ध अनुभव
बुद्धिपर प्रभाव होनेके कारण उन्हें 'स्थितप्रश्न', 'स्थितघी'
नामोंसे कहा गया है ।

दूसरे अध्यायके इफतालीसर्वे तथा चौबालीसर्वे इलोकमें व्यवहार
बुद्धि, पद, सातर्वे अध्यायके अट्टाईसर्वे इलोकमें 'तथा नर्वे अप
चौदहर्वे इलोकमें 'ददगता', पद और उसी (नर्वे) अध्यायके
इलोकमें 'सम्यग्ब्यवसित', पद साधकमें रहनेवाले दद निभाष
फरानेके लिये आये हैं ।

भगवान्ने गीतामें इस दद निदच्चयकी स्थान-स्थानपर
प्रशंसा की है, क्योंकि बुद्धिके दद निदच्चयसे निरप्राप्त परम
अनुभव मुगमतापूर्वक हो जाता है ।

य—जो ।

मदभक्त—(भक्तिमार्गसे मुझे प्राप्त हुआ) मेरा भक्त (है)*

स—वह ।

मे प्रिय —मुझे प्रिय हैं ।

भगवान्‌को तो सभी प्रिय हैं, परतु भक्तका प्रेम भगवान्‌के तेरिक्त और कहीं नहीं होता । ऐसी दशामें, ‘ये यथा मा प्रपद्यन्ते स्तथैव भजाम्यहम् ।’ (गीता ४ । ११) जो मुझे जैसे भजता

* इसी (वारहवें) अध्यायके सोलहवें श्लोकमें भी ‘मदभक्त’ पद सी भावमें आया है ।

नवें अध्यायके चौंतीसवें और अठारहवें अध्यायके पैंसठवें श्लोकमें ‘मदभक्त’ पदसे साधकोंको भक्त बननेकी आज्ञा दी गयी है ।

सातवें अध्यायके तेरेसवें श्लोकमें ‘मदभक्ता’, पदे तथा ग्यारहवें प्रथायके पचपनवें श्लोकमें ‘मदभक्त’, पद, नवें अध्यायके इकतीसवें श्लोकमें भी भक्त, पद, तेरहवें अध्यायके अठारहवें श्लोकमें ‘मदभक्त’ हैं । पद और अठारहवें अध्यायके अड़सठवें श्लोकमें ‘मदभक्तेषु’ पद साधक भक्तके वाचक हैं ।

चौथे अध्यायके तीसरे श्लोकमें ‘भक्त’, पदसे भगवान्‌ने अर्जुनको अपना भक्त बतलाया है । सातवें अध्यायके इक्षीसवें श्लोकमें ‘भक्त’, पद देवताओंके भक्तके लिये आया है ।

+ भगवान् श्रीराम कहते हैं—

अखिल विस्व यह मोर उपाया । सर पर मोहि वरावरिदाया ॥

तिन्ह महें जो परिहरि मद माया । भजै मोहि मन वच अर काया ॥

पुरुष नपुसक नारि वा जीव चराचर कोइ ।

सर्व भाव भज कपट तजि मोहि परम प्रिय सोइ ॥

(मानस उत्तर० ८७ । ४, ८७ क)

है, मैं भी उसे वैसे ही भजता हूँ—इस प्रनिष्ठाके अनुसार भक्ति को भक्त अत्यन्त प्रिय होता है* ॥ १३-१४ ॥

सम्बन्ध—

सिद्ध भक्तके लक्षणोंका दूसरा प्रकरण, जिसमें छ लक्षणोंमें वर्णन है, निम्न श्लोकमें आया है ।

श्लोक—

यस्मान्नोद्दिजते लोको लोकान्नोद्दिजते च य ।

हृषीर्मर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो य स च मे प्रिय ॥१॥

भावार्थ—

इस श्लोकका विशेष तात्पर्य सिद्ध भक्तकी निर्विमारताको बताता है । उस भक्तसे कोई भी प्राणी उद्विग्न (विकारको प्राप्त) नहीं होता और वह स्वयं भी किसी प्राणीसे उद्विग्न नहीं होता ।

विकार दो प्रकारके होते हैं—

(१) प्रकृतिके कार्य शरीरादिमें होनेवाले परिवर्तनादि विकार,

* सातवें अध्यायके सत्रहवें श्लोकमें दो गार तथा इसी (बारहवें) अध्यायके पद्महवें, सोलहवें, सत्रहवें और उन्तीसवें श्लोकमें 'प्रिय' पद सिद्ध भक्तोंका ही वाचक है ।

इसी (बारहवें) अध्यायके बीसवें श्लोकमें 'अतीव मे प्रिया' पद साधक भक्तके लिये प्रयुक्त हुआ है ।

नवें अध्यायके उन्तीसवें श्लोकमें, बारहवें अध्यायके चौबार्टीवें श्लोकमें और सनहवें अध्यायके सातवें श्लोकमें 'प्रिय' पद साधारण प्रियताके लिये आये हैं ।

दसवें अध्यायके पहले श्लोकमें 'प्रीयमाणाय' पदसे और अठाहवें अध्यायके पैंसठवें श्लोकमें 'प्रिय', पदसे भगवान् ने अर्जुनको अन्ना प्रिय कहा है ।

जैसे—बालकपनसे वृद्धामस्थानो प्राप्त होना, शरीरमें रोगादिका होना इत्यादि । ये शरीरिक विकार सिद्ध भक्तके भी होते हैं, क्योंकि ये शरीरके अपरिहार्य धर्म हैं । अन दनका होना कोई दोष नहीं है ।

(२) जड़-चेतनके माने हुए सम्बन्धसे अन्त करणमें होनेवाले विकार, जैसे—राग-द्वेष, काम-क्रोध, हर्ष-शोक आदि । ये विकार सिद्ध भक्तके अन्त करणमें हो ही नहीं सकते, क्योंकि उसका जड़तासे किञ्चित् भी सम्बन्ध नहीं होता । इन विकारोंका होना दोष माना गया हे । अन सामर्को भी इनसे सर्वथा मुक्त होना चाहिये ।

किसी भी प्राणीसे उद्विग्न न होनेका अर्थ यही समझना चाहिये कि दूसरे प्राणियोंके द्वारा होनेवाले किसी भी अनुकूल या प्रतिकूल व्यवहारसे भक्तके अन्त करणमें राग-द्वेष, हर्ष-शोक, भय-चिन्ता, सन्ताप-शोभ आदि विकार होते ही नहीं । उमरी दृष्टिमें भगवान्‌के अतिरिक्त ससारका किञ्चित् भी स्वतन्त्र अस्तित्व और महत्व न होनेसे वह इन विकारोंसे सर्वथा मुक्त होना है । इन विकारोंसे मुक्त हुआ भक्त भगवान्‌को अयन्त प्रिय होता है । भगवान्‌के अतिरिक्त उसे कोई भी, किञ्चित् भी प्रिय नहीं होता । भगवान्‌में उसका स्वत सिद्ध प्रेम होता है ।

अन्वय—

यस्मात् लोक , न , उद्विजते , च , य , लोकात् , न , उद्विजते , च ,
य , हृषामर्थभयोद्देवै , मुक्त , स , मे , प्रिय ॥ १५ ॥

पदव्याख्या—

यस्मात् लोक न उद्विजते—जिससे कोई भी प्राणी उद्विग्न नहीं होता ।

भक्त सर्वत्र और सबमें अपने परमप्रिय प्रभुको ही देखा है। अत उमर्की दृष्टिमें मन, वाणी ओर शरीरसे होनेगारी समूर्ण कियारें एकमात्र भगवान्‌की प्रमन्नताके लिये ही होती है*। ऐसी अपस्थामें भक्त किसी प्राणीको केसे उद्वेग पहुँचा सकता है। जिसी भी भक्तोंके चरित्रमें यह देखनेमें आता है कि उनकी महिमा, आश्र सकार तभी रही-रहीं उनकी किया, यहौतक कि उनकी साम्य आकृतिमात्रसे भी कुउ लोग ईर्ष्याग्रंथ उद्विग्न हो जाते हैं और भक्तोंमें अकारण द्वेष और पिरोग करने लगते हैं। यही नहीं, वे लोग उद्वेग द्वु ख पहुँचानेकी कुत्तेश्वरी भी कर बैठते हैं, किंतु भक्त उनसे उद्विग्न नहीं होता। यह भक्तकी महिमा है।

लोगोंको भक्तसे होनेवाले कथित उद्वेगके सम्बन्धमें गम्भीर पिचार किया जाय, तो यही पना चलेगा कि भक्तकी कियारें वभी मिसीके उद्वेगमा कारण नहीं होतीं, क्योंकि भक्त प्राणिमात्रमें भगवान्‌को ही देखना हे—‘वासुदेव सर्वम्’ (गीता ७ । १९)। उसकी मात्र कियारें स्वभावत प्राणियोंके परमहितके लिये ही होती हैं। उसके द्वारा कभी भूलसे भी किसीके अहितकी चेष्टा नहीं होती, क्योंकि उसका उद्देश्य या मात्र प्राणिमात्रका हित करनेश्वर

* सर्वभूतमित यो मा भजन्येकत्वमात्मित ।

गपथा उपमातोऽपि स योगी मयि यत्ते ॥

(गीता ६ । ३१)

जो पुरुष एषीभावमें रित्त होकर समूर्ण भूतोंम आमहप्ते तिसुक्ष सद्विद्वान् उथन गासुदेवको भजता है, वह योगी एव प्रशारसे एवं दुआ भी मुक्षम दी गतना ह ।

होता है—‘सर्वभूतहिते रता’ (गीता ५। २५, १२। ४) । इसलिये जिन्हें उससे उद्बोग होना है, वह उनके जरने रा-द्वैश्युक्त आसुरी स्वभावके कारण ही होता है । अपने ही दोश्युक्त स्वभावके कारण उन्हें भक्तकी इत्पूर्ण चेश्चरै भी उद्बोगजनक प्रतीन होती है । इसमें भक्तका क्या तात्र ? भर्तृहण्डी झहते हैं—

मृगमीनमज्जनाना तृणजलसतोषविहितब्रुत्तीनाम् ।
लुभ्यकधीवरपिनुना निष्कारणपैरिणो जगति ॥

(नीतिशतक ६१)

‘हरिण, मठडी और सज्जन क्रमशः तृण, जल और सतोषपर अपना जीवन निर्गाह फरते हैं (किसीको कुछ नहीं झहते), परतु व्याग, मद्भुए और दुष्ट लोग अफारण ही इनसे बेर करते हैं ।’

यान्त्रमें भक्तोदारा दूसरे प्राणियोके उद्दिग्न होनेका प्रश्न ही नहीं उटता, अपितु भक्तोके चरित्रमें ऐसे प्रसङ्ग देखनेमें आते हैं कि उनसे त्रेमनस्य रखनेवाले लोग भी उनके चिन्तन और सङ्ग (दर्शन-स्पर्श-वर्त्तलाप)के प्रभावसे अपना आसुरी स्वभाव छोड़कर भक्त हो गये । ऐसा होनेमें भक्तोका उत्तराधीर्ण स्वभाव ही हेतु है । गोस्थामी तुलसीगसने कहा है—

उमा सत कह इहइ बडाइ । मद करत जो करइ भलाइ ॥

(मानस ५। ४१। ४)

कितु भक्तोंसे द्वेष फरनेवाले सभी लोग लाभान्वित होते हों ऐसा नियम भी नहीं है ।

यन्त्रे ऐसा मान लिया जाय कि भक्तसे किसीको उद्बोग होता ही नहीं अथवा दूसरे लोग भक्तके पिछ्द कोई चेश्च करते ही नहीं

या भक्तके शत्रु-मित्र होते ही नहीं, तो फिर भक्तके लिये शत्रु-मित्र, मान-अपमान, निन्दा-स्तुति आदिमें 'सम' होनेकी जात (जो आरे अठारहवें-उन्नीसवें श्लोकोमें कही गयी है) नहीं कही जाती । तात्पर्य यह है कि लोगोंको अपने असुरी समाजके काण भक्तकी हितकर कियाओसे भी उद्वेग हो सकता है और वे पदलेकी भावनासे भक्तके पिस्तू चेश्च पर सकते हैं तथा अपनेको उस भक्तका शत्रु मान सकते हैं, परतु भक्तकी दृष्टिमें न तो कोई शत्रु होना है और न किसीको उद्विग्न करनेका उसका भाव ही होता है ।

च य लोकात् न उड्जिजते—ओर जो (स्वयं भी) मिसी प्राणीसे उद्विग्न नहीं होता ।

पहले भगवान्ते व्रतस्या कि भक्तमे किसी प्राणीसे उद्वेग नहीं होता ओर अब उपर्युक्त पदोंसे यह बतलाते हैं कि भक्तको स्वयं भी किसी प्राणीसे उद्वेग नहीं होता । इसके दो कारण हैं—

(१) भक्तके शरीर, मन, इन्द्रियों, सिद्धान्त आदिके मिश्व भी अनिष्टा या परेव्हासे कियारै आर घटनारै हो सकती है । परतु वास्तविकताका चोप होने तथा भगवान्में अनिष्टय प्रेम होनेके कारण भक्त भगवत्त्रेममें इतना निमग्न रहता है कि उसे सर्वत्र और सबमें भगवान्के ही गर्जन होते हैं । इसन्त्ये प्राणिमात्रकी कियाखोर्म (चाहे उनमें कुछ उसके प्रतिरूप ही क्यों न हों) उसे भगवान्सी ही लीजा दियायी देनी है । इस कारण उसे मिसी भी कियासे कभी उद्वेग नहीं होता ।

(२) मनुष्यको दूसरोसे उद्वेग तभी होता है, जब उसकी जामना, मान्यना, सामना, वारणा आदिका पिरोध होता है । भक्ति विंग पूर्णकाम होता है । इसलिये दूसरोसे उद्विग्न होनेका नोई जरण ही नहीं रहता ।

च—तथा

य—जो ।

हर्षमर्वभयोद्देहे—हर्ष, अर्प, भय और उद्वेगसे रहित है ।

'हर्ष'का तात्पर्य है—प्रसन्नता । प्रसन्नता तीन प्रकारकी होती है—तामसी, राजसी और सात्त्विक । निद्रा, आलस्य और प्रमादमें प्रज्ञानी पुरुषोंको जो प्रसन्नता होती है, वह 'तामसी' है* । ऐसी प्रसन्नता सर्वगत्याज्ञ है । शरीर, मन, बुद्धि, इन्द्रियोंके अनुकूल वस्तु, व्यक्ति, घटनाके सयोगसे एव प्रतिकूल वस्तु, व्यक्ति, घटनाके वियोगसे सांगरण मनुष्योंके हृदयमें जो प्रसन्नता होती है, वह 'राजसी' है । तात्पर्य यह कि सासारिक सम्बन्धोंसे जो भी प्रसन्नता होती है, वह सब राजसी है । यद्यपि राजसी प्रसन्नता आरम्भमें बुखार प्रतीत होनी है, तदपि परिणाममें वह दुखदायी होती है ।† रागरहित होकर सासारिक निष्पोका सेमन नरने, ससारके प्रतिव्यागका भाव होने, परमात्मामें बुद्धि लग जाने, भगवान्के गुण-प्रभाव-

* यदग्रे चानुवन्धे च सुप मोनमामन ।

निद्राऽन्यप्रमादोल्य तत्त्वमसमुदाहृतम् ॥ (गीता १८ । ३९)

† निष्पेनिद्र्यसयोगात्तदग्रेऽमृतोमम् ।

परिणामे निष्पमिव तमुप रात्रे स्मृतम् ॥ (गीता १८ । ३८)

तत्त्व-रहस्य लीला आदिकी वातें सुनने एवं सत-आखोके अध्ययनमे सामग्रोके चित्तमे जो प्रसन्नता होती है, वह 'सत्त्विक' है।*

ससारसे वराण्य होनेपर सामग्रका भगवान्में स्तुत अनुराग होता है। फिर भगवान्के मिलनेमें पित्रम्ब होनेसे सामग्रके चित्तमें एक व्याकुलना उत्पन्न होती है। यह व्याकुलना भी मात्तिक प्रसन्नतामा ही अङ्ग है। यदि इस (सत्त्विक) प्रसन्नताका उपभोग किया जाय, तो यह मिट जाती है। इसका उपभोग सामग्रमें ताग ही ढालता है— 'सुउमड्हेन वधनानि ज्ञानसङ्घेन चान्द्र' (गीता १४ । ६)। इसलिये सामग्रको चाहिये कि इस प्रसन्नताका उपभोग न उरे और ससारसे निरुत्त होकर केवल परमामार्दी ओर ही अपना लभ्य रख। इस प्रसन्नतामें ऐसी शक्ति है कि यह व्याकुलताको समाप्त करके व्य भी शान्त और प्वरम हो जाती है, वैसे ही जसे काठको जनामर अग्नि । फलस्वरूप सामग्रको महान् आनन्दमी प्राप्ति हो जाती है।

यहाँ 'हर्षने मुक्त' होनेमा तात्पर्य यह है कि मिद भक्त इव प्रकारको (सत्त्विक, राजस और तामस) हर्षानि प्रियारोंसे स्वयं रहित होता है। पर इसका अभिप्राय यह नहीं है कि मिद भक्त मर्त्या हर्षरहित (प्रसन्नतादून्य) होता है, प्रथुत उसमी प्रसन्नत तो नित्य, एवरम, पिल्लण और अशैक्षिक होती है। हाँ, उसमी

* अव्यासाद्रमते यत तु गान्त च निगच्छति ॥

यत्तद्ये दिभिः परिणामेऽभूतोपमम् ।

तत्सुप गान्तिक प्रोत्तमामबुद्धिप्रसादजम् ॥ (गीता १४ । ६ ३०)

। प्रसादे गत्तु गाना हानिरलोपनायते ।

प्रसन्नतेत्तमो व्यापु उद्धि प्रसन्निते ॥ (गीता १४ । ६५)

न भ्रमन्ता सासारिक पदार्थोंके सयोग-वियोगसे उत्पन्न, क्षणिक, नाजपान्
। एप धर्म-नदनेगाली नहा होती । * सर्वर भगवद्गुद्धि रहनेसे एकमात्र
अपने इष्टदेव भगवान्‌को ओर उनकी लीलाओंको देख-देवकर वह
सभापत सदा ही प्रसन्न रहता है ।

फिसीके उत्कर्ष (उन्नति)मो महन न करना 'अर्म' फहलाता
है । दूसरे लोगोंको अपने समान या अपनेसे अग्रिम सुख-मुनिग,
धन, पिदा, महिमा, आदर-सन्कार आदि प्राप्त हुआ देखकर सागरण
मनुष्यके अन्त फरणमे उनके प्रति ईर्ष्या होने डाती है, क्योंकि उसे
दूसरोंका उत्कर्ष सहन नहीं होता । कई बार कुछ साधकोंके अन्त -
करणम भी दूसरे साधकोंमी आध्यात्मिक उन्नति और प्रसन्नता देखकर
अथवा सुनकर फिर्खित ईर्ष्याका भाव उत्पन्न हो नाता है । पर भक्त

* इसी (गारहवे) अध्यायके सत्रहवें श्लोकमें भन हृष्पति पदमें भी
यही नतलाया गया है कि सासारिक सयोग वियोगजन्य हर्ष सिद्ध भक्तको
नहीं होता ।

† पहले अ यायके गारहवें श्लोकमें 'तस्य सजनयन्हर्ष', पदमें और
अठारहवें अध्यायके सत्ताइसवें श्लोकमें 'हर्षशोकान्वित', पदम आया 'हर्ष'
शब्द राजमी प्रसन्नताके लिये प्रयुक्त हुआ है ।

दूसरे अध्यायके चासठवें श्लोकमें 'प्रसादम्' पद, ग्यारहवें अध्यायके
पैंतालीसवें श्लोकमें 'हृषित', पद, सत्रहवें अध्यायके सोलहवें श्लोकमें 'मन
प्रसाद', पद तथा अठारहवें अध्यायके सतीसवें श्लोकमें 'आत्मवृद्धिप्रसादजप्त्',
पद और छिह्नतरवें-सतहत्तरवें श्लोकोंमें 'हृष्यामि' पद सात्त्विक प्रसन्नताके
अर्थमें आये हैं ।

ग्यारहवें अध्यायके सैंतालीसवें श्लोकमें 'प्रसन्नेन' पद तथा अठारहवें
अध्यायके अष्टावनवें और बासठवें श्लोकमें 'प्रसादात्' पद भगवान्‌की
वृपाके द्योतक हैं ।

इस विकारसे सर्वथा रहित होता है, क्योंकि उसकी दृष्टिमें अपने प्रियमुके अतिरिक्त अन्य किसीकी स्वतन्त्र सत्ता रहती ही नहीं। मि वह किसके प्रति और क्यों अमर्त करे ?*

यदि साधकके हृदयमें दूसरोकी आध्यात्मिक उन्नति देखने ऐसा भाव उत्पन्न होता है कि मेरी भी ऐसी ही आध्यात्मिक उर्वा हो, तो यह भाव उसके सामनमें सहायक होता है। इसके मिथी यदि साधकके हृदयमें कदाचित् ऐसा भाव उत्पन्न हो जाय कि इसमें उन्नति क्यों हो गयी, तो ऐसे कुभारके कारण उसके हृदयमें अमर्त भाव उत्पन्न हो जायगा, जो उसे पतनकी ओर ले जानेगला हाँगा।

इष्टके नियोग और अनिष्टके सयोगकी आशङ्कासे उत्पन्न होनेवाले विकारको 'भय' कहते हैं। भय दो कारणोंसे होता है—(१) बाहरी कारणोंसे, जैसे—सिंह, साँप, चोर, डाकू आदिसे अनिष्ट होने अयमा किसी प्रकारकी सासारिक हानि पहुँचनेकी आशङ्कामें होनेवाल भय और (२) आन्तरिक कारणोंसे, जैसे—चोरी, झूठ, गम्भीर व्यमिचार आदि शास्त्रमिरुद्ध भावों तथा आचरणोंसे होनेवाल भय।

सभसे निरुट भय मृत्युका होता है। निवेद्याल कहे जानेवाले पुरुषोंको भी प्राय मरणका भय बना रहता है। साधकका भी प्राय ससङ्ग-भजन-ध्यानादि साधनोंसे शरीरके कृश होने आदिए भय रहता है। उसे कभी-कभी ऐसा भय भी होता है कि समर्पण-

* चौथे अध्यायके राईमवें इनेकमें भी 'निम्भर', पद्मने नामके अमर्तका अभाव बताया गया है।

+ स्वरुद्धादी विद्युतोऽपि सथान्दाऽभिनिर्ग ॥

सर्वथा वैराग्य हो जानेपर मेरे शरीर और परिवारका पालन कैसे होगा । साधारण मनुष्यको मनोनुकूल वस्तुओं प्राप्तिमें ग्राहा पहुँचाने-वाले उपनेसे बलवान् मनुष्यसे भय होता है । ये सभी भय केवल शरीर (जड़ता) के आशयमें ही उत्पन्न होते हैं । भक्त सर्वथा भगवचरणोंके आश्रित रहता है, इसलिये वह सदैर भय-रहित होता है । साधकों भी तभीतक भय रहता है, जबतक वह सर्वथा भगवचरणोंके आश्रित नहीं हो जाता ।

मिद्द भक्तको सदा, सर्वत्र अपने प्रिय प्रभुकी लीन ही दीखनी है । फिर भगवान्‌की लीन उसके हृदयमें भय कैसे उत्पन्न कर सकती है * १

मनका एकरूप न रहनेर हलचलशुक्त हो जाना 'उद्वेग' कहलाता है । इस (पन्द्रहे) श्लोकमें 'उद्वेग' शब्दका तीन बार उल्लेख हुआ है । पहली बार उद्वेगकी बात कहकर भगवान्‌ने यह बतलाया कि भक्तकी कोई भी क्रिया उसकी ओरसे किसी प्राणीके उद्वेगका कारण नहीं होती । दूसरी बार उद्वेगकी बात कहनेर यह बतलाया कि दूसरे प्राणियोंकी किसी भी क्रियासे भक्तके अन्त फूरणमें उद्वेग नहीं होता । इसके अतिरिक्त अन्य कई कारणोंसे भी मनुष्यको

* दूसरे अध्यायके दैतीसवें तथा चालीसवें श्लोकोंमें 'भयात्' पद, तीसरे अध्यायके पैंतीसवें श्लोकमें 'भयावह', पद, दसवें अ यायके चौथे श्लोकमें और अठारहवें अध्यायके पैंतीसवें श्लोकमें 'भयम्' पद, चारहवें अध्यायके सत्ताइसवें श्लोकमें 'भयानकानि' पद, दैतातीसवें श्लोकमें 'भयेन' पद और अठारहवें अध्यायके तीसवें श्लोकमें 'भयाभये' पदये अतर्गत 'भय' शब्द भयल्प प्रिकारमें ही द्योतक हैं ।

उद्वेग हो सकता है, जैसे बार-बार प्रयत्न करनेपर भी अपना पूर्ण पूर्ण न होना, कार्यका इच्छानुसार फल न मिलना, अनिच्छासे अस्तु परिवर्तन, भूकम्प, बाढ़ आदि दुष्प्रद घटनाएँ घटित होना, अपनी कामना, मान्यता, सिद्धान्त अथवा साधनमें विक्ष पड़ना आदि। भल इन सभी प्रकारके उद्वेगोंसे सर्वथा मुक्त होता ह—यह बतलानेके लिये ही तीसरी गार उद्वेगकी बात कही गयी ह। तापर्य यह ह कि भक्तके अन्त ऊरणमें 'उद्वेग' नामकी कोई वस्तु रहती ही नहीं।

उद्वेग उत्पन्न होनेमें अज्ञानजनित इच्छा और आसुर-खभाव ही कारण ह। भक्तमें अज्ञानका सर्वथा अभाव होनेसे कोई सत्त्व इच्छा नहीं रहती, फिर आसुर-खभाव तो साधनामस्थामें ही नष्ट हो जाता हे। भगवान्‌की इच्छा ही भक्तकी इच्छा होती है। भल स्वृत मियाओंके फलरूपमें अथवा अनिच्छासे प्राप्त अनुदूल-प्रतिदूल परिस्थितिमें भगवान्‌का वृपापूर्ण मिधान ही देखना है और निर्लङ्घ आनन्दमें मग्न रहता ह। अन भक्तमें उद्वेगका अपन्ताभव होता हे *।

'मुक्त' पदवा अर्थ हे—मिकारोंसे सर्वथा छूट इआ। अन्त ऊरणमें ससारका आदर रहनेसे अर्थात् परमामामें पूर्णत्व मन-वुद्धि न लगनेसे ही हर्ष, अमर्य, भय ओर उद्वेगादि निर्म

* दूसरे अध्यायके छप्पनमें इत्तोऽमें 'अनुदिनमता', पदमें मिद महापुरुषको पिसो प्रशारणी प्रतिदूलना और अप्रियसी प्राप्तिगर उद्वेग न होनेसी बात कही गयी है।

सप्तहवें अध्यायके पदहवें इत्तोऽमें 'अनुदेगनरम्' पद उद्वेग उत्पन्न न करनेवाली याणीये चिये आया है।

उत्पन्न होते हैं। परतु भक्तकी दृष्टिमें एक भगवान्‌के अतिरिक्त न्य किसीकी स्वतन्त्र सत्ता एव महत्ता न रहनेसे उसमें ये प्रिकार त्यन्त ही नहीं होते। उसमें सामाजिक ही सद्गुण-सदाचार रहते हैं।

इस श्लोकमें भगवान्‌ने 'भक्त' पद न देकर 'मुक्त' पद देया है। इसका तात्पर्य यह है कि भक्त यान्मात्र दुर्गुण-दुराचारोंसे बर्वया रहित होना है।

गुणोक्ता अभिमान होनेसे दुर्गुण अपने-आप आ जाते हैं। मनुष्यमें गुणोक्ता अभिमान तभीतक होता है, जबतक उसमें कुछ अगुण रहता है। जैसे, मनुष्यको सत्य बोलनेका अभिमान तभी-तक होता है, जबतक वह कुछ-न-कुछ असत्य बोलता है। पूर्ण सत्य बोलनेगलेको कभी सत्य बोलनेका अभिमान नहीं हो सकता। अपनेमें किसी गुणके आनेपर अभिमानरूप दुर्गुण उपन हो जाय तो उस गुणको गुण कैसे माना जा सकता है? देवीसम्पत्ति (सद्गुण) से कभी आसुरी-सम्पत्ति (दुर्गुण) उत्पन्न नहीं हो सकती। यदि देवी-सम्पत्तिसे आसुरी-सम्पत्तिकी उत्पत्ति होती तो 'देवी सप्तद्विमोक्षाय' (गीता १६। ५)—इन भगवद्वचनोके अनुसार मनुष्य मुक्त कैसे होता? वस्तुत गुणोके अभिमानमें गुण कम तथा अभिमान (दुर्गुण) अधिक होता है। अभिमानसे दुर्गुणोकी वृद्धि होती है, क्योंकि सभी दुर्गुण-दुराचार अभिमानके ही आश्रित रहते हैं।

भक्तको तो प्राय इस बातका ज्ञान ही नहीं रहता कि मुझमें कोई गुण है। यदि उसे अपनेमें कभी गुण दीखता भी है, तो वह उसे भगवान्‌का ही मानता है अपना नहीं। इस प्रकार गुणोका

अभिमान न होनेके कारण भक्त सभी दुर्गुण-दुराचार, प्रियोंसे मुक्त होता है* ।

स—वह (भक्त) ।

मे—मुझे ।

प्रिय—प्रिय है ।

भक्तको भगवान् अयन्त प्रिय होते हैं, इसलिये भगवान्से भी भक्त अत्यन्त प्रिय होते हैं† ॥ १५ ॥

सम्बन्ध—

सिद्ध भक्तके छ लक्षणोंका निर्देश करनेवाला तीसरा प्रवाना निम्न इत्रोक्ते अन्तर्गत आया है ।

* तीसरे अध्यायके नवे इनेकमें 'मुक्तसङ्ग', पदसे साधनेहो आसक्तिरहित होनेके लिये कहा गया है । चौथे अध्यायके छठोंमें इलोकमें 'मुक्तम्' पदसे सिद्ध कर्मयोगीके सम्बन्ध आसक्ति रहित होना बात की गयी है । पाँचवें अध्यायके अठाइसवें इत्रोक्तम 'मुक्त' पदसे साधनको निकारनेसे मुक्त यतन्याया गया है । अठारहवें अध्यायके छठीसवें इलोकम 'मुक्तसङ्ग', पदसे सात्त्विक कराका आसक्ति रहित होना यतन्याया गया है । अठारहवें अध्यायके ही चालीसवें इलोकम 'मुक्तम्' पदसे सातलाया गया है कि तिन्योक्तीमें कोई भी प्राणी पदार्थ सत्त्व, रज और तम—इन तीन गुणसे ग्रित नहीं है और इफहत्तमवें इत्रोक्तमें 'मुक्त', पदका प्रयोग वग्ये यह यतन्याया गया है कि गीता ब्रह्मने मनुष्य पाजीमें दू सता है ।

† प्रियो दि नानिनोऽत्यर्थम् न च मम प्रिय ॥ (गीता ७ । १३)

'उसे तत्त्वमे जाओवांडे जानो भक्तको मैं अत्यन्त प्रिय हूँ भैरव'

श्लोक—

अनपेक्ष शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथ ।
सर्वारम्भपरि-यामी यो मद्भक्त स मे प्रिय ॥ १६ ॥

भावार्थ—

भगवान्‌को प्राप्त होनेपर भक्त पूर्णकाम हो जाता है । अत उसके मनमें किमी क्रिया, पश्य आदि की इच्छा, वासना और सृष्टि हीं रहती । उसमें स्वतन्त्र महान् परित्रिता आ जाती है । यह करने-गोय कार्य सम्पन्न कर चुका है । यिताद्यग्रस्त यियोमें वह तत्स्थ हता है । उसके अन्त करणमें रग द्वेष, हर्ष-शोक आदि यिकार नहीं होते । यिसी भी कर्ममें उसे वर्तापनका अभिमान नहीं होता । यात्रविहित यियाएँ करते हुए भी वह ससारसे सर्वथा निर्लिपि रहते हैं ए एकमात्र भगवान्‌में ही तन्मय रहता है । ऐसा भक्त भगवान्‌को प्रेय होता है ।

अवय—

य, अनपेक्ष शुचि, दक्ष, उदासीन, गतव्यथ, सर्वारम्भपरि-यामी, स, मद्भक्त, मे, प्रिय ॥ १६ ॥

पद व्याख्या—

य—जो ।

अनपेक्ष—आज्ञाहासे रहित ।

भक्त भगवान्‌को ही सर्वोत्तम मानता है । उसकी दृष्टिमें गमप्राप्तिसे वडफर अन्य कोई लाभ नहीं होता—य लभ्या चापरं शभ मन्यते नाधिक तत । (गीता ६ । २२) अत मसारकी येसी भी वस्तुमें उसका किञ्चित् भी आकर्षण नहीं होता । इतना ही नहीं, अपने कहलानेवाले शरीर, इन्द्रियों, मन, बुद्धिमें भी उसका

अपनापन नहीं रहता, अपितु वह उन्हें भी भगवान्‌का ही मतला जो गास्तवमे भगवान्‌के ही है। अन उसे शरीर-निर्वाहक स्थिता नहा होती। फिर वह और किस गानकी अपका राम अर्गत् फिर उसे किसी भी वस्तुकी इच्छावामना-स्थृहा नहीं रहता।

भक्तपर चाहे कितनी ही बड़ी आपति आ जाय, आपने ज्ञान होनेपर भी उसके चित्तपर प्रतिकूल प्रभाव नहीं होता। यह से-विकट परिस्थितिमें भी भक्त भगवान्‌की गीतामा अनुभव मुग्र रहता है। इसकिये वह किसी प्रकारकी अनुकूलताकी नहीं रहता।

नाशगान् पश्यत् तो रहते नहीं, उनका प्रियोग अपरम्परा और अपिनाडी परमामासे कभी प्रियोग होता ही नहीं—वास्तविकताको जाननेके कारण भक्तमें स्वाभाविक ही एवं पदार्थोंकी इच्छा उत्पन्न नहीं होती।

यह बात प्रियोगक्षमपसे ध्यान देनेकी है कि यह उन्हें करनेसे शरीर-निर्वाहके पदार्थ मिथने हो तथा इच्छा न रहती मिलते हों—ऐसा फोई नियम नहा है। वास्तवमें शरीर-किसी अपेक्षित (आवश्यक) सामग्री स्वतं प्राप्त होती है, क्योंकि उन्हें शरीर-निर्वाहकी अपेक्षित सामग्रीका प्रयत्न भगवान्‌की ओरमें ही हृआ रहता है। इच्छा उन्हें तो आवश्यक उत्पन्न ही अपरोध ही आता है। यदि मनुष्य किसी वस्तुको अपने लिये उन्हें आवश्यक समझकर उसे मिले, कर्त्ता मिले, कर दिये ऐसी प्रयत्न इच्छाको अपने अन्त काणमें पकड़े रहता है, तो

उस इच्छाका प्रस्ताव नहीं हो पाता अर्थात् उसकी यह इच्छा दूसरे लोगोके अन्त करणतक नहीं पहुँच पाती। फलत दूसरे लोगोके अन्त - करणमें उस आपश्यक वस्तुको देनेकी इच्छा या प्रेरणा नहीं होती। प्राय देखा जाता है कि लेनेकी प्रगल इच्छा रखनेवाले (चोर आदि) को कोई देना नहीं चाहता। इसके विपरीत किसी वस्तुकी इच्छा न रखनेवाले पिरक्त त्यागी ओर बालककी आपश्यकताओंका अनुभव अपने-आप दृमगेको होता है, जिसके फलस्वरूप दूसरे उनके शरीर-निर्वाहका अपने-आप प्रमन्तापूर्वक प्रवन्न करते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि इच्छा न करनेसे जीवन-निर्वाहकी अवश्यक वस्तुरँ बिना मौगे स्थित मिलनी हैं। अन अपेक्षित वस्तुओंकी इच्छा करना केवल मूर्खता और अमारण दुख पाना ही है। सिद्ध भक्तको तो अपने कहे जानेवाले शरीरकी भी अपेक्षा नहीं होती, इसलिये वह सर्वथा निरपेक्ष होता है।

किसी किसी भक्तको तो इसकी भी अपेक्षा नहीं होती कि भगवान् दर्शन दे। भगवान् दर्शन दें तो आनन्द, न दें तो भी आनन्द। यह तो सदा भगवान्की प्रसन्नता ओर कृपाको देखकर मस्त रहता है। ऐसे निरपेक्ष भक्तके पीछे-पीछे भगवान् भी तूमा करते हैं। भगवान् स्वयं कहते हैं—

निरपेक्ष मुनि शान्त निर्वर्त समदर्शनम् ।

अनुब्रजाम्यह नित्य पूर्येयेत्यड्ग्रिरेणुभिः ॥

(श्रीमद्भा० ११ । १४ । १६)

‘जो निरपेक्ष (किसीकी अपेक्षा न रखनेवाला), निरन्तर मेरा मनन करनेवाला, शान्त, द्वेष रहित और सबके प्रति समान दृष्टि

रखनेवाला है, उस महामार्के पीछे-पीछे मैं सदा यह सोचकर गूँ
करता हूँ कि उसकी चरण-रज मेरे ऊपर पड़ जाय और मैं पवित्र
हो जाऊँ ।'

किसी वस्तुकी इच्छाको लेफ़र भगवान्‌की भक्तिमें प्रवृत्त होने
वाला मनुष्य वस्तुत उस इच्छित वस्तुका ही भक्त होता है, क्योंकि
(मुख्य लक्ष्य वस्तुकी ओर रहनेसे) वह वस्तुके लिये ही भगवान्
की भक्ति करता है, न कि भगवान्‌के लिये । परतु भगवान्‌मा
यह उदारता है कि उसे भी अपना भक्त मानते हैं*, क्योंकि वह
इच्छित वस्तुके लिये किसी दूसरेपर भरोसा न रखकर अर्थात् केवल
भगवान्‌पर भरोसा रखकर ही भजन करता है । इतना ही नहीं,
भगवान् भक्त धूमरसी भाँति उस (अर्यावी भक्त) की इच्छा पूर्ण
करके उसे सर्वथा नि स्पृह भी बना देते हैं ।

शुचि — ब्राह्म-भीतरसे पवित्र ।

शरीरमें अहता-ममना (मे-मेरापन) न रहनेसे भक्ति
शरीर अन्यन्त पवित्र होता है । अन्त करणमें राग-द्वेष, हर्ष-द्वेष,
काम-क्रो गादि निकारोके न रहनेसे उनका अन्त करण भी अन्यन्त

० चुर्णिदा भजते मा जना मुहूर्तिनोऽजुन ।

जाता निशासुरयोर्या शानी च भरतराम ॥

(गीता ७।१६)

ऐ भरतवर्षियोंमें श्रेष्ठ ज्ञुन ! उत्तम धर्म परन्तराते अग्नि
(सात्त्वारिष पदागोष लिये भानेवाते), आत (सहृद निवारणपे लिये भाने
पाते), विग्रह (भगवान्‌को तत्त्वते जानोरसी इच्छाते भनोयाते) और गनी
(भानुपाते भनोयाते) जिन्हें जन्म देने वाले भनोहैं ।

पवित्र होता है । ऐसे (वाहर-भीतरसे अत्यत पवित्र) भक्तके दर्शन, स्पर्श, वार्तालाप और चिन्तनसे दूसरे लोग भी पवित्र हो जाते हैं । तीर्थ सब लोगोंको पवित्र करते हैं, किन्तु ऐसे भक्त तीर्थोंको भी तीर्थत्व प्रदान करते हैं अर्थात् तीर्थ भी उनके चरण स्पर्शसे पवित्र हो जाते हैं (पर भक्तोंके मनमें ऐसा अहकार नहीं होता) । ऐसे भक्त अपने हृदयमें पिराजित 'पवित्राणा पवित्रम्' (पवित्रोंको भी पवित्र करनेवाले) भगवान्‌के प्रभावसे तीर्थोंको भी महातीर्थ बनाते हुए पिचरण करते हैं—

तीर्थोर्कुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्त स्थेन गदाभृता ॥

(श्रीमद्भा० १ । १३ । १०)

महाराज भगीरथ गङ्गाजीसे कहते हैं—

साध्वो न्यासिन शान्ता ब्रह्मिष्ठा लोकपावना ।
हरन्त्यघ तेऽङ्गसङ्गात् तेष्वास्ते ह्यग्रभिद्धरि ॥

(श्रीमद्भा० ९ । ९ । ६)

'माता ! जिन्होंने लोक-परलोककी समस्त कामनाओंका त्याग कर दिया है, जो ससारसे उपरत होकर अपने-आपमें शान्त है, जो ब्रह्मनिष्ठ और लोकोंको पवित्र करनेवाले परोपकारी साधु पुरुष हैं, वे अपने अङ्ग-स्पर्शसे तुम्हारे (पापियोंके अङ्गस्पर्शसे आये) समस्त पापोंको नष्ट कर देंगे, क्योंकि उनके हृदयमें समस्त पापोंका नाश करनेवाले भगवान् सर्वदा निरास करते हैं ।'*

* छठे अध्यायने ग्यारहवें श्लोकमें 'शुचौ', पद पवित्र स्थानके लिये, इस्तालीसर्वे इश्वेकमें 'शुचोनाम्' पद पवित्र पुरुषोंके लिये और सप्तहवें अध्यायके चौदहवें इलाकमें 'शौचम्' पद शरीरकी पवित्रताके

गतव्यथ —व्ययासे हूटा हुआ ।

कुछ मिले या न मिले, कुछ भी आये या चल जाय, जिसे चित्तमें दुख-चिन्ता-शोकरूप हलचल कभी होती ही नहीं, उस भक्तको यहाँ ‘गतव्यथ’ कहा गया है ।

यहाँ ‘व्यया’ शब्द केवल दुखफ़ा वाचक नहीं है । अनुकूलता की प्राप्ति होनेपर चित्तमें प्रसन्नता तथा प्रतिकूलताकी प्राप्ति होने चित्तमें खिन्नताकी जो हलचल होती है, उसे भी ‘व्यया’ ही यहाँ चाहिये । अत अनुकूलता तथा प्रतिकूलतासे अन्त रणमें होनेवाले राग-द्वेष, हर्ष शोकादि निकारोंके अयताभावमो श्री यहाँ ‘गतव्यय’ पदसे व्यक्त किया गया है ।*

सर्वारम्भपरित्यागी—(आर) सभी आरम्भोंका त्यागी जारी मन, वाणी और शरीरद्वारा प्रारब्धवश होनेवाले सम्पूर्ण स्वाभाविकमोंमें कर्तापिनके अभिमानका त्यागी है ।

‘उदासीनवत्’ (उदासीनकी तरह) यहा गया है, उसका भी यहाँ दो है कि भगवान्की दृष्टिमें उनके सिवा दूसरा कोइ है ही नहीं, निर उदासीन विस्ते हो ।

छठे अध्यायके नवें श्लोकमें, ‘उदासीन’ शब्दका प्रयोग यह सूक्तमें बरनेषे लिये दिया गया है कि स्त्रिय एमयोगीना उदासीना पुरुषमें भी समभाव रहता है ।

* दूसरे अध्यायके पदद्वयें श्लोकमें ‘य हि न व्यथाम्लेतो पदमें खापसे मुमुक्षु रा देनोमें व्यथित न होनेशी चात कही गयी है ।’ जारी अध्यायके चौंतीसवें श्लोकमें ‘मा व्यथिष्ठा’ पद तथा उच्चासों श्लोकमें ‘व्यया’ पद भयमें अध्यमें आये हैं । चौदहें अध्यायके दूसरे श्लोकमें ज व्यथिता पदका प्रयोग यह बतानेके लिये दिया गया है । तिन पुरुषों के म-मरणमप व्यथा नहीं होती ।

सिद्ध भक्तके लिये कुछ भी प्राप्तव्य अथवा कर्तव्य न रहनेसे

उसका शरीरसे होनेवाली क्रियाओंसे कोई प्रयोजन नहीं रहता ।
चाहे साधक हो या सिद्ध, कोई भी मनुष्य क्षणमात्र भी कर्मोंका स्वरूपसे त्याग नहीं कर सकता* । हाँ, अब मनुष्य तो कामना, ममता तथा आसक्तिपूर्वक सब कर्म करते हैं, अत वे ऐसे ही कर्मोंका कर्ता हूँ ऐसा मान लेते हैं, परतु भक्तकी यह विशेषता है कि उसके द्वारा शरीर-निर्गाह, भक्ति प्रचार, परहृत-साधन आदि जो क्रियाएँ होती हैं, उनका कर्ता वह अपनेको नहीं मानता अर्थात् वह कर्तापनके अभिमान से सर्वथा रहित होता है । उसमें राग-द्वेष, कर्तृत्वाभिमान एव फलासक्तिका सर्वथा अभाव होता है । अत उसके द्वारा होती हुई दीखनेवाली क्रियाएँ शुद्ध एव सामाविक लोकहितार्थ ही होती हैं ।

भक्तके शरीर, इद्रियाँ, मन, बुद्धि तथा अहकार सर्वथा भगवदर्पित रहते हैं । उसकी अपनी स्वतन्त्र सत्ता अथवा इच्छा नहीं रहती । वह एकमात्र भगवान्‌के हाथका यन्त्र होता है । जिस प्रकार यन्त्रका अपना कोई आग्रह नहीं होता, यन्त्री उसका चाहे जिस तरह सचालन करे, वह तो उसीपर सर्वथा निर्भर रहता है, इसी प्रकार भक्तवा भी अपना कोई आग्रह नहीं होता, भगवान् जो कुछ करताते हैं, वह वही करता है ।

* न हि वश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् । (गीता ३।५)

न हि देहभृता शक्य त्यक्तु कर्माण्यशेषत । (गीता १८।११)

वैसे तो सभी मनुष्योंको भगवान् यन्नरत् चन्ते हैं*, पर मनुष्य अपने शरीर-मन-द्विद्वि-इन्द्रियोंमें अहकार, आसक्ति, ममता करके अपनेको कर्मोंका कर्ता मान लेता है। फलजनक यह जन्म-मरणरूप दुखको भोगता रहता है। भक्त अपनेको कर्माण्डा नहीं मानता छी नहीं, अपितु उसे यही अनुभव होता है कि मात्र किशर्म भगवान्‌के द्वारा ही हो रही है। अतएव उसके द्वारा शास्त्रविहित कर्म होते हुए दीखनेपर भी वास्तवमें वे (फलजनक न होनेके कारण) 'अकर्म' ही होते हैं। कामना, ममना और आसक्ति-रहित होनेके द्वारा भक्तके द्वारा 'निकर्म' (निषिद्ध-कर्म) होनेका प्रस्तुत ही नहीं उठता।

एक स्थितिमें किया की जाती है, दूसरी स्थितिमें किया होती है और इनसे भिन्न स्थितिमें कियाका सर्वथा अभाव होता है, एवं परमात्मतत्त्वकी सत्तामात्र रहती है। साधारण मनुष्यका जड़तासे विशेष सम्बन्ध रहनेसे उसके द्वारा किया की जाता है। साधक का जड़ताके साथ स्वल्पमात्र सम्बन्ध रहनेसे उसके द्वारा किया होती है। इस स्थितिमें भी यदि साधक यह मानता है कि भगवान्‌से ही साधन तथा अन्य सब कियाएँ हो रही हैं, तो उसके सामनें दीवतासे प्रगति होती है। पर जहाँ जड़तासे मर्वशा सम्बन्धित है, वहाँ या तो सत्तामात्र रहती है, या भगवान्‌में तहीनना।

* देखर सर्वभूताना द्वदेशर्जुने तिष्ठति ।

भ्रामयन्यभूतानि यत्प्रारुदाति मायना ॥ (गीता १८। ६१)

ऐ अनुंत ! दारीरस्प यत्रमें आरुद इष सम्पूर्ण प्रान्तोंहो

• तत्त्वज्ञानीकी स्वरूपमें स्थिति होती है और सिद्ध भक्तकी भगवान्‌में
• तछीनता । जड़तासे सर्वथा सम्बन्ध-पिछेट होनेपर सब कियाएँ
• उसी प्रकार स्वाभाविक होती हैं, जिस प्रकार नेत्रोंका झपकना,
• शासोंका आना-जाना आदि कियाएँ । स्वाभाविक होनेवाली कियाएँ
(कर्त्तापन न होनेके कारण) बन्धनकारक नहीं होती ।*

• मन, वाणी और शरीरद्वारा होनेवाले सम्पूर्ण स्वाभाविक कर्मोंमें
• कर्तृत्वाभिमान (कर्त्तापनके अभिमान)पे स्थागकी गति गीतामें नई स्थलोंपर
इस प्रकार आयी है—

जानयोगी यह मानता है कि प्रत्येक किया प्रकृति और प्रकृतिके
कार्यसे ही होती है । तीसरे अध्यायके अठाइसवें श्लोकमें भुजा गुणेषु
वर्तन्ते (इन्द्रियरूप गुणकार्योंका विपर्यरूप) गुणकार्यमें वर्ताव हो रहा है—
इन पदोंसे, पाँचवें अध्यायके नवें श्लोकमें ‘इन्द्रियाणि इन्द्रियायेषु
वर्तते, (इन्द्रियाँ इन्द्रियोंके विषयोंमें वरत रही हैं) तथा चौदहवें श्लोकमें
‘स्वभावस्तु प्रवर्तते’ (स्वभाव अर्थात् प्रकृति ही वरतती है) इन पदोंसे
और तेरहवें अध्यायके उन्तीसवें श्लोकमें ‘प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि
सर्वशः, (सम्पूर्ण कर्म प्रकृतिके द्वारा ही किये जाते) —इन पदमें
और अठारहवें अध्यायके चौदहवें श्लोकमें कर्मोंके होनेमें पाँच हेतु
पतञ्जकर इसी गतकी ओर संकेत किया गया है ।

कर्मयोगी सम्पूर्ण कियाओं और पदार्थोंको ससारकी सेवामें लगाता
है, यहाँतर कि ‘अह’ (मैं पन) को भी ससारकी सेवामें लगा देता है ।
कर्मयोगी पदार्थ, शरीर, इन्द्रियों, मन, बुद्धि आदिओं भी उन्हींका
मानता है, जिनकी वह सेवा करता है । इस प्रकार उसमें भी कर्तृत्वाभिमान
नहीं रहता । चौथे अध्यायके उन्तीसवें श्लोकमें ‘यस्य सर्वे समारम्भाः
कामसकल्पवर्जिताः, (जिसके सम्पूर्ण कर्म रामना और सकल्पके बिना
होते हैं) —इन पदोंसे यही गति कही गयी है ।

सिद्ध भक्तद्वारा कर्म होनेमें कुछ पिशेप हु

वास्तवमें सिद्ध भक्त या ज्ञानी कर्म नहीं करता, अग्रिम उसके किया या चेष्टामात्र होती है। चेष्टामात्र होनेमें तीन हेतु हैं—पहला हेतु है—प्रारब्ध। प्रारब्धके वेगसे उसके ऊहलानेशाले शरीरात् निर्वाहमात्रकी कियाएँ होती रहती हैं—ज्यगहार चलना रहता है। अहभावको सर्वया भगवान्‌में लीन कर देनेके कारण वह किया कर्ता होता ही नहीं।

दूसरा हेतु है—जगत्‌में धर्म-स्थापन अथवा अपर्म निशाता करके जीवोंका उद्धार करनेके लिये जब जैसी सामन-प्रगारीशी आपश्यकता होती है, तब भगवान् ख्यय प्रेरणा करके उससे बैठा है।

भक्तियोगी भगवान्‌के समर्पित होकर शरीर, इन्द्रियों, मन, इदि एव इनकी क्रियाओंमें भी भगवान्‌की मानता है। तो सरे अप्याएके हेतुमें इनोकर्में ‘मयि सर्वाणि कर्माणि सन्पत्पाध्या मन्वेत्सा’ (मुख पर्मामानें ल्ये हुए चित्तद्वारा सम्पूर्ण रुक्मोंमें मुक्षमें अर्पण करके) तथा दौन्वरे अध्यायमें दसरें इनोकर्में ‘प्रक्षण्याध्या कर्माणि सङ्ग त्यक्ता करोति य’ (जो यत् कर्मोंको परमात्मामें अर्पण करके आसक्ति-रहित होकर कर्म छात है) इन पदोद्धारा यत्री गत यहो गयी है।

तत्त्वज्ञानी (सिद्ध ज्ञानी पुष्ट) की शरीर इद्रिय मन उद्दिष्ट व्यष्टि प्रकृति अद्वारा और मम नारे रहित होनेषे यारण ‘समर्टि प्रहृति’ में लीन हो जाती है। उसपे अतान्तरणमें प्रारब्ध रथे ने, महार रहोड़े उसीके अनुसार उग्रके ऋषित शरीर इद्रियोंमा उद्दिष्टे द्वारा लोक पर्वते ग्रिये मन ज्ञानादिक (शांतनु अभिमान गिना) दि गारे हुआ। इस दि इष्टिर उत्तोधी चोइहर भगवान्‌के पासमें इत्रोन उत्तरभर्ति-स्वामी (गम्भूर्ज ग्रियाओंको करत हुए नी कृत्यरहिता) दशा गया है।

कर्म कर्खा लेते हैं । वे सब कर्म केवल लोकहितके लिये ही होते हैं । जैसे, भगवान् बुद्धने बढ़ती हुई हिंसाको और भगवान् गङ्गाराचार्यने बढ़ती हुई नास्तिकताको पिण्डनेत्रा सत्प्रयास किया ।

तीसरा हंतु ह—नी व्यक्तिपिशेषकी श्रद्धा एव जिज्ञासाके कारण महापुरुषोंके हृत्यमें उठ पिशेष वातें (कहनेके लिये) स्फुरित होती हैं और वे उस व्यक्तिकी जिज्ञासाको शात करनेकी चेष्टा करते हैं ।

वाम्पुवमें भगवान्के पूर्ण नियन्त्रणमें समष्टि प्रकृति ही समस्त सप्तारका सचालन करती है* अर्थात् मात्र कियाएँ प्रकृतिके द्वारा ही होती हैं । परतु मनुष्य भूलसे मन, बुद्धि, इन्द्रिय एव शरीररूप प्रकृतिके कार्योंको अपना मानकर इनकी कियाओका कर्ता अपनेको मान लेता है † । अत भगवान्की समष्टि प्रकृतिरूप जो शक्ति सप्तारका कार्य चलाती है, उसी शक्तिसे सिद्ध भक्तके अपने कहे

* मयाध्यक्षेण प्रकृति सूखते सचराचरम् ।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तन ॥

(गीता ९ । १०)

‘हे अर्जुन ! मुझ अधिष्ठाताकी अध्यक्षतामें प्रकृति चराचर जगत्‌की रचना करती है और इसी हेतुसे जगत्‌की सम्पूर्ण कियाएँ हो रही हैं ।’

† प्रकृते क्रियमाणानि गुणे कर्माणि सर्वश ।
अहकारविभूदात्मा कर्ता हमिति मन्यते ॥

(गीता ९ । २७)

‘सम्पूर्ण कर्म सब प्रभारसे प्रकृतिपे गुणोदारा किये जाते हैं, तो भी जिसका अन्त करण अहकारमे मोहित हो रहा है, ऐसा अजानी पुरुष में करता हूँ—ऐसा मानता है ।

जानेवाले मन-बुद्धि-इन्द्रिय-शरीरके द्वारा कियाएँ होती हैं अर्थात् उन्हें कार्य भगवान्‌के द्वारा ही सचालित होते हैं। इसीलिये मिद मन्त्रम्
‘सर्वागम्भपरित्यागी’ कहा गया है।

वास्तवमें राग-द्वेषादि विकार न तो प्रकृति (जड़) में हैं वर्ते
न पुरुष (चेतन) में ही है। चेतनका जड़के साथ सम्बन्ध
लेनेसे अपने-आप विकार उत्पन्न होते हैं। प्रकृतिके साथ सूने
अपना सम्बन्ध माननेके कारण साधारण मनुष्योंका अपने
सासारिक पदार्थोंकी आवश्यकता प्रतीत होती है। उन पदार्थोंमें
प्राप्तिके लिये वे कर्म करना आरम्भ कर देते हैं। इस प्रकार कर्मों
आरम्भका मूल हेतु प्रकृतिके साथ माना हुआ सम्बन्ध ही है। उन
सिद्ध भक्तजा एकसात्र भगवान्‌के साथ सम्बन्ध होनेसे उसमें कर्मों
आरम्भ करनेके मूल हेतुका अत्यन्त अभाव रहता है। इसलिये वह
‘सर्वागम्भपरित्यागी’ होता है।*

स—थह ।

मझका —मेरा भक्त (प्रेमी) ।

भगवान्‌मे सामाविक ही इतना महान् आर्थण है रि ५८
स्तन उनकी ओर रिच जाता है, उनपा प्रेनी ही जान है।

वात्मारामाश्च मुनयो निर्घन्धा अस्युरपमे ।

पुर्यन्त्यहेतुकी भक्तिभित्यम्भूतगुणो दृग् ॥
(श्रीमद्भागवत ३।३।१०)

* चाप अथारण उभास्त्रेष्वाद्यं यमाद्यन्ताः प्रत्याभ्यन्तः

‘ज्ञानके द्वारा जिनकी चिद्-जड़-प्रणिय कट गयी है, ऐसे आत्माराम मुनिगण भी भगवान्‌की हेतुरहित (निष्काम) भक्ति किना खरते हैं, क्योंकि भगवान्‌के गुण ही ऐसे हैं कि वे प्राणियोंको अपनी ओर खींच लेने हैं ।

यहा प्रश्न हो सकता है कि यदि भगवान्‌में इतना महान् आकर्षण ह, तो सभी मनुष्य भगवान्‌की ओर क्यों नहीं खिंच जाते, उनके प्रेमी क्यों नहीं हो जाते ।

वास्तविक बात यह है कि जीव भगवान्‌का ही अश है । अत उसका भगवान्‌की ओर सत स्वामानिक आकर्षण होता है । परतु जो भगवान् वास्तवमें अपने हैं, उन्हें तो मनुष्यने अपना माना नहीं आर जो मन-बुद्धि-इन्द्रियाँ-शरीर-कुदुम्बादि अपने नहीं हैं, उन्हें उसन अपना मान लिया । इसीलिये वह शारीरिक निर्वाह और सुख-की कामनासे सासारिक भोगोक्ती ओर आकृष्ट हो गया तथा अपने अशी भगवान्‌से दूर (विमुख) हो गया । फिर भी उसकी यह दूरी वास्तविक नहीं माननी चाहिये । कारण कि नाशवान् भोगोंकी ओर आकृष्ट होनेसे उसकी भगवान्‌में दूरी दिखायी तो देती है, पर तास्तवमें दूरी ह नहीं, क्योंकि उन भोगोंमें भी तो सर्वव्यापी भगवान् परिपूर्ण है । परतु इन्द्रियोंके प्रिययोंमें अर्थात् भोगोंमें ही आसक्ति होनेके कारण उसे उनमें छिपे भगवान् दिखायी नहीं देते* ।

* त्रिभिरुणमयभावेरोभ सरमिद जगत् ।

मोहित नाभिजानाति मामेभ्य परमव्यम् ॥

(गीता ७ । १३)

‘गुणोंके ऋर्यल्प सत्त्विर, राजस और तामस—इन तीनों प्रकारके भावोंसे यह सारा समार (प्राणिमुदाय) मोहित हो रहा है, इसलिये इन तीनों गुणोंसि परे मुक्त अविनाशीको नहीं जानता ।’

जब इन नाशवान् भोगोंकी ओर उसका आनंदण नहीं रहता, तब वह स्वत ही भगवान्‌की ओर खिच जाता है। ससारमें किसीने नै आसकि न रहनेसे भक्तका एकमात्र भगवान्‌में स्वत अडल प्रेम द्वौज है। ऐसे अनन्यप्रेमी भक्तको भगवान् 'मद्दत्त' कहते हैं।

मे—मुझे ।

प्रिय—प्रिय है ।

जिस भक्तका भगवान्‌में अनन्य प्रेम है, वह भगवान्‌को प्रिय होता है ॥ १६ ॥

सम्बन्ध—

सिद्ध भक्तके पाँच लक्षणोंवाला चौथा प्रस्तरग निम्न श्लोकने आया है ।

श्लोक—

यो न दृष्ट्यति न द्वेष्टि न शोचति न काहृति ।

शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमाय स मे प्रिय ॥ १७ ॥

भाराय—

भक्तके अन्त जरणमें किसी भी प्रिय और अप्रिय प्राणी, परार्प, घड़ना, परिस्थितिके मयोग-वियोगमे किसी-मात्र भी ,रा-द्वैत, दर्श शोक आदि विकार नहीं होते । कामना-रद्दित होनेसे उसके द्वारा अमम (पापमयी) कियाएँ तो हो ही नहीं सकती, केवल शुभ (शारदीयित, धर्मयुक्त, न्याययुक्त) कियाएँ ही होनी हैं, परन्तु ममना, जानकि और फलेष्ट्यासे मर्यादा रद्दित होनेके जारी उसका शुभ कियाओंमे भी कोई सम्बन्ध नहीं होता । अब उन कियाएँसे 'र्म', सजा ही नहीं रहती । ऐसा रिकार्डित और शुभाशुभ-परित्यागी भल भगवान्‌को प्रिय होना है ।

अन्वय—

— य , न, हृष्ट्यति, न, द्वेष्टि, न, शोचति, न, काङ्क्षति (च), य ,
शुभाशुभपरित्यागी, म , भक्तिमान्, मे, प्रिय ॥ १७ ॥

पदन्याख्या—

य न हृष्ट्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति—जो न कभी
द्विष्टि होता है, न द्वेष करता है, न शोक फरता है, न कामना
करता है ।

मुख्य विकार चार हैं—(१) राग, (२) द्वेष, (३) हृष्ट,
और (४) शोक* । सिद्ध भक्तमें ये चारों ही विकार नहीं होते ।
उसका यह अनुभव होता है कि समाजका प्रनिक्षण वियोग हो रहा
है और भगवान्से कभी वियोग होता ही नहीं । समाजके साथ
कभी सयोग था नहीं, है नहीं, रहेगा नहीं और रह सकता भी
नहीं । अत समाजकी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है—इस वास्तविकता
(सत्य) को प्रत्यक्ष जान लेनेके पश्चात् (जिताका कोई सम्बन्ध
न रहनेपर) भक्तका केवल भगवान्के साथ अपने नित्यसिद्ध
सम्बन्धका अनुभव अटलरूपसे है । इस कारण उसका अन्त करण
राग-द्वेषादि विकारोंसे सर्वथा मुक्त होना है । भगवान्का साक्षात्कार
होनेपर ये विकार सर्वथा मिट जाते हैं ।

साधनावस्थामें भी साधक ज्यो-ज्यों साधनमें प्रगति करता है,
ज्यों-ही-ज्यों उसमें राग-द्वेषादि कम होते जाते हैं । जो धड़नेवाला होता है,

* प्रचलित भाषामें किसीकी मृत्युसे मनमें होनेवाली व्यथाके स्त्रे
‘शोक’ शब्दका प्रयाग किया जाता है, परन्तु यहाँ ‘शोक’ शब्दका तात्पर्य
आत करणके दु सरूप ‘विकार’में है ।

वह मिटनेगला भी होता है। अतः जब साधनावस्थामें ही कि कम होने लगते हैं, तब सहज ही यह अनुमान लगाया जा सकता है कि मिद्दावस्थामें भक्तमें ये विकार नहीं रहते—पूर्णतया विद्यन्ते।

राग-द्वेषके परिणामखण्डप ही वस्तु, व्यक्ति, पदार्थ, परिस्थिति आदिके सयोग-वियोग एव सयोग-वियोगकी असह-हर्ष-शोक होते हैं। अन विकारोंके मूल कारण राग-द्वेष ही जिनसे जीव ससारमें बँधता है *। इसीलिये गीतामें सम्पूर्ण लिये स्थान-स्थानपर राग-द्वेषके त्यागपर जोर दिया गया है, तीसरे अध्यायके चातीसमें श्लोकमें 'त्योर्न वशमागच्छेत्' राग-द्वेषके वशमें न होनेके लिये और अठारहवें अध्यायके इक्ष्यांश्लोकमें 'रागद्वौ व्युदत्य च' पदोंसे राग-द्वेषका त्याग करनेके कहा गया है।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, हर्ष और शोक दोनों राग-द्वेष ही परिणाम हैं। जिसके प्रति राग होता है, उसके सयोगमें जिसके प्रति द्वेष होता है, उसके वियोगसे 'हर्ष' होता है। विपरीत जिसके प्रति राग होता है, उसके वियोग या विद्यन्ते आशङ्कासे और जिसके प्रति द्वेष होता है, उसके सयोग या संस्कृ-

* इष्टादेपसमुत्थेन कून्दमोहेन भारत ।

मायंभूताति सम्मोह सर्गो याति परतर ॥

(गीता ७।०३)

ऐ भरताशी आर्जा ! एहामें इष्टा और द्वेषमें उच्चता

आशङ्कासे 'शोक' होता है। सिद्ध भक्तमें राग-द्वेषका अत्यन्ताभाव होनेसे खत एक साम्यावस्था निरन्तर रहती है। इसलिये वह विकारोंसे सर्वथा रहित होता है।

जैसे रात्रिके समय अन्धकारमें दीपक जलानेकी कामना होती है, दीपक जलानेसे हर्ष होता है, दीपक बुझानेवालेके प्रति द्वेष या क्रोध होता है और पुन दीपक प्रज्ञलित कैसे हो—ऐसी चिन्ना होती है। रात्रि होनेसे ये चारों बातें होती हैं। इसके विपरीत मध्याह्नका सूर्य तपता हो तो दीपक जलानेकी कामना नहीं होती, दीपक जलानेसे हर्ष नहीं होता, दीपक बुझानेवालेके प्रति द्वेष या क्रोध नहीं होता और (अँधेरा न होनेसे) प्रमाणके अभावकी चिन्ता भी नहीं होती। इसी प्रकार भगवान्‌से विमुख और ससारके समुख होनेसे शरीर-निर्वाह और सुखके लिये अनुकूल पदार्थ, परिस्थिति आदिके मिलनेकी कामना होती है, इनके मिलनेपर हर्ष होता है, इनकी प्राप्तिमें गाधा पड़ुचानेवालेके प्रति द्वेष या क्रोध होता है और इनके न मिलनेपर 'कैसे मिलें' ऐसी चिन्ता होती है। परतु (मध्याह्नके सूर्यका भाँति, जिसे भगवत्प्राप्ति हो गयी है, उसमें ये विकार कभी नहीं रहते। वह पूर्णकाम हो जाता है। अत उसे ससारकी कोई आपश्वकता नहीं रहती *।

* दूसर अध्यायके सत्ताननवें श्लोकमें भाभिन दति न द्वेष्टि, पद, पाँचवें अ यायके तीसरे श्लोकमें 'न द्वेष्टि न काङ्क्षति' पद तथा अठारहवें अध्यायके दसवें श्लोकमें 'न द्वेष्टि, नानुपञ्जते' पद कर्मयोगीमें राग-द्वेषका अभाव न तलानेये लिये प्रयुक्त हुए ।

चौदावें अध्यायके गाँहमव श्लोकमें 'न द्वेष्टि, न काङ्क्षति' पद और अठारहवें अध्यायके चौबनवें श्लोकमें 'न गोचति' न काङ्क्षति पद जनयोगीने राग द्वेषका अभाव दिग्भलानेये लिये प्रयुक्त हुए हैं।

मे—मुझे ।

प्रिय —प्रिय है ।

भक्तका भगवान्में अनन्य प्रेम होता है, इसविषे वह मार्ग
प्रिय होता है ॥ १७ ॥

सम्बाध—

अब दो श्लोकोंमें सिद्ध भक्तके दस लक्षणाँवाटा पाँचँ
अन्तिम प्रकरण दिया जाता है ।

श्लोक—

भम शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयो ।

शीतोष्णादुखदुर्घेषु सम सङ्खविवर्जित ॥ १८ ॥

तुत्यनिन्दास्तुतिमौनी सतुष्ठो येन केनचित् ।

शनिकेन स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नर ॥ १९ ॥

भावाप—

भक्तके हृदयमें केवल प्रभुके प्रति अनन्य और प्रतिभुग वर्द्धन
प्रेम रहनेसे उनके अन्त करणमें अनुकूल-प्रतिकूल प्राणी, पर्द्ध
परिभ्यनि आदिमें राग-द्वेष, दर्प-शोक आदि विकारोंसा कोई नहीं
नहीं रह जाता । उसस्ता शतु-नित्र, मान-प्रमान, शीत उष्ण हृष्ट
दृष्ट और निन्दा-स्तुतिमें सता-सूर्यदा समझान रहता है । उसके गुण
भगवान्में व्यवस्था स्वत नन होता रहता है । उसके गुणोंमें
भी परिभ्यनि आती है, उन्होंने भशन् आमन्दवा अनुमत दरता है
रहनेरे व्याप्तें जैर गान्ते भी उनकी मवान-जासत्ते नहीं होते ।
उनकी शुद्धि निधानभावमें गमानवशमें ही निर रहती है । उन्होंने
मन्त्रान पुरा भगवान्में प्रिय होता है ।

इन श्लोकोंमें भक्तका सदा-र्पणा समभावमें स्थित रहनेका वर्णन किया गया है। शत्रु-मित्र, मान-अपमान, शीत-उष्ण, सुख-दुःख और नि दा-स्तुति—इन पाँचों दृढ़दोमें समना होनेसे ही साधक पूर्णत समभावमें स्थित रहा जा सकता है।

अन्वय—

शत्रौ, च, मित्रे, (सम), तग, मानापमानयो, सम, शीतोष्ण-
सुखदु खेपु, सम, च, महाविवजित ॥ १८ ॥

तुर्यनिन्दास्तुति, मानी, वेन, वेनचित्, सतुष्ट, अनिकेत,
स्थिरमति, भक्षिमान्, नर, मे, प्रिय ॥ १९ ॥

पद व्याख्या—

शत्रौ च मित्रे (सम)—(जो) शत्रु और मित्रमें सम है।

यहाँ भगवन्ने भक्तमें व्यक्तियोके प्रति होनेगाली समताका वर्णन किया है। सर्वत्र भगवद्बूङ्कि होने तथा राग-द्वेषसे रहित होनेके कारण सिद्ध भक्तका किसीके प्रति शत्रु-मित्रका भाव नहीं रहता*। लोग ही उसके व्यग्रहारमें अपने स्वभावके अनुसार अनुकूलता या प्रतिकूलताको देखकर उसमें मित्रता या शत्रुताका भाव कर लेते हैं। साधारण लोगोंका तो कहना ही क्या है, सावधान रहनेवाले साधकोंका भी उस सिद्ध भक्तके प्रनि मित्रता ओर शत्रुताका भाव ही जाता है। पर भक्त अपने-आपमें सदैन पूर्णत सम रहता है। उसके हृदयमें कभी किसीके प्रनि शत्रु-मित्रका भाव उत्पन्न नहीं होता।

* उमा जे राम चरन रत विगत काम मद कोध।

निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं प्रिरोध ॥

(मानस ७। ११२ ख)

मान लीजिये, भक्तके प्रति शत्रुता और मित्रशक्ति भन्त हैं वाले दो व्यक्तियोंमें धनके बँटवारेसे सम्बन्धित कोई निगद हो न और उसका निर्णय करानके लिये वे भक्तके पास जायें तां धनका बँटवारा करते समय शत्रु-भावनाले व्यक्तिको कुछ छी और मित्र-भावनाले व्यक्तिको कुछ कम धन देगा। यद्यपि इस निर्णय (व्यवहार) में शिष्यमता दीखनी है, तथापि शत्रु-भव्यक्तिको इस निर्णयमें समता दिखायी देगी कि इसने पश्चात्यर्थी बँटवारा किया है। अनएव भक्तके इस निर्णयमें शिष्यमता (पश्चात् दीक्षनेपर भी बास्तवमें यह (समताको उत्पन्न करनेगग्न होनेमें) समता ही कहलायेगी।

उपर्युक्त पदोंसे यह भी मिह द्वारा होता है कि उसके भक्तके साथ लोग (अपने भावके अनुसार) शत्रुता-मित्रताका व्यवहार करते हैं और उसके व्यवहारसे अपनेको उसका शत्रु-मित्र मान लेते हैं। इसीलिये उसे यहाँ शत्रु-मित्रसे रहित न कठबर 'शत्रु-मित्रमें' कहा गया है*।

नथा—और।

मातापमानयो सम—मान तथा अपमानमें मम है।

मान-अपमान पररुत भिया है, जो शरीरके प्रति द्वेषी है। भक्तकी अपने कहानानेश्वरले शरीरमें न तो अद्वा दोरी है,

* एवं भज्याप्ते त्वे द्वौक्षमे गुट्टर, निरु, वर्यु, उष्मार्णा, नर्मद देष्य भी ए दुग्धोंमें गिद्ध कर्मणो तोके समझा गया एवं भिया गया है।

चौरू, अप्याप्ते एवं गुणमें रुपोक्ते कुन्दे गिरितेरा तो दोरी निःलिङ्घात्मकुल द्वारा गया है।

ता । इसलिये शरीरका मान-अपमान होनेपर भी भक्तके अन्त-एमें कोई निकार (हर्षशोक) उपन्न नहीं होता । वह नित्य-ल्तर समतामें स्थित रहता है* ।

शीतोष्णसुखदु खेषु सम—(तथा) सरदी-गरमीमें (अनुकूल-तेकूल निषयोमें) और सुख-दु खमें (सुखदायी-दु खदायी परिस्थितिमें जैज्ञानेमें) सम है । †

इन पदोमें दो स्थानोंपर सिद्ध भक्तकी समता बतलायी गी है—

(१) शीतोष्णमें समता अर्थात् इन्द्रियोंका अपने-आने प्रयोगसे सयोग होनेपर अत करणमें कोई निकार न होना ।

(२) सुख-दु खमें समता अर्थात् धनादि पदार्थोंकी प्राप्ति या प्राप्ति होनेपर अन्त करणमें कोई विकार न होना ।

‘शीतोष्ण’ शब्दका अर्थ ‘सरदी गरमी’ होता है । सरदी-गरमी विग्निन्द्रियके प्रिष्य हैं । भक्त केवल विग्निन्द्रियके विषयोमें ही सम इता हो, ऐसी बात नहीं है । वह तो समस्त इन्द्रियोंके प्रिष्योमें सम रहता है । अत यहाँ ‘शीतोष्ण’ शब्द समस्त इन्द्रियोंके प्रिष्योंका

* छठे अध्यायके सातवें श्लोकमें ‘मानापमानयो प्रशान्तस्य’ पद सिद्ध कर्मयोगीकी तथा चौदहवें अध्यायके पचीसवें श्लोकमें ‘मानापमानयो तुल्य’ पद गुणातीत पुरुषकी मानापमानमें समताके बोधक हैं ।

† गीतामें ‘शीतोष्ण’ पद जहाँ भी आया है, ‘सुख-दु ख’ पदके साथ ही आया है, जैसे—‘शीतोष्णसुखदु खदा’, (२ । ७) और ‘शीतोष्णसुखदु खेषु (६ । ७, १२ । १८) ।

वाचन है । प्रत्येक इन्द्रियका अपने-अपने विश्वके साथ होनेपर भक्तको उन (अनुकूल या प्रतिकूल) विषयों पर होता है, पर उसके अत नरणमें हर्ष-शोकादि विकार नहीं हैं वह सभा सम रहता है ।

सामाजण मनुष्य धनादि अनुकूल पदारोकी प्राप्तिमें हुए प्रतिकूल पदारोकी प्राप्तिमें दुखका अनुभव करते हैं । ऐसे पदारोकी प्राप्त होने अथवा न होनेपर मिश्र भक्तके अनुभव कभी किञ्चित भी राग-ट्रेप, हर्ष-शोकादि विकार नहीं होते । प्रत्यक्ष परिस्थितिमें सभा रहता है ।

‘सुख-दुखमें सभा’ रहने तथा ‘सुख दुखमें रहित’ इन दोनोंका गीतामें एक ही अर्थमें प्रयोग हुआ है । सुख-दुख परिस्थिति अवश्यम्भावी है, अत उससे रहित होना सामर्थ नहीं । इसलिये भक्त सुखदायी तथा दुखदायी परिस्थितियोंमें तर्ह है । हाँ, सुखदायी तथा दुखदायी परिस्थितिको लेता जनक जो हर्ष-शोक होते हैं, उनमें रहित हुआ जा सकता है । दृष्टिमें गातामें जहाँ ‘सुख-दुखमें सभा’ होती रह जाती है, सुख-दुखकी परिस्थिति सम सामाजना चाहिये, और दूसरी है दुखमें रहित’ होनेकी जान आयी है, वहाँ (सुख-दुख द गतायी परिस्थितिकी प्राप्तिमें होनेवाले) दर्शकोंने सुमझना चाहिये ।

• दूसरे अध्यायमें बढ़ाय दर्शकों सामने प्रस्तुता दी गई अदर्शताओंटेक्षणमें दृश्य तेगमें प्राप्तिमें लाभफो गुण दृश्यकीदर्शकों द्वारा दर्शनेले लिये रखा गया है ।

च—और ।

सङ्घविचर्जित —आसक्तिसे रहित है ।

‘सङ्घ’ शब्दका अर्थ सम्बन्ध (सयोग) तथा आसक्ति दोनों ही होते हैं । मनुष्यके लिये यह सम्भव नहीं है कि वह स्वरूपसे सब पदार्थोंका सङ्घ अर्थात् सम्बन्ध छोड़ सके, क्योंकि जबतक मनुष्य जीवित रहता है, तबतक शरीर-मन-बुद्धि-इन्द्रियाँ उसके साथ रहती ही हैं । हाँ, शरीरसे भिन्न कुछ पदार्थोंका त्याग स्वरूपसे अनश्य किया जा सकता है । मान लेंजिये, किसी व्यक्तिने स्वरूपसे प्राणी-पदार्थोंका सङ्घ छोड़ दिया, पर उसके अन्त करणमें यदि उनके प्रति किञ्चित् भी आसक्ति बनी हुई है, तो उन प्राणी-पदार्थोंसे दूर होते हुए भी वास्तवमें उसका उनसे सम्बन्ध बना हुआ ही है । दूसरी ओर यदि अन्त करणमें प्राणी-पदार्थोंकी किञ्चित् भी आसक्ति नहीं है, तो पास रहते हुए भी वास्तवमें उनसे सम्बन्ध नहीं है । यदि पदार्थोंका स्वरूपसे त्याग करनेपर ही मुक्ति होती, तो मरनेगाला प्रत्येक व्यक्ति मुक्त हो जाता, वयोकि

पद्रहवें अध्यायके पाँचवें श्लोकमें ‘दृन्द्विविमुक्ता सुखदु रसजै, पदोसे भिन्द पुरुषको सुख दु गसे रहित रहा गया है ।

दूसरे अध्यायके छपनवें श्लोकमें ‘दु नेष्वनुद्विग्नमना सुनेयु विगतस्पृह’, एव छठे अध्यायमें सातवें श्लोकमें ‘शीतोष्णसुखदु नेयु, पटोके द्वारा सिद्ध रमेयोगीनी, छठे अ नायके गत्तीसरे श्लोकमें ‘भमपश्यति’, ‘सुग गा यदि वा दु रम्! पदोसे भिन्द पुरुषकी तथा चौदहवें अध्यायके चौमीसर श्लोकमें ‘भमदु नसुग’, पदमे गुणातीत पुरुषकी सुखदु न्वमें समता उत्तलायी गयी है ।

उसने तो अपने शरीरका भी त्याग कर दिया ! परहु स्वर्ण र
टे नहाँ । अन्त करणमें आसक्तिके रहते हुए शरीरत्यसा हमा
भी समारका वन्धन बना रहता है । अत मनुष्यरी हमन
आसक्ति ही चाँधनेगाली होती है, न कि साक्षात्किं प्राणीपदानेप
खलूपसे सम्बन्ध ।

आसक्तिको मिटानेके लिये पदार्थोंका सरलपसे गता करा
भी एक साधन हो सकता है, किंतु मूल आवश्यकता अस्तित्व
सर्वथा त्याग वरनेकी ही है । ससाके प्रति पदि किंविदः
आसक्ति है, तो उसका चिन्तन अनश्य होगा । इस कारण
आसक्ति सापरक्षको क्रमशः कामना, क्रोध, मूड़ना आदि के प्रति वर्त
हुई उसे पननके गर्भमें गिरानेका हेतु बन सकती है ॥

भगवान् ने दूसरे अध्यायके उनसठवें इष्टोक्तमें 'पर प
नियतते' पदोंसे भगवत्यासिके बाद आसक्तिकी सर्वथा निय

● 'यापतो विश्वा-पुरुष सङ्गस्तेषु प्रगते ।
महात्मजायने काम कामाल्लोचोऽभिजाते ॥
क्रोधाद्वर्ति सम्मोह सम्मोहास्त्रितिप्रभम् ।
ग्रूतिभूशाद्बुद्धिनाशो तु द्विनाशाप्तगति ॥
(गीता २।६२ ॥)

'यिष्योशा चित्तन चरोगे पुरुषकी उन विषयोंमें भार्तु है
जारी है, आभिज्ञो उन विषयाओं का बनना उत्तम होती है और उन्हें
(भ विन वहौ) से सोय उत्तम होता है । कोईने अबना दूर
उत्तम होगा है, एदमात्मे रुग्णिम भूम हो जाता है, सूतिने इन देख

लाभी है। भगवन्प्राप्तिसे पूर्व भी आसक्तिकी निवृत्ति हो सकती है पर भगवन्प्राप्तिके बाद तो आसक्ति सर्वथा निवृत्त हो ही जाती है। भगवन्प्राप्ति महापुरुषमें आसक्तिका सर्वथा अभाव होता ही है, इत्थु भगवन्प्राप्तिसे पूर्व साधनाप्रस्थामें आपक्तिका सर्वथा अभाव तो ही नहीं—ऐसा नियम नहीं है। साधनाप्रस्थामें भी आसक्तिका सर्वथा अभाव होकर सावरको तकाल भगवन्प्राप्ति हो कर्ती है*।

आसक्ति न तो परमात्माके अश शुद्ध चेतनमें रहती है और जड़ (प्रकृति) में ही। वह जड़ और चेतनके सम्बन्धरूप में पनकी मान्यतामें रहती है। वही आसक्ति दुष्टि, मन, इन्द्रियों

* वाहस्पन्द्यसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्मुखम् ।

स ग्रहयोगयुक्तात्मा सुरमध्यमश्नुने ॥

(गीता ५। २१)

बाहरके विषयोंमें आसक्तिरहित अत करणगाला साधक आत्मामें स्थित जो (ध्यानजनित सत्त्विक) आनन्द है, उसे प्राप्त होता है। तदनन्तर वह परमात्माके ध्यानरूप योगमें अभिन्नभावसे स्थित पुरुष अभ्य आनन्दका अनुभव करता है।

एतैर्विमुक्त कौन्तेय तमोद्वारैलिभिर्न ।

आचरत्यात्मन श्रेयस्ततो याति परा गतिम् ॥

(गीता १६। २२)

हे अज्ञन ! इन तीनों (काम, द्वोध और लोभरूप) नरकके द्वारोंसे मुक्त पुरुष अपने कल्याणका आचरण करता है, इससे वह परमगति (परमात्मा) को प्राप्त हो जाता है ।

उसने तो अपने शरीरका भी त्याग कर दिया । परतु एक है नहीं । अन्त करणमें आसक्तिके रहते हुए शरीरन्या काने भी ससारका वन्धन बना रहता है । अतः मनुष्यको सारी आसक्ति ही बोधनेगली होती है, न कि सासारिक प्राणी-ददरों स्वरूपसे सम्बन्ध ।

आसक्तिको मिटानेके लिये पदार्थोंका स्वरूपसे त्याग वा भी एक साधन हो सकता है, किंतु मूल आपश्यकता आसक्ति सर्वथा त्याग करनेकी ही है । ससारके प्रति यदि किञ्चित्मात्र आसक्ति है, तो उसका चिन्तन अपश्य होगा । इस कारण आसक्ति साधकको क्रमशः कामना, क्रोध, मूढ़ता आदिको प्राप्त कर्म ही उसे पतनके गर्तमें गिरानेका हेतु बन सकती है * ।

भगवान्‌ने दूसरे अध्यायके उनसठवें श्लोकमें 'ए ए निवर्तते' पदोंसे भगवद्यात्मिके बाद आसक्तिरी सर्वपा निर्वा-

* ध्यायतो विषयान्पुस सज्जस्तेषूपजायते ।
सज्जात्सज्जायते काम कामाक्षोऽभिजायते ॥
क्रोधाद्वति सम्मोह सम्मोहात्सृतिविभ्रम ।
सृतिभ्रशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्मगद्यति ॥

(गीता २ । ६२ ६३)

'विषयोंमा चिन्तन करनेवाले पुरुषकी उन विषयोंमें आतकि जानी है, वामनिसे उन विषयोंसी कामना उत्पन्न होती है और इन (म विज्ञ पड़ने) से क्रोध उत्पन्न होता है । क्रोधसे अन्यत मूढ़भाव उत्पन्न होता है, मूढ़भावसे सृतिमें भ्रम हो जाता है, सृतिमें भ्रम (जानेसे बुद्धि अर्थात् ज्ञानशक्तिका नाश हो जाता है और उद्दिष्टा नाश है जानेने यह पुरुष अपनी स्थितिसे गिर जाता है ।

लायी है। भगवत्प्राप्तिसे पूर्ण भी आसक्तिकी निवृत्ति हो सकती पर भगवत्प्राप्तिके बाद तो आसक्ति सर्वथा निवृत्त हो ही जाती। भगवत्प्राप्त महापुण्यमें आसक्तिका सर्वथा अभाव होता ही है, तु भगवत्प्राप्तिसे पूर्ण साधनावस्थामें आपक्तिका सर्वथा अभाव नहीं ही नहीं—ऐसा नियम नहीं है। साधनावस्थामें भी सक्तिका सर्वथा अभाव होकर साधकको तत्काल भगवन्प्राप्ति हो ली है*।

आसक्ति न तो परमात्माके अश शुद्ध चेतनमें रहती है और जड (प्रकृति) में ही। वह जड और चेतनके सम्बन्धरूप 'पनकी मान्यतामें रहती है। वही आसक्ति दुष्टि, मन, इद्रियों

* वाहस्त्वर्गेऽप्सक्तात्मा विद्यात्मनि यत्सुखम् ।

स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुरसमर्थमश्नुते ॥

(गीता ५। २१)

चाहरके विषयोंमें आसक्तिरहित अत करणाला साधक आत्मामें त जो (ध्यानजनित सात्त्विक) आनन्द है, उसे प्राप्त होता है। न तर वह परमात्माके ध्यानरूप योगमें अभिज्ञामावसे स्थित श्य अश्रय आनन्दका अनुभव करता है।

एत्पर्विसुक्त कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिन्ने ।

आचरत्यात्मन श्रेयस्तो याति परा गतिम् ॥

(गीता १६। २२)

हे अर्जुन ! इन तीनों (काम, क्रोध और लोभरूप) नरकके द्वारोंसे उ पुरुष अपने कल्याणका आचरण करता है, इससे वह परमगति (रमात्मा) को प्राप्त हो जाता है ।

और विषयो (पढ़ायो) में प्रतीत होती है* । अतएव यदि सार्वभौमिकी पनकी मन्यतामें रहनेगाली आसक्ति मिट जाय, तो अन्यत्र प्रश्न द्वानेगाली आसक्ति स्वत मिट जायगा । आसक्तिका कारण अविवेच्य ही अपने प्रिवेकनो पूर्ण प्रहर्त्व न देनेसे साकमें आसक्ति रहती है । न आवेक नहीं रहता । इसस्थिये गह आसक्तिसे सर्वया रहित होता है ।

अपन अशी भगवान्से प्रिमुख होकर भूलसे समारको ज्ञान लेनेसे समारमें राग हो जाता है और राग होनेसे मर्हा आसक्ति हो जाती है । ससागर्से माना हुआ अपनापन सर्वया जानेसे वुद्धि सम हो जाती है । वुद्धिके सम होनेपर न्यय भार्या रहित हो जाना है ।†

* दूसरे अध्यायके उनसठवें श्लोकमें (मैंपन) में रहनेवर्ती आसक्तिको 'अस्य रस', पदोंसे कहा गया है । तीसरे अध्यायके नार्द्देश्वरमें इत्रियों, मन और वुद्धिको कामका 'धासस्याऽपत्ताः' है । कामवे ये रथान आसक्तिके स्थान भी है, क्योंकि काम आसक्तिया कार्य है, और जहाँ कार्य रहता है, वहाँ उसका कारण भी रहता ही है ॥। प्रकार तीसरे अध्यायके चाँतीसवें श्लोकम 'इन्द्रियस्येद्विषयस्याये रादृ व्यवस्थितौ' पदमें विषयोम आसक्ति रहती है—ऐसा यत्प्रया गता ।

† गीताम भगवान्ने स्थान-स्थानपर साधकके लिये आसक्तिसे रहनेपर जोर दिया है । जैसे, तीसरे अध्यायवें सातव तथा उनाहवें इन्द्रेभूत, पदमें, ग्यारहवें अध्यायके पचपनवें श्लोकम 'सज्ज्वर्णित' दूसरे तथा पठहवें अध्यायमें तीसरे इन्द्रेकमें 'असङ्गशशम्नेण' पदमें आदीदृत्यागभी गत आयी है ।

तीसरे अध्यायके नवें श्लोकमें 'मुक्तसहृ' पदमें, पाँचवें तथा इकाईसवें श्लोकम 'असक्तात्मा' पदमें, आठवें अध्यायके ग्यारहवें इत्येकदेव

२१

मार्मिक वात

२२

ग्रन्थमें जीवमात्रकी भगवान्‌के प्रति स्वाभाविक अनुरक्ति (म) है। जबतक मसारके साथ भूलसे माना हुआ अपनेपनका बध है, तबतक यह अनुरक्ति प्रकट नहीं होती, अपितु ससारमें सक्लिके रूपमें प्रतीत होती है। ससारकी आसक्ति रहते हुए भी युत, भगवान्‌की अनुरक्ति मिटती नहीं अनुरक्तिके प्रकट होते ही सक्लि (सूर्यका उदय होनेपर अधरकारकी भाँति) सर्वथा निवृत्त जाती है। ज्यो-ज्यों ससारसे प्रियक्ति होती है, त्यो-ही-त्यों गगानसे अनुरक्ति अभियक्त होती है। यह नियम है कि अठाहवें अध्यायके उठे तथा नवें श्लोकमें 'सङ्ग त्यक्त्वा' पदोंसे छब्बीसवें श्लोकमें 'मुक्तसङ्ग', पदसे तथा उनचासवें श्लोकमें 'असक्तुद्दिः', पदसे साधकके लिये आसक्तिरहित होनेका महत्व नतलाया गया है। अठाहवें अध्यायके ही तेर्वें श्लोकमें 'सङ्गरहितम्' पद अहकार-रहित होनेके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है।

सिद्ध पुरुष आसक्ति-रहित होता है—इस वातको स्पष्ट करनेके लिये दूसरे अध्यायके छप्पनवें श्लोकमें 'वीतरागभयक्रोध', पद (जिसमें रागमें साथ साथ भय और क्रोधका भी सर्वथा अभाव नतलाया गया है) तथा सत्तावनवें श्लोकमें 'अनभिस्नेह', पद, तीसरे अध्यायके पच्चीसवें श्लोकमें 'असक्तः', पद, चौथे अध्यायके दसवें श्लोकमें पुन 'वीतरागभयक्रोधा', पद और तेर्वें श्लोकमें 'गतसङ्गस्य' पद और पद्मद्वें अध्यायके पाँचवें श्लोकमें 'जितसङ्गदोषा', पद प्रयुक्त हुए हैं।

परमात्माको आसक्तिरहित नतलानेके लिये नवें अध्यायमें नवें श्लोकमें तथा तेरहवें अध्यायके चौदहवें श्लोकमें 'असक्तम्' पदका प्रयोग हुआ है।

सिद्ध भक्तके द्वारा स्वत -सामारिक भगवत्स्वरूपका मनन है। रहता है, इसलिये उसे 'मौनी' अर्थात् मननशील कहा गया है। अत करणमें आनेवाली प्रत्येक वृत्तिमें उसे 'ग्रसुदेन सर्वं' (गीता ७ । ९) 'सब कुछ भगवान् ही है'—यही दीखता है। फलत उसके द्वारा निरन्तर ही भगवान्का मनन होता है।

यहाँ 'मौनी' पदका अर्थ वाणीका मौन रखनेवाला नहीं है जा सकता, क्योंकि ऐसा माननेसे वाणीके द्वारा भक्तिजा प्रवृत्त करनेवाले भक्त पुरुष भक्त ही नहीं कहलायेंगे। इसके अन्तरिक्ष वाणीका मौन करनेमात्रसे भक्त होना सम्भव होता, तो भक्त एवं बहुत ही सहज हो जाता और ऐसे भक्त असत्य बन जाते, जिससारमें भक्तोंकी सत्या अधिक देखनेमें नहीं आती। इसके असुर-स्वभाववाला दम्भी व्यक्ति भी हठपूर्वक वाणीका मौन कर सकते हैं। पर यहाँ भगवत्प्राप्त सिद्ध भक्तके लक्षण बतलाये जा रहे हैं। इसलिये यहाँ 'मौनी' पदका अर्थ 'भगवत्स्वरूपका मनन वाला' ही माना जाना युक्तिसागत है। *

येन केनचित् संतुष्ट—जिस-किसी प्रकारसे भी (शरीर निर्वाह होनेमें) संतुष्ट है।

* पाँचवें अध्यायके छठे तथा अढाईसठवें इलोकमें 'मुनि' शाधको भगवत्स्वरूपका मनन करोवाला बतलाया गया है।

दूसरे अध्यायके उप्पनवें इलोकमें 'मुनि', पदसे सिद्ध करनेवाला लक्ष्य कराया गया है।

इसवें अध्यायके अद्वीतीयसे इलोकमें 'मौनम्' पद वाणीके भी दोतह है। सप्तद्वें अध्यायके सोलहवें इलोकमें 'मौनम्' पद (मानसिर्व अन्तर्गत प्रयुक्त होनेसे) परमात्मस्वरूपका मनन नरोंके अर्पणे अन्तर्गत

दूसरे लोगोको भक्त ‘येन केनचित् सतुष्ट । अर्थात् प्रारब्धा-
सार शरीर-निर्गहके लिये जो कुछ मिल जाय, उसी । सतुष्ट दीखता
परतु वास्तवमें भक्तकी सतुष्टिका हेतु कोई सासारिक पदार्थ,
रोस्थिति आदि नहीं होता । एकमात्र भगवान्‌में ही प्रेम होनेके
एण वह नित्य-निरन्तर भगवान्‌में ही सतुष्ट रहता है । इस
तुष्टिके कारण वह ससारकी प्रत्येक अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितिमें
रहता है, क्योंकि उसके अनुभवमें प्रत्येक अनुकूल या प्रतिकूल
रोस्थिति भगवान्‌के मङ्गलमय विधानसे ही आती है । इस प्रकार
‘येक परिस्थितिमें नित्य-निरन्तर सतुष्ट रहनेके कारण उसे ‘येन
तचित् सतुष्ट’ कहा गया है ।*

अनिकेत—रहनेके स्थान और शरीरमें भी ममता-आसक्तिसे
रहत है ।

जिनका कोई निकेत अर्थात् नासस्थान नहीं है, वे ही ‘अनिकेत’
—ऐसी वात नहीं है । चाहे गृहस्थ हों या साधु-सन्यासी, जिनकी
पने रहनेके स्थानमें ममता-आसक्ति नहीं है, वे सभी ‘अनिकेत’ हैं ।
किना रहनेके स्थानमें एव शरीर (स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीर)—
लेशमात्र भी अपनापन एव आसक्ति नहीं होती । इसलिये उसे
‘अनिकेत’ कहा गया है ।

* दूसरे अध्यायके पचपनवें श्लोकमें ‘आत्मयेवात्मना तुष्ट’, पद,
मिरे अध्यायके सप्तहवें श्लोकमें ‘आत्मतृप्त’, एव ‘आत्मन्येव च सतुष्ट’,
इ, चौथे अध्यायके दीसवें श्लोकमें ‘नित्यतृप्त’, पद, छठे अध्यायके
में ‘शोकमें ‘आत्मनि तुष्टिः पद और इसी (बारहवें) अध्यायके
दहवें श्लोकमें ‘सतत सतुष्ट’, पद इसी प्रसारकी सतुष्टिका बोध करानेके
स्थे प्रयुक्त हुए हैं ।

स्थिरमति —(और) स्थिर बुद्धिवाला हे ।

भक्तकी बुद्धिमें भगवत्तत्त्वकी सत्ता और सख्तपके स्तर कोई सशय अथवा विपर्यय (विपरीत ज्ञान) नहीं होना । उसकी बुद्धि भगवत्तत्त्वके ज्ञानसे कभी किसी अपस्थामें निवृत्ति होती । इसन्धि उसे 'स्थिरमति' कहा गया हे । मात्र जाननेके लिये उसे कभी मिस्ती प्रमाण या शाख विचार, सार्व आदिकी आपश्यकता नहीं रहती, क्योंकि वह सामाजिक भगवत्तत्त्वमें निमग्न रहता हे ।

स्थिरबुद्धि होनेमें कामनाएँ ही बाधक होती हैं * । कामनाओंके त्यागसे ही स्थिरबुद्धि होना सम्भव हे † । अन दर्श सासारिक (सयोगजन्य) सुखकी कामना रहनेसे सासारमें हो जाती हे । यह आसक्ति सासारको असाय या मिथ्या जान देती है ।

* भोगैर्धर्यप्रसक्ताना तपापहृतचेतसाम् ।

व्यवमायात्मिना बुद्धि समाधी न विधीयते ॥

(गीता २ । ५५)

'सासारिक सुगनका वर्णन करनेवाली वाणीके द्वारा गिनता दिया गया हे, जो भोग और ऐश्वर्यमें अत्यन्त आसक हे, उन पुरुषों परमात्मामें निष्पत्यात्मिना बुद्धि नहीं होती ।'

† प्रनदाति यदा रामासर्वापर्य मनोगतान् ।

भात्मयेवात्मना मुम् स्थितप्रगत्तदोऽस्ते ॥

(गीता २ । ५६)

‘हे अगुन ! जित कालमें वह पुरुष मनमें न्या सम्पूर्ण करनारे भवीभौंगि त्याग देता हे और आमामें आमामें ही सतुष्ट रहता हे ।’

। मिट्ठी नहीं, वैसे ही जैमे सिनेमामें दीउनेवाले दृश्य (प्राणी-दार्यों) को मिथ्या जानते हुए भी उसमे आसक्ति हो जाती है, प्रयत्न जैसे भूतकालकी बातोंको स्मरण करते समय पानसिन् दृष्टिके गमने आनेवाले दृश्यको मिथ्या जानते हुए भी उसमे आसक्ति हो जाती है । अत जबतक अन्त करणमे सासारिक सुखकी कामना है, जबतक ससारको मिथ्या माननेपर भी ससारकी आसक्ति नहीं मिट्ठी । आसक्तिसे भसारकी खतन्त्र सत्ता ढढ होती है । सासारिक सुखकी कामना मिट्ठनेपर आसक्ति खत मिट जाती है । आसक्ति मिट्ठनेपर ससारकी खतन्त्र सत्ताका अभाव हो जाता है और एक भगवत्तत्त्वमें बुद्धि सिर हो जाती है ।

भक्तिमान् नर मे प्रिय —(वह) भक्तिमान् पुरुष मुझे प्रिय हे ।

‘भक्तिमान्’ पदमे ‘भक्ति’ शब्दके साथ निययोगके अर्थमें ‘मनुष्य’ प्रत्यय है । इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्यमें सामानिकरूपसे ‘भक्ति’ (भगवप्रेम) रहती है । मनुष्यसे भूल यही होती है कि वह भगवान्को छोड़कर ससारकी भक्ति करने लगता है । इसलिये उसे सामानिक रहनेवारी भगवद्भक्तिका रम नहीं मिल पाता और उसके जीवनमें नीरसना रहती है । मिद भक्त नित्य-निरन्तर भक्ति-रसमें निमग्न रहता है । अत उसे ‘भक्तिमान्’ कहा गया है । ऐसा भक्तिमान् पुरुष भगवान्को प्रिय होता है ।

‘नर’ पद देनेका तात्पर्य यही है कि भगवान्को प्राप्त करके जिसने अपना मनुष्यजीवन सफल (सार्वक) कर दिया है, वही

वास्तवम् नर (मनुष्य) है। जो मनुष्य-शरीरको पास से भोग और सम्रहमें ही लगा नुआ है, वह नर (मनुष्य) का योग्य नहीं है।

प्रकरण-सम्बन्धी निशेष वात

भगवान्‌ने पहले प्रकरणके अन्तर्गत तेरहें चारहें रुपोंमें से एक मिद्र भक्तोंके लक्षणोंका वर्णन करके अन्तमें ‘यो मद्भक्त’ से मेरिये कहा, दूसरे प्रकरणके अन्तर्गत पद्महने इलोकके अन्तमें ‘य स मे प्रिय’ कहा, तीसरे प्रकरणके अन्तर्गत सोन्हवे श्लोकमें ‘यो मद्भक्त स मे प्रिय’ कहा, चारथे प्रकरणके अन्तर्गत इलोकके अन्तमें ‘यो मद्भक्त भक्तिमान् य स मे प्रिय’ कहा और चौथे प्रकरणके अन्तमें अठारहवें उन्नीसमें श्लोकमें ‘भक्तिमान् मे प्रियो नर कहा। इस प्रकार भगवान्‌ने पाँच पृथक्-पृथक् ‘मे प्रिय’, पद देकर सिद्र भक्तोंके लक्षणोंमें प्रकरणको पाँच भागोंमें विभक्त किया है। इसलिये सत् वनवाय गये सिद्र भक्तोंके लक्षणाको एक ही प्रकरणके अन्तर्गत समझना चाहिये। इसका प्रभान कारण यह है कि यदि यह प्रकरण होता, तो एक लअणको बार-बार न कहनेर एक रुप हो जाता, और ‘मे प्रिय’ पद भी एक ही वार कहे जाते।

पाँचों प्रकरणोंके अन्तर्गत मिद्र भक्तोंके लक्षणोंमें सम्मेद्दी शोभका अभाव बनलाया गया है। जैसे पहले प्रकरण ‘निर्मम पद्मसे गगना ‘जङ्घेष्टा’ पद्मसे द्वेषका ओर ‘ममदुर्बुद्धि’ पद्मे दर्प शोभका अभाव बनलाया गया है। इसे प्र

इर्पमर्पभयोद्देहै' पदसे राग-द्वेष और हर्ष-शोकके अभावका उल्लेख किया गया है। तीसरे प्रकरणमें 'अनपेश' पदसे रागका, 'उदासीन' पदमें द्वेषका और 'गतव्यथ' पदसे हर्ष-शोकके अभावका निरूपण किया गया है। चाथे प्रकरणमें 'न काङ्क्षति' पदोंसे रागका, 'न छेष्टि' पदोंसे द्वेषका और 'न हृष्यति' तथा 'न शोचति' पदोंसे हर्ष-ओकका अभाव बतलाया गया है। अन्तिम पाँचवें प्रकरणमें 'सङ्घविवजित' पदसे रागका, 'सतुष्ट' पदसे एकमात्र भगवान्‌में ही मतुष्ट रहनेके फलखलूप द्वेषका ओर 'शीतोष्णसुखदुखेषु सम' पदोंसे हर्ष-ओकका अभाव निरूपित किया गया है।

यदि सिद्ध भक्तोंके लक्षणोंका निरूपण करनेगाला (सात श्लोकोंका) एक ही प्रकरण होता, तो सिद्ध भक्तमें राग-द्वेष, हर्ष-शोकादि विकारोंके अभावकी बात कहीं शब्दोंसे और कहीं भावसे बार-बार कहनेकी आवश्यकता नहीं होती। इसी प्रकार चोढ़वें और उन्नीसवें श्लोकोंमें 'सतुष्ट', पदका तथा तेरहवें श्लोकमें 'समदुखसुख' और अठारहवें श्लोकमें 'शीतोष्णसुखदुखेषु सम' पदोंका भी सिद्ध भक्तोंके लक्षणोंमें दो बार प्रयोग हुआ है, जिससे (सिद्ध भक्तोंके लक्षणोंका एक ही प्रकरण माननेसे) पुनरुक्तिका दोष आता है। भगवान्‌के दिव्य वचनोंमें पुनरुक्तिका दोष आना सम्भव ही नहीं। अत सातों श्लोकोंके विपर्यको एक प्रकरण न मानकर अन्य अन्य पाँच प्रकरण मानना ही युक्तिसंगत है।

इस प्रकार पाँचों प्रकरण स्वनाम (मिन्न-मिन्न) होनेसे किसा एक प्रकरणके भी सब लक्षण जिसमें पूर्ण हो, वही भगवान्‌का प्रिय

भक्त है। प्रयेक प्रकरणमें सिद्ध भक्तोंके भिन्न-भिन्न लक्षण वर्णन्य कारण यह है कि प्रकृति (स्वभाव), सावन-पद्धति, प्रारब्ध, आश्रम, देश, काल, परिस्थिति आदिके भेदसे सत्र भक्तोंके लक्षणमें भी परस्पर थोड़ा-बहुत भेद रहा जाता है। हाँ, राग-द्वेष, हाँ शोकादि विकारोंना अयनाभाव एव समनामें स्थिति और सबल प्राणियोंके हितमें रनि सवाही समान ही होती है।

सापकर्को अपनी रुचि, विधास, योग्यता, स्वभाव आदिके अनुसार जो प्रकरण अपने अनुकूल दिखायी दे, उसीको आदर्श मानता तदनुसार अपना जीवन बनानेमें लग जाना चाहिये। किसी एक प्रकरण के भी यदि पूरे लक्षण अपनेमें न आयें, तब भी सापकर्को निष्ठा नहीं होना चाहिये। किर सफलता अपश्यम्भावी है ॥ १९-२० ॥

सम्बन्ध—

पूर्ववर्ती सात श्लोकोंमें भगवान्ते सिद्ध भक्तोंके कुल उनात्मेन लक्षण बतलाये। पहले श्लोकमें अर्जुनने जिन साधनोंके लिये प्रश्न किया वा उसाक उत्तरमें भगवान्ते अपनी प्राप्तिके साधन एव सिद्ध भक्तोंके लक्षण कहे। अब प्रेम-पिपासु साधक भक्तोंसे जाना अत्यन्त प्रिय बतलाकर उस प्रसन्नका उपसहार ऊरते हैं।

इत्योऽपि—

ये तु वर्ण्यमृतमिद् यथोक्तं पर्युपासते ।

थदधाना मपरमा भक्तास्नेऽतीत मे प्रिया ॥ २० ॥

भागार्थ—

श्रीभगवान् यहते हैं कि मुग्रमें अयत श्रद्धा रखनेगले कौर में परमात्मियोंका भक्ति-प्रयोग अपने लक्षणमें दर्शाया जाता है।

मूर्तमय उपदेशको (जो भगवान्‌ने तेरहवेंसे उन्नीसमें श्लोकतक हा है) उपने जीवनमें उत्तारनेमी चेष्टा करते हैं, वे मुझे अत्यन्त प्रय हैं, क्योंकि मेरा साक्षात् अनुभव हुए बिना भी वे मुझपर प्रत्यक्षकी गति पूर्ण श्रद्धा-विश्वास करके मेरे परायण होकर मेरी प्राप्तिके लिये साधन करते हैं । यद्यपि साधक होनेके कारण उनकी दृष्टिमें सासारिक न, मान, बड़ाई आदिका कुछ महत्त्व रह सकता है, तथापि वे नसारको महत्त्व न देकर मेरी साङ्घोपाङ्घ उपासनाको ही महत्त्व देते हैं ।

अन्वय—

तु, ये, श्रद्धाना, मत्परमा, यथा, उक्तम्, इदम्, धर्म्यमूर्तम्,
यर्युपासते, ते, भक्ता, मे, अतीच, प्रिया ॥ २० ॥

पद-व्याख्या—

तु—और ।

'तु' पदका प्रयोग प्रकरणको अठेग करनेके लिये किया जाता है । यहाँ सिद्ध भक्तोके प्रकरणसे साधक भक्तोके प्रकरणको अलग करनेके लिये 'तु' पदका प्रयोग हुआ है । इस पदसे ऐसा प्रतीत होता है कि सिद्ध भक्तोकी अपेक्षा साधक भक्त भगवान्‌को प्रिय है ।

ये—जो ।

इस पदसे भगवान्‌ने उन साधक भक्तोका निर्देश किया है, जिनके विषयमें अर्जुनने पहले श्लोकमें प्रश्न करते हुए 'ये' पदका प्रयोग किया था । उसी प्रश्नके उत्तरमें भगवान्‌ने दूसरे श्लोकमें संगुणकी उपासना करनेवाले साधकोको अपने मनमें ('ये' और 'ते'

पदोसे) 'युक्तनमा' बतलाया था । फिर उसी संग्रामशब्द साधन न तलाये । तत्पश्चात् मिद्र भक्तोंके लक्षण बनागर अब के प्रसङ्गका उपसहारे करते हैं ।

यहाँ 'ये' पद उन परम श्रद्धालु भगवत्परायण मामरोन्ति आया हैं, जो मिद्र भक्तोंके लक्षणोंमें आदर्श मानस लगाते हैं ।

थ्रद्धाना — श्रद्धायुक्त ।

भगवत्यामि हो जानेके कारण मिद्र भक्तोंके लक्षणोंमें श्रद्धाना वात नहीं आयी, क्योंकि जबतक नित्यप्राप्त भगवान्‌का अनुभव नहोता, तभीनक श्रद्धाकी आवश्यकता है । अन इस पदसे श्रद्धा साधक भक्तोंका ही याचक मानना चाहिये । ऐसे गदाड़ भगवान्‌के पूर्णपणित गर्ममय अमृतगत्य उपदेशमें भासते हैं उद्देश्यसे अपनेमें उतारनेकी चेष्टा किया करते हैं ।

यद्यपि भक्तिरें साधनमें श्रद्धा और ग्रेमका तथा ज्ञानका सुधारितिवेक्षणा महत्त्व होता है, तथापि इसमें यह नहीं समझना चाहिए। भक्तिरें साधनमें श्रद्धेका और ज्ञानके साधनमें श्रद्धाका सुधार नहीं है । उस्तुत श्रद्धा एव श्रिवेककी मर्मी माननोंमें रहत जाती है । प्रियेक होनेसे भक्ति-साधनमें तीव्रता आनी है । उसी प्रसार तथा परमामनत्यम श्रद्धा होनेने ही गान्धस्थिनका पाठ हो रहा है । अनेक भक्ति और ज्ञान तोने ही माननोंमें श्रद्धा ही श्रद्धापर है ।

मारमा — (और) मेरे परायण हृष (सामक भूमि)

मापरु भक्तोका सिद्ध भक्तोमें अन्यन्त पूज्यभाव होता है। की सिद्ध भक्तोके गुणोमें श्रेष्ठ बुद्धि होनी है। अत वे उन गुणोको इश्वर मानकर आदरपूर्वक उनका अनुकरण करनेके लिये भगवान्‌के यण होते हैं। इस प्रकार भगवान्‌का चिन्तन होने और भगवान्‌पर निर्भा रहनेसे वे सब गुण उनमें खत आ जाते हैं।

भगवान्‌ने ग्यारहवें अध्यायके पचपन्नैं श्लोकमें ‘मपरम’ पदसे । इसी (वारहरें) अव्यायके ठठे श्लोकमें ‘मपरा’ पदसे अपने यण होनेमी जात पिण्डपरसपसे कहकर अन्तमें पुन उसी वातको श्लोकमें ‘मत्परमा’ पदमे कहा है। इससे सिद्ध होता है कि लयोगमें भगवत्परायणता मुर्य है। भगवत्परायण होनेपर भगवत्कृपासे नि-आप साधन होता है और असाधन (साधनके लिन्हो) का ना होता है।

यथा उक्तम् इदम् धर्म्यामृतम्—पहले कहे दुए इस वर्ममय त्रिका ।

सिद्ध भक्तोके उन्तालीस लक्षणोके पाँचो प्रकरण वर्ममय अर्थात् से ओतप्रोत हैं। उनमें फिक्कित भी अर्पमका अश नहा है। स मापनमें साधन-पिरोधी अश सर्वथा नहीं होता, वह साधन श्रुततुल्य होता है। पहले कहे दुए लक्षण-समुदायके वर्ममय होने॥ उसमें साधन-पिरोधी कोई वात न होनेसे ही उमे ‘वर्म्यामृत’ ग दी गयी है।

साधनमें साधन-पिरोधी कोई वात न होते दुए भी जेसा पहले द्य गया है, ठाक नेसा-का-वैसा वर्ममय अमृतका मेघन तभी भय है, जब साधकका उद्देश्य आंगिकन्दपसे भी वन, मान, पडार्ट,

आदर, सत्कार, सम्राह, सुखभोग आदि न होकर एकमात्र अन्त ही हो ।

प्रत्येक प्रकरणके सब लक्षण धर्मामृत हैं । पौर्णे प्रजाः लक्षण-समुदायका सेवन करना भी उच्चम है, परतु साधक प्रकरणके लक्षणोंको आदर्श मानकर साधन करता है, उसी वही धर्मामृत है ।

धर्मामृतके जो 'अद्वेष्टा सर्वभूताना मैत्र आदि व बतलाये गये हैं, वे आशिकरूपसे साधकमात्रमें रहते हैं और साथ-साथ कुछ दुर्गुण-दुरुचार भी रहते हैं । प्रत्येक प्राणिने ओर अग्रगुण दोनों ही रहते हैं, किंव भी अग्रगुणोंका तो सत्याग हो सकता है, पर गुणोंका सर्वगत त्याग नहीं हो सकता कारण कि साधन और स्वभावके अनुसार सिद्ध पुरपर्णे तारतम्यता तो रहती है, परतु उनम् गुणोंकी कर्मात्मा जटिलिक्षित भी नहीं रहता । गुणोंमें न्यूनाधिकता रहनेसे उनका पूर्ण विभाग किय गये हैं, परतु अग्रगुण मर्यादा त्याज्य है, अत उनका विभाग हो ही नहीं सकता ।

साधक सत्सङ्घ तो करता है, पर साधी-साथ उन्हें देता है । वह सबम तो करता है, पर साधी-साथ उन्हें भी हीना रहता है । उन् साधन तो करता है, पर साधी-साथ असाधन भी हीता रहता है । जननक नाथके साथ उन्हें अथवा गुणोंमें साथ अग्रगुण रहते हैं, नमनक साधदलीं साधना पूर्ण विभाग

पाये जाते हैं, जो साधक नहीं है । इसके अतिरिक्त जबतक नके साथ असाधन अथवा गुणोंके साथ अपर्युण रहते हैं तक साधकमें अपने साधन अथवा गुणोंका अभिमान रहता है, आसुरी सम्पत्तिका आधार है । इसीलिये वर्ष्यामृतका यथोक्त पथा उत्तम) सेवन करनेके लिये कहा गया है । तात्पर्य यह कि इसका ठीक वैसा ही पाठ्न होना चाहिये, जैसा र्गन किया गा है, यदि वर्ष्यामृतके सेवनमें दोप (असाधन) भी साम रहेंगे, तत्की प्राप्ति नहीं होगी । अत इस प्रियमें साधकको प्रियोपापवान रहना चाहिये । यदि साधनमें किसी कारणवश आगिक-प्रसे कोई दोषमय वृत्ति उत्पन्न हो जाय, तो उसकी अपहेलना न रके तत्परतासे उसे हटानेकी चेष्टा करनी चाहिये । चेष्टा करनेपर भी न हटे, तो व्याकुलतापूर्वक प्रभुमे प्रार्थना करनी चाहिये ।

जितने सद्गुण, सदाचार, सद्गम आदि हैं, वे सब-के-भगव 'सत्' (परमात्मा) के सम्बन्धसे ही होते हैं । इसी प्रकार दुर्गुण, दुराचार, दुर्भाग्य आदि सब 'असत्'के सम्बन्धसे ही होते हैं । दूराचारी-सेदुराचारी पुरुषमें भी सद्गुण-सदाचारका सर्वथा अभाव नहीं होता, क्योंकि 'सत्' (परमात्मा)का अज होनेके कारण जीवमात्रका 'सत्'से नित्यसिद्ध सम्बन्ध है । परमामासे सम्बन्ध रहनेके कारण किमी-न-किमी अजमें उसमें सद्गुण-सदाचार रहेंगे ही । परमात्माकी प्राप्ति होनेपर असत्से सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है और दुर्गुण, दुराचार, दुर्भाग्य आदि सर्वथा नष्ट हो जाते हैं ।

सद्गुण-सदाचार-न्दूभाव भगवान्‌की सम्पत्ति है । इसलिये सामक जितना ही भगवन्‌के सम्मुख अथवा भगवत्परायण होता

जायगा, उतन ही अशमें उसमे खत सदृण-सदाचार-सद्गुरु होते जायेंगे एवं दुर्गुण-दुराचार-दुर्भाव नष्ट होते जायेंगे ।

राग-द्वेष, हर्ष-ओक, काम-क्रोध आदि अत रणके लिए हैं, वर्म नहीं* । वर्मके साथ वर्मका नित्य-सम्बन्ध रहता है । इसूर्यरूप धर्मके साथ उप्पतारूप वर्मका निय सम्बन्ध रहता है । कभी मिठ नहीं सकता । अत धर्मके बिना धर्म तगा धर्मके धर्म नहीं रह सकता । काम-क्रोधादि विकार मात्राण मनुष्यमें हर समय नहीं रहते, सामन करनेवालेमें कम होते रहते हैं । मिठ पुरुषमें तो सर्व नहीं नहीं रहते । यदि ये विकार अन का धर्म होते, तो हर समय एकत्रूपसे रहते और अन मरण (धर्म के रहते हए कभी नष्ट नहीं होते । अत ये अन रणक नहीं, अपितु आगन्तुक (आने-जानेवाले) विकार हैं । माझक जैसे अपने एकमात्र लक्ष्य भगवान्‌की ओर बढ़ता है, वैष्णवी राग-द्वेषादि विकार मिठते जाते हैं एवं अपने लक्ष्य भगवान्‌से होनेपर उन विकारोंका अयन्तामात्र हो जाता है ।

गीताम स्थान-स्थानपर भगवान्‌ने 'तथोर्न यशमागच्छ' (३ । ३७), 'गगडेष्वियुक्तं' (२ । ६४), 'रागदेवं व्युदस्य' (१८ । ५१) आदि पदोंम सामर्गोनो इन राग-द्वेषों

* नेहर्वे अनायपे उठ ल्लोरमें इच्छा द्वेष, परनि रणदा^१ को देशा रिकार ही गतनाया गया है—

इच्छा द्वेष सुप दुर्ग गवातदंदा भूति ।
पत्तेव रुमगेत गरिपारमुदाटतम् ॥

(गीता १८ । ५१)

— विकारोका सर्वथा त्याग करनेके लिये आठवं दिया हे । यदि ये — (राग-द्वेषादि) अन्त करणके वर्म होते, तो अन्त करणके रहते हुए उनका त्याग अमभय होता और अमभयको सम्भव बनानेके लिये भगवान् आदेश भी केसे दे सकते थे ।

गीतामें मिद्र महापुरुषोको राग-द्वेषादि विकारोसे सर्वथा मुक्त बनलाया गया हे । जसे, इसी अव्यायके तेहने इत्रोक्तसे उन्नीसमें श्लोकतक जगह-जगह भगवान्ने मिद्र भक्तोको राग-द्वेषादि विकारोसे सर्वथा मुक्त बनलाया हे । इसलिये भी ये विकार ही मिद्र होते हैं, अन्त करणके धर्म नहीं । अमदसे सर्वथा विमुख होनेसे उन सिद्ध महापुरुषोमें ये विकार लेगमात्र भी नहुँ रहते । यदि अन्त करणमें ये विकार बने रहते, तो फिर वे मुक्त किससे होते ?

जिसमें ये विकार लेगमात्र भी नहीं हे, ऐसे मिद्र महापुरुषके अन्त करणके लक्षणोंको आदर्श मानकर भगवान्नामिके लिये उनका अनुकाण करनेके लिये भगवान्ने उन लक्षणोंको यहों ‘पर्मामृतम्’ के नामसे सम्मोहित किया हे* ।

* द्वन्द्र अव्यायके द्वौक्तीसमें द्वोक्तमें ‘वर्मात्’ पद और तें राममें द्व्लोकम ‘वर्म्यम्’ पद धममय युद्धके लिये प्रयुक्त हुए । नवें अव्यायके द्वृसरे द्व्लोकम ‘धर्म्यम्’से विनानसन्ति जानका ‘धर्ममय’ बतलाया गया हे । अठारट्टरें अव्यायके सतरमें द्व्लोकमें ‘वर्म्यम्’ पदसे भगवान् और अनुन के समादरूप गातामाक्को ‘वर्ममय’ कहा गया हे ।

नवें अव्यायके जीववर्गोक्तमें ‘प्रमृतम्’ पदसे भगवान्नन अमृतको अपनी विभूति बतलाया हे । दसमें अव्यायके जठारट्टरें द्वोक्तमें ‘अमृतम्’ पदसे अनुनने भगवान्से चचनाओं अमृततुल्य बतलाया हे । तेरठवें अव्यायके गारमें द्व्लोकम और चौदहवें अव्यायके जीववर्गें द्व्लोकमें ‘अमृतम्’ पद अमर्ताका गाचक हे । चौदहवें अव्यायके ही मत्ताइनमें द्वोक्तमें ‘प्रमृतस्य’ पद भगवत्स्वरूपका गाचक हे ।

पर्युपासते—भलीभाँति सेवन करते हैं ।

माधव भक्तोंकी दृष्टिमें भगवान्‌के प्रिय सिद्ध भक्त श्रद्धास्पद होते हैं । भगवान्‌के प्रति स्वामानिक आर्थण (जिसे होनेके कारण उनमें दैवी सम्पत्ति अर्थात् सदृण (भावान्‌के होने स्वाभाविक ही आ जाते हैं । फिर भी सामर्कोंका जन्म महापुस्तकोंके गुणोंके प्रति स्वाभाविक आदरभाव होता है, और वे गुणोंको अपनेमें उतारनेकी चेष्टा करते हैं । यही सामक भक्त उन गुणोंका भलीभाँति सेवन करना, उन्हें अपनाना है ।

इसी अध्यायके नेहवेमें उन्नीसमें स्लॉफ्टरु, सात श्लोकों 'धर्म्यामृत'का जिस रूपमें पर्णन किया गया है, उसका योक उमीलो श्रद्धापूर्वक भलीभाँति सेवन करनेके अर्थमें यहाँ 'पर्युपासते' प्रश्युक हुआ है । भलीभाँति 'सेवन'का तार्पण यही है कि सामर्कोंकी शिक्षिमात्र भी अवगुण नहीं रहने चाहिये । जैसे सामर्कोंसे प्रागियोंके प्रति करुणाका भाव पूर्णरूपसे भले ही न हो, तिसमें किनी प्रागीके प्रति अकरुणा (निर्दयता) का भाव बिन्दु भी नहीं रहना चाहिये । मायकोम ये लक्षण सह्योगज्ञ नहीं होना इसीनिये उनसे इनका सेवन करनेके लिये कष्ट गया है । सामर्कोंका लक्षण होनेपर वे सिद्धकी कोटिमें आ जायेंगे ।

म. ग.में भगवान्यासिकी तीव्र उक्खण्ठा और व्याकुलना 'होने उमके जरुण अपने-आप नहीं हो जाते हैं, क्योंकि उक्खण्ठा व्याकुलना ज्वगुणोंमें खा जाती है तथा उसके द्वारा सामर्कों अन-आप होने लगता है । इस कारण उन्हें भगवान्यासि शामलीरुपालासे हो जाती है ।

॥१॥ ते—ते ।

॥२॥ भक्ता—भक्त ।

॥३॥ भक्तिमार्गपरं चलनेवाले प्रेम-पिपासु एव भगवदाश्रित सावकोके
लये यहो 'भक्ता' पद प्रयुक्त हुआ हे ।

॥४॥ भगवान् ने ग्यारहमें अध्यायके निरपनमें श्लोकमें वेदाध्ययन,
तप, दान, यज्ञ आदिसे अपने दर्शनकी दुर्लभता बतलाकर चौपनमें
श्लोकमें अनायमत्ति से अपने दर्शनकी सुलभताका वर्णन किया । फिर
पचपनमें श्लोकमें अपने भक्तके लक्षणोंके रूपमें अनन्य भक्तिके
खल्पका वर्णन किया । इसपर अर्जुनने इसी (वारहमें) अध्यायके
पहले श्लोकमें यह प्रश्न किया कि सगुण-साकारके उपासको और
निर्गुण-निराकारके उपासकोमें श्रेष्ठ कौन है ? भगवान् ने दूसरे श्लोकमें
उक्त प्रश्नके उत्तरमें (सगुण-साकारकी उपासना करनेवाले) उन
साधकोंको श्रेष्ठ बतलाया, जो भगवान् में मन लगाकर अत्यन्त श्रद्धा-
पूर्वक उनकी उपासना करते हैं । यहाँ उपस्थारमें 'भक्ता' पदसे उन्हीं
साधकोंका निर्देश किया गया है ।

मे अतीव प्रिया —मुझे अत्यन्त प्रिय हैं ।

पूर्ववर्णित साधकोंको यहाँ भगवान् अपना अत्यन्त प्रिय
बतलाये हैं ।

सिद्ध भक्तोंको 'प्रिय' और साधकोंको 'अत्यन्त प्रिय' बतलानेके
कारण इस प्रकार है—

(१) सिद्ध भक्तोंको तो तत्त्वका अनुभव अर्थात् भगवान्नासि
हो चुकी है, मिन्तु साधक भक्त भगवत्त्रासि न होनेपर भी श्रद्धापूर्वक

भगवान्‌के परायण होते हैं। इसलिये वे भक्तनन्दिनि भगवान्‌
अत्यन्त प्रिय होते हैं।

(२) सिद्ध भक्त भगवान्‌के बड़े पुत्रके समान हैं—

‘मोरे प्रौढ़ तनय सम ज्ञानी ॥’

परन्तु मात्रक भक्त भगवान्‌के छोटे, असेह समान हैं—

‘यात्रक सुत सम दास भजानी ॥’

(मानस ३। ४३। ५)

‘ठोटा बालक स्वत ही सनको प्रिय’ लाता है। इसे
भक्तपत्सु भगवान्‌को भी सामरक भक्त अनिग्रह प्रिय हैं।

(३) सिद्ध भक्तको तो भगवान्‌ अपने प्रायशः शर्ण दर्शन
अपनेको क्रणमुक्त मान लेते हैं, पर साथक भक्त तो (प्रायश दर्शन
न होनेपर भी) सग्ल विश्वासपूर्वक एकमात्र भगवान्‌के आदित होइ
उनकी भक्ति करते हैं। अन उन्हें अभीनक जपने प्रायश दर्शन
देनेके कारण भक्तभक्तिमान्‌ भगवान्‌ अपनेको उनका छणी इन्हें
हैं, और इर्मान्दिये उन्हें अपना अयन्त्र प्रिय कहते हैं ॥ २० ॥

ॐ तत्सवितुर्वरेण्यं गौणदारस्ये श्रीहृष्णार्जुनमवादे भक्तियोगो
गाम द्वादशोऽस्याय ॥ १२ ॥

इस प्रकार अंत ता, मन्—इन भगवान्तोंपे उपासान्
भक्तियोग वौं योगान्तर्मर धीमद्वगरहारापनिरक्षण धीरुदामान्तर्मरने
‘भक्तियोग’ नामा नादर्शी अयाय था दुना ॥ २० ॥-



‘ॐ, तत्, सत्’—ये तीनों भगवान्‌के परिव्र नाम हैं*। स्थय
भगवान्‌के द्वारा गायी जानेके कारण इसका नाम ‘श्रीमद्भगवद्गीता’
यद्यपि सस्कृत व्याकरणके नियमानुसार इसका नाम ‘गीतम्’
ना चाहिये था, तथापि उपनिषद् होनेसे खीलिङ्ग शब्द ‘गीता’ का
पोग किया गया ह। इसमें सम्पूर्ण उपनिषदोंका सार-तत्त्व समृद्धीत
त्रै और यह स्थय भी भगवद्वाणी होनेसे उपनिषद् है, इसीलिये इसे
उपनिषद् कहा गया है। निर्गुण-निराकार परमात्माके परमतत्त्वका
साक्षात्कार करनेवाली होनेके कारण इसका नाम ‘ब्रह्मविद्या’ है, और
जैसे ‘योग’ नामसे कहा गया है, उस कर्मयोग अर्थात् निष्काम-
भावपूर्ण कर्मके तत्त्वका इसमें उपदेश होनेके कारण यह ‘योगशास्त्र’
है। यह साक्षात् पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण और भक्तप्रभर अर्जुनका
समान है। इस (वारहवें) अध्यायमें अनेक प्रकारके साधनोंसहित
भगवद्गीताका यर्णन करके भक्तोंके लक्षण बनलाय गये हैं, और इस
अध्यायमा उपक्रम तथा उपस्थित भी भगवद्गीतमें ही हुआ है।

* ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मण्डित्विद्य स्मृत ।

(गीता १७ । २३ का पृवाद)

‘ॐ, तत्, सत्’—ऐसे यह तीर्त्ता प्रकारका सच्चिदानन्दनन्दन प्रह्लादका नाम
कहा गया है।

† सवापनिषदो गायो दोधा गोपालनदन ।

पाथो घत्स मुधीभात्ता दुध गीतामृत महत् ॥

(वैष्णवीवितनन्मार)

‘सम्पूर्ण उपनिषदे गायें हैं, गोपालनन्दन श्रीकृष्ण उन्हें दृढ़नेवाले
हैं, अर्जुन वच्छडा हैं, गीतारूप अमृत ही दृध है और श्रेष्ठ बुद्धिवारे पुरुष
ही उसका पान करनेवाले हैं ।

केवल तीसरे, चौथे और पाँचवें—तीन स्लोकोंमें ज्ञानके संख्या वर्णन है, पर वह भी भक्ति और ज्ञानकी परस्पर हुलना कर्ते भक्तिको श्रेष्ठ बतानेके लिये ही है। इसीलिये इस उच्चार 'भक्तियोग' नाम दिया गया है।

वारहवें अध्यायके पद, अक्षर एवं उत्तर

(१) इस अध्यायमें स्लोकोंके २४४ पद, पुष्पिकाक १३८ उत्तरके ४ पद और 'अथ द्वादशोऽध्याय' के ३ पद हैं। इस प्रकृति पदोंका पूर्णयोग २६४ है।

(२) इस अध्यायके स्लोकोंमें ६४० अक्षर, पुष्पिक ४५ अक्षर, उत्तरमें १३ अक्षर एवं 'अथ द्वादशोऽध्याय' में अक्षर हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण अक्षरोका योग ७०५ है। इस वर्णनमें सभी श्लोक ३२ अक्षरोंके हैं।

(३) इस अध्यायमें दो उत्तर हैं—(क) 'अर्द्धन उत्तर' और (ख) 'थीभगवानुवाच'।

वारहवें अध्यायमें प्रयुक्त छन्द

वाहवें अध्यायके वीम स्लोकोंमेंसे—जनें श्लोकरुद्धीर्ण चरणमें 'भगव' होनेसे 'भविषुल्ल' और उन्नीसमें स्लोकके दूर्वीरुद्धीर्ण चरणमें 'नगण' होनेसे 'नविषुल्ल' है। जब ये दो 'व्यक्तिरुद्धीर्ण विषुल्ल' सनातानि स्लोक हैं। वीमवें स्लोकके प्रथम चारनें 'द्वा' और दूर्वीरुद्धीर्ण चरणमें 'भगण' प्रयुक्त हुआ है। इसलिये यह एक श्लोक 'सुर्वीर्ण विषुल्ल' महक उन्द्रका है। और नवारुद्धीर्ण वीम 'उप्पादल्ल' विषुल्लप दूर्वीरुद्धीर्ण से सुन्दर है।

अथ पञ्चदण्डोऽध्यायः

सम्बन्ध—

श्रीमद्भगवद्गीताके वारहबें अध्यायके पहले श्लोकमें अर्जुनके इन—‘सगुण और निर्गुण-उपासकोंमें कौन श्रेष्ठ है ?’—के उत्तरमें भगवान् ने सगुण-उपासकोंको अति उत्तम योगी बतलाया । पुन ऐसे और सातबें श्लोकोंमें ‘अनन्य भक्तियोगसे मेरी (सगुणकी)

पासना करनेवालोंका मैं शीघ्र ही ससार-समुद्रसे उद्धार करता हूँ—ऐसा कहकर भगवान् ने अन्य सभी योगियोंसे भक्तियोगीकी विषयताको सिद्ध किया । पॉचबें श्लोकमें सगुण और निर्गुण-उपासनाकी गुलना करते हुए भगवान् ने कहा कि देहाभिमानियोंके लिये अव्यक्त ग्रथात् निर्गुण-तत्त्वकी उपासना कठिन है । यह देहाभिमान-रूपी द्वाधा दूर कैसे हो—इस विषयका तथा निर्गुण-तत्त्वका विवेचन भगवान् ने तेरहबें और चौदहबें अध्यायोंमें किया ।

चौदहबें अध्यायके इक्षीसबें श्लोकमें अर्जुनने गुणातीत पुरुषोंके लक्षणों और आचरणोंके साथ-ही-साथ गुणातीत होनेका उपाय पूछा । इसके उत्तरमें भगवान् ने वाईसबेंसे पच्चीसबें श्लोक-नं॑तक गुणातीत पुरुषके लक्षणों और आचरणोंका वर्णन करके छव्वीसबें श्लोकमें सगुण-उपासकोंके लिये ‘जब्यभिचारो भक्तियोग’को गुणातीत होनेका उपाय बतलाया [सत्ताईसबें श्लोकमें सगुण-साकाररूप भगवान् श्रीकृष्णने अपनेको अपिनाशी परब्रह्म, अमृत, नित्यधर्म और असण्ड एकरस आनन्दका आश्रय बतलाया, जिसका आश्रय

ऐसा प्रतीत होता है कि सगुण और निर्गुणनात्ममें^{४५} होनेपर भी सगुण-तत्त्वकी अपनी कुछ अविक्षिप्तियाँ हैं। जिस अनन्य भक्तिका भगवान् अवतर वेष्ट चतुरान् बंहै, उसी अनन्य भक्तिको (भज्ञके लिये) गुणातीत होना सुगम उपाय चतुराया। तात्पर्य यह है कि भगवान्^{४६} भक्त (भगवान्-पर ही आश्रित और भगवान्-से ही अपना नान्मारण) सुगमतापूर्वक गुणातीत भी हो जाता है।

इस (छन्नीसवें) श्लोकमें भगवान्-ने ‘अव्यभिचारण भर्ति’^{४७} पदोंसे व्यग्निचारणरोप (ससारके आथय) से रहित भक्तियाँ^{४८} ‘य’ पदसे जीवका और ‘माम्’ पदसे जपना (परमात्मासा)^{४९} सूक्ष्मरूपसे वर्णिया गया। इसलिये इही तीर्त्तों विषयोरा अर्थात् ससार, जीव और परमात्मासा विस्तृत विवेचन भगवा^{५०} (पढ़हवें) अयायमें करते हैं।

जोव म्वरूपन (परमात्माका अश होनसे) गुणातीत होने^{५१} पर भी जनादि जन्मानन्द कारण गुणोंके प्रभावमें प्रभावित होने^{५२} गुणकि रार्थमूल शरीर (समार)में तादात्मन्, ममता और चूपन,^{५३} कर्मके जायद हुआ है। चूपनक रह गुणों^{५४} (विभक्षण) तत्त्व परमात्माके प्रभावमें नहीं जानना नदा^{५५} प्रटिज्ञा^{५६} गुणानु प्रभावमें सर्वथा मुक्त नहीं हा महा। इसलिये^{५७} भगवार् (अपारी प्रातिक प्रिय नाधन ‘अव्यभिचारणा ननि’^{५८} प्राप्त भगा हेतु) जपना अत्यत गोपनीय और रितेप्रदोष चतुरान्में दिय इन (पढ़दवें) अन्याया प्राप्त भग्न हैं।

सम्पूर्ण गीतामें केवल इस (पद्धत्वे) अव्यायको ही 'गुह्यतम स्व'की उपाधि मिली है (गीता १५ । २०) इसमें मनुष्य-से अन्तरित भगवान्‌के द्वारा अपने-आपको पुरुषोत्तमरूपसे स्ट नहनेके कारण इसे 'गुह्यतम' तथा अन्य शास्त्रकी भौति सार, जीवात्मा और परमात्मा—इन तीनोंका वर्णन होनेके लिए इसे 'शास्त्र रुहा गया है ।

इस अव्यायमें बीस श्लोक हैं । इसमें पॉच-पॉच श्लोकोंके और प्रकरण (विभाग) है । प्रथम पॉच श्लोकमें ससार' का वर्णन ह, उसमें भी पहले ढाई श्लोकोंमें ससार-बृक्षका वर्णन है और आगे ढाई श्लोकोंमें उसका छेदन करके भगवान्‌के शरण होनेका वर्णन है । सातवेंसे च्याहरवें श्लोकनक 'जीवात्मा' का वर्णन है । ऐ श्लोकमें तथा चारहवेंसे पद्धत्वे श्लोकोंमें 'परमात्मा'के प्रभावका वर्णन है । पुन सोलहवेंसे बीसवें श्लोकतक क्षर, अक्षर एवं पुरुषोत्तम-रूपसे क्रमशः ससार, जीव एवं परमात्माका वर्णन करके संग्रह उपसहार किया गया है ।

जीव परमात्माका जश है (गोना १५ । ७) । अत सका एकमात्र सम्बन्ध अपने अशी परमात्मासे ही है, किन्तु भूलसे गह अपना सम्बन्ध प्रकृतिके कार्य शरीर, इन्द्रियों, मन, बुद्धि आदि-रो मान लेता है, जिनमें उसका सम्बन्ध वास्तवमें कभी था नहीं, है नहीं, होगा नहीं और हो सकता ही नहीं । परमात्मासे अपने वास्तविक सम्बन्धको भुलाकर जारोरादि निजातीय पदार्थोंको 'मैं' मानना तथा उन्हें अपना व अपने लिये मानना ही व्यभिचार-दोष

है। यह व्यभिचार-दोष ही उन्नय भक्तियोगमें प्रधान कारण है। इस प्रधान धाधारों से दूर करनेके लिये इस (पठन्ते) पहले पाँच श्लोकोंके प्रकरणमें भगवान् सत्तार-वृक्षमें एवं उसका छेदन करनेकी आशा देते हैं।

तेरहवें अध्यायके प्रारम्भिक दो श्लोकोंसी भौति हाँ याँ, पद्महवें अध्यायके पहले उड़ोकमें भी भगवान्गे अथानहैं विषयोक्ता दिदर्शन कराया है और ‘जर्जर्मूलम् पदसे परम्’ ‘अध शासम्’ पदसे चौव एव ‘अद्वत्थम् पदसे सेनात्थः सकेन करके (सप्तारस्य अद्वत्थवृक्षके मूल) सर्वशक्तिमान् परमान् यथार्थस्यसे जाननेयालेक्ते वेदविन्’ रहा है।

इतोऽन्—

श्रीभगवानुवाच

ऊर्जर्मूलमधशाखमधत्थ प्रादुरव्ययम् ।
छन्दासि यस्य पर्णानि यस्त चेद स वेदवित् ॥ १ ॥

भावार्थ—

जो सभी दृष्टियोंसे सर्वोपरि हैं, वे परमात्मा ममार्थान् हैं। ‘ऊर्जर्मूल’ हैं। उन परमात्मासे ही प्रकट होनेगाले ब्रह्मा उत्तर शुद्ध शासा (तना) हैं। ब्रह्मामे प्रकट होनेगाले देवा एवं जादि अनेक स्यात्म-जगम योनियों ममार-मृत्युकी अरन्तर हैं।

• ऊर्जर्मूलोऽग्राहात्म उत्तोऽन्नाय ताता ।

तरेय एव तद् वज्र तपेष्यमृतनम्पत्ते ॥

सरिन्द्रियोद्धा भिता चर्णं बदु नात्पति क्षमा । एतदेष्य ॥

—। एकी शाखाएँ हैं । ये सम्पूर्ण शाखाएँ नीचेजीके ओर फैली हुई हैं ।
 —॥८॥ दिनतक भी स्थिर न रहनेके कारण अर्थात् क्षणभद्रुर होनेसे
 —॥९॥ सारवृक्षको 'अश्वत्य' कहते हैं । उस वृक्षके आदि-अन्तका पता
 । होनेसे तथा प्रवाहरूपसे नित्य रहनेके कारण उसे 'अन्यय'
 हते तो हैं, परन्तु वास्तवमें वह अन्यय (नित्य) है नहीं, क्योंकि
 उसका निरक्तर परिवर्तन प्रत्यक्ष देखनेम आता है । वेदोमें आये हुए
 उकाम अनुष्ठानोका वर्णन उस सारवृक्षके पते कहे गये हैं । ऐसे
 उस अश्वत्य-वृक्ष-रूप सारको यथार्थरूपसे जो झोट जानता है,
 ही वास्तवमें देदके यथार्थ तत्त्वमो जाननवाला है ।

अन्यय—

अर्धमूलम्, अध शाखम्, अश्वत्यम्, अन्ययम्, प्राहु, छन्दासि,
 वस्य, पर्णानि, तम्, य, वेद, स, वेदवित् ॥ १ ॥

पद-यारया—

उर्ध्वमूलम्—ऊपरकी ओर मूल (जड) वाला (अर्थात्
 सबसे श्रेष्ठ) । वृक्षमें मूल ही प्रधान होता है । ऐसे ही सार-

साररूपी वृक्ष यहाँ सारर्म पैदा हुए वृक्षोंसे सपथा भिन्न हैं । यहाँ वृक्षोंकी जड़ें जमीनपे निचले भागमें, उसपे ऊपर तना एवं
 उसपे ऊपरी भागमें टहनियाँ, पत्ते, पूल, फल आदि होते हैं, किन्तु
 साररूप वृक्षमें सबसे ऊपरी भागमें परमात्मारूपी जड़, उनसे नीचे
 बदारूपी मोटा तना एवं उससे और नीचे देवता, मनुष्य वादि अनेक
 स्थावर जगम यानियाँरूप छोटी-छोटी टहनियाँ हैं । अतएव साररूप
 वृक्षको तत्त्वसे जाननेये लिये जो सबसे ऊपर जड़रूपसे परमात्मा हैं,
 उन्हें जानना है ।

वृक्षमें परमात्मा ही प्रधान हैं। उनसे ब्रह्माजी प्रकार हैं जिनका वर्णन 'अध शाखम्' पदसे हुआ है।

सबके मूल प्रकाशक और आवश्य परमात्मा ही है। काठ, भाव, सिद्धान्त, गुण, रूप, पित्ता आदि सर्वे परमात्मा ही सबसे श्रेष्ठ हैं। उनसे ऊपर अपना श्रेष्ठतम् क्या है, उनके समान भी दूसरा कोई नहीं है। महा मूल सर्वोभरि परमात्मा है। जैसे 'मूल' वृक्षजा आपना ही वैसे ही 'परमात्मा' मन्मूर्ण जगत्के आधार हैं। इसीसे वृक्षमो 'ऊर्ध्वमूलम्' कहा गया है।

'मूल' शब्द मारगना वाचन है। 'स समाधृतायी है' और इनका विनार परामासे ही हुआ है, वे परमात्मा निय, इन और सबके आधार हैं एव सगुणमूलसे नमसे ऊपर विद्युत निगास करते हैं, इसलिये वे 'उर्ध्व' नामसे रहे, जाते हैं। ससारवृक्ष उन्हीं मायापति सर्वशक्तिमान् परमात्मासे उपर है। इसलिये इसको ऊपरकी ओर मूलगाय (ऊर्ध्वमूल) कहते हैं।

वृक्षके मूलमें ही नने, आत्माँ, क्योंपले निरुत्ती नैं। प्रकार परमात्माने ही मन्मूर्ण जगत उत्पन्न होता है, उठीसे गिर-

* 'न लत्यनाऽग्नाम्यथितु तुतोऽनो लोऽप्येऽप्यप्तिमान्' ५
गीता ११, ११

'न लत्यन्म प्राप्ताग्ना' प्रभा ! तीर्ती लोद्यानि जाति रस्ते हैं। काँड तरा है, तिर प्रपिक ता वैस दा, याना है।

'न गत्याभ्य नपिद्यते दश्या' (दशाभृत्यान्मिश्र ११८)

उग (रामगा) ने रहा भैर उगये गाना ही हूँ तो गाना !

गीता है आर उन्हीम स्थित रहता है । उन्हीसे शक्ति पाकर सम्पूर्ण जगत् चेष्टा करता है ।* ऐसे सर्वोपरि परमात्माकी शरण ग्रहण न करनेसे मनुष्य सदाके लिये कृतार्थ हो जाता है । (शरण ग्रहण न करनेकी बात (इसी अध्यायके) चौथे श्लोकमें 'तमेव चाद्यं सुरप्रपद्ये' पदोंमें कही गयी है) ।

अध्याख्यम्—नीचेकी ओर शाखावादा ।

साधारणतया वृक्षोंका 'मूल' नीचे और 'शाखाएँ' ऊपरकी ओर होती है, परतु यह ससारवृक्ष ऐसा गिरिज वृक्ष है कि इसका 'मूल' ऊपर तथा 'शाखाएँ', नीचेकी ओर है ।

जहाँ जानेपर मनुष्य लौटकर ससारमें वापस नहीं आता, ऐसा भगवान्‌का परमधाम ही सम्पूर्ण भौतिक ससारसे ऊपर (सर्वोपरि) है, भगवान्‌का परमधाम भगवत्सरूप है, भौतिक नहीं है । भौतिक ससारसे विलक्षण चेतन है, इसलिये इस ससारसे सर्वोपरि होनेके कारण ऊर्ध्वमूल है और ब्रह्माजी तथा अन्य जीव उन्हीसे उत्पन्न होनेके कारण नीचेकी ओर शाखावाले हैं । (गीता १५ । ६) । ससारवृक्षकी प्रधान शाखा (तना) ब्रह्माजी है । क्योंकि ससारवृक्षकी उत्पत्तिके समय सबसे पहले ब्रह्माजीका

* जैस गीतामें इहा है—'अह वृत्त्वस्य जगत् प्रभम् प्रलयस्तथा' (७ । ६), 'प्रभम् प्रलय स्थान निधान त्रीनमव्ययम्' (९ । १८) 'अह सप्तस्य प्रभगो मत्त मर्ते प्रवत्तते' (१० । ८), 'यत् प्रवृत्ति प्रसुता पुराणी' (१५ । ८) और 'यत् प्रवृत्तिर्भृतानाम्' (१८ । ४६) ।

उद्घव होता है। इस कारण ब्रह्माजी ही इसकी प्रधान रूप है। ब्रह्मलोक भगवद्वामकी अपेक्षा नीचे है। (यहाँ 'अध शाहर' द्वारा ब्रह्माजीसे लेफ़र कीट-पर्यन्त आदि सभी जीवोंजा समावेश है।) स्थान, गुण, पद, आयु आदि सभी दृष्टियोंसे परमभासरी अन्त निम्न श्रेणीमें होनेके कारण ही उन्हें 'अध' (नीचेक्षण द्वारा कहा गया है) ।

सुष्टिरचनाके लिये ब्रह्माजी प्रकृतिको स्तीकार करते हैं परतु वास्तवमें वे (प्रकृतिसे सम्बन्धरहित होनेके कारण) हैं। ब्रह्माजीके अनिरिक्त अन्य सम्पूर्ण जीव प्रकृति एवं ठक्कर एवं शरीरादिके साथ अहता-मगतापूर्वक जितना-जितना अपना सम्बन्ध मानते हैं, उतने-उतने ही वे बन्धनमें पड़ हुए हैं और उन्हाँ द्वारा चार पतन (जन्म-मरण) होता रहता है अर्थात् उतनी ही रूपाँ नीचेकी ओर फैलती रहती हैं। सात्त्विक, राजम और तात्त्विक ये तीनों गतियाँ 'अध शास्त्रम्' के ही अन्तर्गत हैं।

बन्धवथम्—कल दिनतक भी न रहनेवाले अपना संतारण
पीपलके शूक्रको ।

० उभे गच्छन्ति सत्त्वमा गच्छे तिष्ठति रात्रा ।
जन्म्युद्यतिरा अपो गच्छति धामना ॥

(गीता १४।११)

ज्ञानगुणमें वित पुराय न्यगाते उष त्रितीये राते हैं, दाढ़ द्वितीय रात्रि त्रितीयमें अर्थात् मातृपत्नीरमें ही रहा है और दूसरे द्वादश विद्वाँ, ग्रन्थार्थी आद्यादिके वित त्रितीय पुराय दूसरे द्वादश

१८८. 'अश्वत्यम्' शब्दके दो अर्थ हैं—(१) जो कल दिनतक भी
१९१ रह सके* और (२) पीपलका वृक्ष ।

१९२. पहले अर्थके अनुसार—'अश्वत्य' पदका तात्पर्य यह है कि
१९३ सासार एक क्षण† भी स्थिर रहनेवाला नहीं है । केवल परिवर्तनोंके
१९४ समूहका नामही सासार है । परिवर्तनका जो नया रूप सामने आता है,
१९५ उसे उत्पत्ति कहते हैं, थोड़ा और परिवर्तन होनेपर जो स्थितिरूप-
१९६ से मान लेते हैं और जब उस स्थितिका स्थान भी परिवर्तित हो
१९७ जाता है, तब उसे समाप्ति (प्रलय) कह देते हैं । वास्तवमें इसकी
१९८ उपत्ति, स्थिति और प्रलय होते ही नहीं । इसलिये इसमें प्रतिक्षण
१९९ परिवर्तन होनेके कारण यह (सासार) एक क्षण भी स्थिर
२०० नहीं है । दृश्यमात्र प्रतिक्षण अदर्शनमें जा रहा है । जिस दिन हमने
२०१ जन्म लिया, उसी दिनसे हम प्रतिक्षण मर रहे हैं । इसी भावसे इस
२०२ सासारको 'अश्वत्यम्' कहा गया है ।

२०३. दूसरे अर्थके अनुसार—'अश्वत्य' पदका तात्पर्य सासार पीपलका
२०४ वृक्ष है । भगवद्गीतामें अभग 'सत्त्वो सुख कैसे मिले'—इस 'भावसे
२०५ सासारकी सेवा करनसे मनुष्य बहुत शीघ्र ही इस सासाररूप वृक्षके

२०६ 'य यथन्त न तिष्ठताति अश्वत्य'—'यस्' अध्यय आनेवाले
२०७ कलका वाचक है । जो करतक स्थिर रहे, उसे 'श्वत्य' तथा जो बलतक
२०८ स्थिर न रहे, उसे 'अश्वत्य' कहते हैं ।

२०९ 'क्षण' का विवचन दाशनिवोंमें इस प्रकार निया है—कमलके
२१० पत्तेपर सूड मारी जाय तो सूडके दूसरी तरफ निकलोमें तीन क्षण लगते
२११ हैं—पहले क्षणमें स्थिर, दूसरे क्षणमें उद्दन और तीसरे क्षणमें पार निकलना ।

मूलरूप परमात्माको प्राप्त कर लेना है। शाखोंमें अद्यता^३ पीपलके वृक्षकी बहुत महिमा है। स्थय भगवान् भी इस दृष्टि 'अश्वत्थ' को अपनी निर्मूलि कहकर उसे श्रेष्ठ एवं पूज्य देता है—'अद्यत्थ सर्ववृक्षाणाम्' (गीता १०।२६) पीपल^४ आर तु त्रिसी—इनकी भगवद्गामपूर्वक पूजा करनेसे गणवत्सु^५ हो जाती है।

परमा मासे समार उत्तम द्वेष्टा है। वे ही समारके अंत निमित्तोपादान कराएँ हैं। अन ससरख्यो पीपलमा वृक्षभी नहीं परमा महारूप द्वेष्टसे पूजने योग्य है। इस ससरख्यो पीपल है पूजा यही है कि—इसमें सुधा लेनेकी इच्छाको याकौर केरा एवं सेवा करना है। सुखकी इच्छा न रखनेगालेके लिये यह समार गम्भीर भगवद्गामपूर्व है—'याद्युदेव नर्वम्' (गीता ७। १९) ६ ससरसेसुखकी इच्छा रखनेगालेके लिये भगवान् यहांते हैं निर्दा द्वारा उनके लिये टुक्रोंमा घर ही है 'दुपालयम्' (गीता ८। ११) स्योकि न्यय अभिनाशी है और यह समारवृक्ष प्रनिभग परिभिर्दोरोंके कारण नाशगार, अनिक्य और क्षगमगुरु है। अरवि सम कपी भी इससे हमि दो ही नहीं मरती, किंतु इसने गुदनी ७ रामों गर्व्यां जन्मनामाना रहना है। अनेक सुमारों लियिरे भी न्यायका सम्बन्ध न रखकर केवल उमरी में जन्म भाग ही रामा चाहिये।

* गुप्ते न८८१ गुरुनार सदे गुनु तिरारा ।

^३ विजित ८८८१ रा । अधिकृ गुरुनारा ।

मानु-जीवनका वास्तविक उद्देश्य भोग ही ही नहीं। 'एहि
तु कर फल विषय न भाई' (रामचरितमानस ७ । ४३ । १)
पितु ससारकी सेवा करनेके लिये ही भगवान्‌ने मानव-आरीर दिया
। अतएव मानवको परमात्मखरूप ससारकी सेवा ही करना है,
योकि उसके पास धनादि पदार्थ पित्ता, योग्यता, शरीर, इन्द्रियाँ,
न, बुद्धि आदि जो कुछ भी है, वह सब-का-सब ससारसे ही मिल
जाए है। उन्हें वह अपने साथमें लाया नहीं, अपने पास इच्छानुसार
व सकता नहीं, उनमें इच्छानुसार परिर्त्तन का सकता नहीं और
अपने साथमें तो ले जा सकता ही नहीं अर्थात् ससारकी वस्तुएँ होनेके
कारण उनपर उसका अपना अभिकार नहीं चलता, किंतु जब वह
उसारकी वस्तुको ससारकी ही सेवामें लगा देता है, तब उसका जन्म-
परणरूपी बन्धन सुगमतापूर्वक टूट जाता है और वह सदा के लिये
मुक्त हो जाता है।

अव्ययम् प्राणु--अव्यय (अविनाशी) कहते हैं ।

ससार वृक्षको अव्यय कहा जाता है (प्राणु), पर वास्तवमें
वह अव्यय ह नहीं (यह परमात्माकी तरह नित्य और अव्यय नहीं
है) क्षणभगुर अनित्य* ससारका आदि और अन्त न जान सकनेके
कारण, प्रगाहकी निरन्तरता (नित्यता) के कारण तथा इसका मूल
सर्वशक्तिमान् परमेश्वर नित्य अविनाशी होनेके कारण ही इसे अव्यय
कहते हैं । जिस प्रकार समुद्रना जल सूर्यके तापसे भाप बनकर

* गीतामें भगवान्‌ने ससारको अनित्य बहा ह—

अनित्यमसुर लोकमिम प्राप्य भजत्व माम् ॥ (गीता १ । ३३)

पते वृक्षकी शासासे उत्पन्न एवं वृक्षकी रक्षा के लिए करनेवाले होते हैं। पतोंसे वृक्ष सुन्दर दीपता है तथा इह इसके हिलनेसे वृक्षका मूल तना एवं शाखाएँ दद्द होती हैं। बेठ भी इस ससाररूप वृक्षकी मुख्य शाखारूप ब्रह्मजीसे प्राप्त हैं और वेदविहित कमेसि ही समारकी वृद्धि और रक्षा होती है। इसलिये वेदोंकी पतोंका स्थान दिया गया है। मसात्मे सर्वम् (१) कमेमि व्यर्गादिक देवयोनियाँ प्राप्त होती हैं—यह सत्तरवृक्षरूप है। व्यर्गादिकम् नदननन, सुन्दर मिमान्, (२) रमणीय उद्धव आदि हैं—यह ससारवृक्षके मोटर्ड्यकी प्रतीनि है। सर्वम् कर्त्तव्यते रहनेसे बारबार आपागमन अर्थात् जन्म-मरण होता रहता है—यह मसारवृक्षका दद्द होता है।

अन पदामे भगवन् मानो यह कहना चाहते हैं कि सर्वम् मकाम भाव वैदिक सकाम-कर्मनिष्ठानरूप पतोंमें न केवल वृक्षके मूल—परमामाका ही आश्रय होना चाहिये। परमाम लेनेवे देवोंका धार्मनिक तत्त्व भी जानेमें अ उत्तर है। नेट्रोंय यानविक तत्त्व मसार या नर्ग नर्णी, इत्युपरी ही है।

० ॥ देव गर्वेष्य च ॥ (गीता ३६।३२)

भावम् देवेष्य इति मे ही बाह्येष्य च ॥

भव या च दर्शनात्मा ॥ (पठोन्ति ३।३१)

Hinduism Discord Server <http://HinduismDiscordServer.com>

तम् य वेद स वेदवित्—उस (ससारवृक्ष) को जो
नु (मनुष्य) जानता है, वह समूर्ण वेदों (के यथार्थ तार्पण) को
जाननेवाला है ।

ससारको लगभगुर (अनित्य) जानकर उससे कभी
किञ्चिमात्र भी सुखकी आशा न रखना—यही ससारको यथार्थस्ससे
जानता है । वास्तवम् ससारको लगभगुर जान लेनेपर सुखभोग हो
ही नहीं सकता । सुखभोगके समय ससार क्षणभगुर नहीं दीखता ।
जबतक समारके प्राणी-पटाखोंको स्थायी मानते रहते हैं, तभीतक
सुखभोग, सुखकी आशा और कामना तथा ससारका आश्रय,
रिश्वास बना रहता है । जिस समय यह अनुभव हो जाता है कि
ममार प्रतिक्षण नष्ट हो रहा ह, उसी समय उससे सुख लेनेकी च्छा
मिट जाती है और साथक उसके यथार्थ स्वरूपको जानकर (ससारसे
प्रियुख और परमात्माके समुख होकर) परमात्मामे अपनी अभिन्नता-
का अनुभव कर लेता है । परमात्मासे अभिन्नताका अनुभव होनेमें
वही वेदोंका वास्तविक तात्पर्य है । जो मनुष्य ससारसे प्रियुख होकर
परमात्मतत्त्वसे अपनी अभिन्नता (जो गात्ममे ह) का
अनुभव कर लेता ह, वही वास्तवम् 'वेदवित्' ह । वेदोंके अध्ययन-
मात्रमे मनुष्य वेदोंका पिद्वान तो हो सकता है, पर यथार्थ वेदवेत्ता
नहीं । वेदोंका अध्ययन न होनेपर भी जिसे (समारम्भ सम्बद्ध-
प्रिष्ठेद होकर) परमामतत्त्वकी अनुभूति हो गयी है, वही सच्चा
वेदवेत्ता (अर्थात् वेदोंके तात्पर्यको अनुभवमें लानेवाला) है ।

भगवन्ने इसी अध्ययने पढ़हरे श्रोक्तम् अपनेको 'वेदवित्'
महा है । वहीं वे ससारके यथार्थको जाननेवाले पुन्यको 'वेदवित्'

करकर उससे अपनी एकता प्रकट करने हैं। भर यहौँ^३
मनुष्यशरीरमें मिले विवेकवी इतनी महिमा है कि उन्हें जो
ससारके व्याप्ति तत्त्वको जानकर भगवान्‌के सद्गत बेशेन स
सकला है।^४ यह अवमर (मनुष्य-शरीर) वारन्वार नहीं कह
बत बुद्धिमान् मनुष्यको चाहिये कि ऐसे दुर्लभ तथा अहं
अपस्तुतों ज्वाली हाथ न जाने तो, अन्यथा पवधातापके^५ इस
हाथ नहीं लगेगा। सोलहने अव्यायके रीमों इतनें ही
'माम अप्नाव्य' पढ़ोमें भी भगवान् मानो गुप्तवी अपोर्ति देखा
तरस याते हैं कि मैंने अपनी प्राप्तिके लिये उसे ऐसा दुर्लभ दृष्टि
दिया या, कितु उसे उसने व्यर्थ गौंगा दिया और उन्हें क्यों^६ न
गया। इसलिये प्रत्येक सामर्कको निरतर सावधान रखेंसी यह
आमरपक्षा है।

• किमी र्ण, आश्रम, मम्प्राय, देश, जात जाति^७ की
गनुष्य (जी या पुनर् भूर्य या द्वितीय, गौंगी या नीतीय
या तीतीय) ज्या न हो, यह परमागतस्तत्त्वको प्राप्त वर सहज है।
कारी हो तथा धर्माभ्यास, यदि उम्मद्द एकपात्र उद्देश (किं
वा)

० अम गाप्त्यगागता । (नीता २१०) , भा. द्वा. ८०
पर्वी६।

। अति ज्ञानार्थी भर जाताराहू।
गुरुं गुरुं गुरुं गुरुं गुरुं गुरुं ॥ १ ॥
॥ २ ॥ अद्वि अद्वि अद्वि अद्वि अद्वि ॥
॥ ३ ॥ द्वा द्वा द्वा द्वा द्वा द्वा ॥ ४ ॥
॥ ५ ॥ द्वा द्वा द्वा द्वा द्वा द्वा ॥ ६ ॥
॥ ७ ॥ द्वा द्वा द्वा द्वा द्वा द्वा ॥ ८ ॥

ये मनुष्य-शरीर मिला है) परमात्म-प्राप्तिका हो गया है, तो 'मात्मप्राप्तिमें विश्व नहीं हो सकता । एकमात्र परमात्मप्राप्तिका 'दृदेश्य हो जानेपर उसकी सम्पूर्ण व्याप्रवाहिक ओर पारमार्थिक 'त्याएँ परमात्मप्राप्तिरूप उद्दृदेश्यको ओर ले जानेवाली हो जाती है । 'धन करनेपर भी परमात्मप्राप्तिमें प्रिष्ठम्ब होनेका मुख्य कारण अपने 'दृदेश्यकी कमी ही है । वस्तुत उद्दृदेश्य पहलेसे बना हुआ है 'और शरीर बदमें मिला है । परतु मनुष्य सासारिक भोग एव सप्रहमें झगकर अपने वास्तविक उद्देश्यको भूल जाता है । अत साधकको अपने वास्तविक उद्देश्यको पहचानकर यथाशीत्र परमात्माको प्राप्त कर लेना चाहिये ।

परमात्माका ही अश होनेके कारण जीपका एकमात्र वास्तविक सम्बन्ध परमात्मासे है । ससारसे तो इसने भूलसे अपना सम्बन्ध माना है वास्तवमें है नहीं । प्रिवेकके द्वारा इस भूलको मिश्रकर (अर्थात् ससारसे माने हुए सम्बन्धको त्यागकर) एकमात्र अपने अशी परमात्मासे स्वत मिद्र अपनी अभिनन्ताका अनुभव फरनेगाला ही ससारवृक्षके यथार्थ तत्त्वको नाननेगाला है, और उसीको भगवान् पहाँ 'वेदवित्' कहते हैं ॥ १ ॥

सम्बन्ध—

प्रथम श्लोकमें भगवान् ने जिस ससार-वृक्षका दिर्दर्शन कराया, उसी ससारवृक्षका अब अगले श्लोकमें अवयवोंसहित विस्तारसे वर्णन करते हैं—

वस्तु, व्यक्ति नहीं जो प्रकृतिसे उपन्न तीनों गुणोंसे गृहित है। अन गुणोंके सम्बन्धसे ही ससारकी स्थिति है। गुणोंसे 'अ' गुणोंसे उपन्न वृत्तियों तथा पदार्थोंकी द्वारा होती है। अन वृत्तिरूप पदार्थोंसे माने हुए सम्बन्धका त्याग करनेके लिये ही 'शुद्धिरूप' पद देवत भगवान् ने यहाँ मानो यह ननशया है कि जप्त व यत्किञ्चित् भी सम्बन्ध है, तभ्यक समावृत्तकी शाश्वत गति रहेगी। अन ससारद्वारका छेदन करनेके लिये गुणोंसे रह रिञ्चिन्मात्र भी नहीं राना चाहिये, क्योंकि गुणोंसा मत रहे। ससारसे सम्बन्ध-पिण्डेद नहीं हो सकता।

गुणोंकी वृत्तियोंके सम्बन्धमें विशेष चात

एक तो वृत्तियोंका 'होना' होता है और एक वृत्तियोंसे 'होना' (अर्थात् उन्हें स्वीकार करना—उनसे गति-दंप करना)। और 'होने'में घृत बदा अन्त है। 'होना' समाप्ति न होता है तो 'करना' व्यक्तिगत। ससारमें जो 'होना' है, उनमीं तिमीरो है।

कर्त्ते गच्छन्ति यज्ञस्ता मत्य तिर्थन्ति शाश्वत ।

षष्ठ्यगुणवृत्तिमा अप्तो गच्छन्ति तमसा ॥

(गीता ११। १८)

गीतप्रेमने प्रकाशित गीतारा गलनामा पुगाइमे चौदहवें अंक १४, १५ एवं १८ में इनोंहींकी व्याख्याके भावात् गुणोंका विश्वास देता जा सकता है।

• न त्वं वृक्षिष्या या दिवि देषु या द्युः ।

गत ग्रहकिरुद्धुर् ददृषि त्वं द्रुग्मुखे ॥

नहीं होती । जो हम 'करते' हैं, उसीकी जिम्मेवारी हमपर होती है ।

जिस समयि शक्तिसे ससारमात्रका सचालन होता है, उसी शक्तिसे हमारे शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि (जो ससारके ही अश हैं) का भी सचालन होता है । जब ससारमें होनेवाली क्रियाओंके गुण-दोष हमें नहीं लगते, तब शरीरादिमें होनेवाली क्रियाओंके गुण-दोष हमें लग ही कैसे सकते हैं ! परतु जब सत् होनेवाली क्रियाओंमें कुछ क्रियाओंमें हम राग-द्वेषपूर्णक अपना सम्बंध जोड़ लेते हैं अर्थात् उनके कर्ता बन जाते हैं,* तब उनका फल हमें ही भोगना पड़ता है । अतएव अन्त करणमें सत्य, रज और तम—इन तीनों गुणोंसे होनेवाली अच्छी-बुरी वृत्तियोंसे साधकको राग-द्वेष नहीं करना चाहिये अर्थात् उनसे अपना सम्बंध नहीं जोड़ना चाहिये ।

वृत्तियाँ एक समान किसीकी भी नहीं रहतीं । तीनों गुणोंकी वृत्तियाँ तो गुणातीत महापुरुषके अन्त करणमें भी होती हैं, परतु तत्त्वज्ञ होनेके कारण उनका उनसे राग-द्वेष नहीं होता । भगवान् ने गुणातीतके लक्षणोंमें बतलाया है—

* प्रकृते क्रियमाणानि गुणै कर्मणि सर्वश ।

अहकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मर्यते ॥

(गीता ३ । २७)

'सम्पूर्ण कर्म सम प्रकारसे प्रकृतिके गुणोंद्वारा किये जाते हैं, तो भी जिसका अन्त करण अहकारसे मोहित हो रहा है, ऐसा अज्ञानी—मैं कर्ता हूँ—ऐसा मानता है ।'

विषयप्रवाला—(अन्त करण तथा नाशनरणमें दृष्ट प्राप्त)
विषय (हीं जिस ससारवृक्षकी शाखाओंकी) कोंपले हैं ।

जिस प्रकार शाखासे निकलनेगाँठी नयी कोंपउ पत्तीके दृश्यमें
लेकर पत्तीके अप्रभागतकनो प्रवाल (कोंपल) कहा जाता है ।
प्रकार गुणोंकी वृत्तियोंसे लेकर दृश्य पदार्थमात्रमें यहीं 'विषयाद'
कहा गया है ।

वृक्षके मूलसे तना (मुख्य शाखा), ननेमे गाढ़ार है
शाखाओंमें कोंपले कुछती हैं और कोंपलोंमें शाखाएँ आगे बढ़ती हैं।
इस ससारवृक्षमें विषय-चिन्न दी कोंपले हैं । विषय-चिन्न
गुणोंसे होता है । जिस प्रकार गुणरूप जड़में संनार-एवं संरक्षण
बढ़ती हैं, उसी प्रकार गुणरूप जड़में विषयरूप कोंपले भी भरते
हैं । जैसे कोंपले दीखती हैं, उनमें व्यास जड़ नहीं तीक्ष्ण नहीं है
शब्दादि विषय तो दीखते हैं, पर उनमें गुण नहीं दीखते । इन
विषयामें ही गुण जाने जाते हैं ।

'विषयप्रवाला ' पदका भाव यह प्रतीत होता है कि विषय
चिन्न यहते हुए मनुष्यका समारम्भ सम्बादित्वे की है
सत्त्व । अन्नसमानमें मनुष्य जिस जिस भावसा निन्द्य यहीं
शरीरका स्थान करता है, उस-उस भावको ही प्राप्त होता है—
विषयरूप कोंपलेना कहता है ।

० नहा विषय विषय विषय नित नित नहा ॥ ११ ॥
(वस्त्राद ११)

| य य वानि गम्भीरादत्तगामने दृष्टेनद । ॥ ११ ॥
त गम्भीरि

कोपलेकी तरह विषय भी बदुत सुन्दर प्रतीत होते हैं, जिससे मनुष्य उनमें आकर्षित हो जाता है। साधक अपने विवेकसे परिणामपर विचार करते हुए इन्हें क्षणभृत, नाशवान् और दुखरूप जानकर इन विषयोंका सुगमतापूर्वक त्याग कर सकता है*। विषयोंमें सौन्दर्य ओर आकर्षण अपने रागके झारण ही दीखता है, वास्तवमें वे सुन्दर एवं आकर्षक हैं नहीं। इसलिये विषयोंमें रागका त्याग ही वास्तविक त्याग है। जेसे कोमल कोपलेको नष्ट करनेमें कोई परिश्रम नहीं करना पड़ता, वैसे ही इन विषयोंके त्यागमें भी सामरक्षको कठिनता नहीं माननी चाहिये। मनसे आदर देनेपर ही ये विषयरूप कोंपले सुन्दर और आकर्षक दीखती हैं, वास्तवमें तो ये विषयुक्त लड्डुके समान ही हैं†। इसलिये इस ससाखवृक्षका छेदन करनेके

* ये हि सप्तर्षजा भोगा दुखयोनय एव ते ।

आद्यात्मन्त कौन्तेय न तेषु रमते बुध ॥

(गीता ५। २२)

‘जो ये इन्द्रिय तथा विषयोंके सयोगसे उत्पन्न होनेवाले सब भोग हैं, वे (यद्यपि विषयी पुरुषोंको सुखरूप भासते हैं तो भी) नि सन्देह दुखके ही हेतु हैं और आदि-आत्माले अर्थात् अनित्य ह। इसलिये हे अर्जुन ! बुद्धिमान् विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता ।’

† दोषेण तीव्रो विषय कृष्णसर्पविशदपि ।

विष निहति भीक्तार द्रष्टार चक्षुपाप्यम् ॥

(विवेकचूडामणि ७९)

‘दोषमें विषय काले उपके विषसे भी अधिक तीव्र ह, क्योंनि विष तो खानेवालेको ही मारता है, परतु विषय तो आँससे देखनेवालेको भी नहीं छोड़ते ।’

विषयप्रवाला — (अन्त करण तथा वाह्यपरणके द्वारा पद)
विषय (ही जिस ससारवृक्षकी शाखाओंकी) कोपते हैं ।

जिस प्रकार शाखासे निकलनेवाली नयी कोपल पत्तीके इच्छे
लेकर पत्तीके अग्रभागतको प्रवाल (कोपल) कहा जाता है उन्हीं
प्रकार गुणोंकी वृत्तियोंसे लेकर इय पदार्थपात्रको यहाँ विषयप्रवाल
कहा गया है ।

वृक्षके मूलसे तना (मुख्य शाखा), तनेसे आगरै और
शाखाओंसे कोपलें फूटनी हैं और कोपलोंसे शाखाएँ आगे बढ़नी हैं ।
इस ससारवृक्षमें विषय-चिन्तन ही कोपलें हैं । विषय-चिन्तन ऐसे
गुणोंसे होता है । जिस प्रकार गुणरूप जड़से समार-रूक्षकी शरण
बढ़ती है, उसी प्रकार गुणरूप जड़से विषयरूप कोपलें भी बढ़ते
हैं । जैसे कोपलें दीखनी हैं, उनमें व्याप्त जड़ नहीं दीखता, वैसे ही
शब्दादि विषय तो दीखते हैं, पर उनमें गुण नहीं दीखते ।
विषयोंसे ही गुण जाने जाते हैं ।

‘विषयप्रवाल’ पटका भाव यह प्रतीत होता है कि विषय
चिन्तन रुते हुए मनुष्यका समारसे सम्बन्ध प्रिष्ठेद् नहीं हो
सकता ॥ । अन्तकालमें मनुष्य जिस-जिस भावका चिन्तन रुते हुए
शरीरका त्याग करता है, उस-उस भावको ही प्राप्त होता है ॥
विषयरूप कोपत्रोंका फलना है ।

० सेरन विषय विषय विषय नित नित नून नार ॥
(मालग ६ । १३)

कोपलोकी तरह विषय भी बहुत सुन्दर प्रतीत होते हैं, जिससे मनुष्य उनमें आकर्षित हो जाता है। साधक अपने विवेकसे परिणामपर पिचार करते हुए इन्हें क्षणभङ्ग, नाशवान् और दुखरूप जानकर इन प्रियोका मुगमनापूर्वक त्याग कर सकता है*। विषयोंमें सौन्दर्य और आकर्षण अपने रागके कारण ही दीखता है, वास्तवमें वे सुन्दर एव आकर्षक हैं नहीं। इसलिये विषयोंमें रागका त्याग ही वास्तविक त्याग है। जसे कोमल कोपलोको नष्ट करनेमें कोई परिश्रम नहीं करना पड़ता, वैसे ही इन विषयोंके त्यागमें भी सामरको कठिनता नहीं माननी चाहिये। मनसे आदर देनेपर ही ये विषयरूप कोपले सुन्दर और आकर्षक दीखती हैं, वास्तवमें तो ये विषयुक्त लड्डूके समान ही हैं। इसलिये इस ससारवृक्षका छेदन करनेके

* ये हि सप्तशंजा भोगा दुखयोनय एव ते ।

आद्यतवात् कौन्तेय न तेषु स्मते बुध ॥

(गीता ५। २२)

‘बो ये इन्द्रिय तथा विषयोंके सयोगसे उत्पन्न होनेवाले सब भोग हैं, वे (यद्यपि विषयों पुरुषोंको सुखरूप भासते हैं तो भी) नि सन्देह दुखके ही हेतु हैं और आदि-अन्तवाले अर्थात् अनित्य ह। इसलिये हे अर्जुन ! बुद्धिमान् विवेकी पुरुष उनम नहीं रमता ।’

† दोषण तीव्रो विषय कृष्णसर्पविषादपि ।

विष निहर्ति भोक्तार द्रष्टार चक्षुपाप्ययम् ॥

(विवेकचूडामणि ७९)

‘दोषमें विषय काले सप्तये विषसे भी अधिक तीव्र हैं, क्योंकि विष तो सानेवालेको ही मारता है, परन्तु विषय तो आँखमें देसनेवालेको भी नहीं छोड़ते ।’

ल्प्ये, मोगबुद्धि-पूर्वक विषयचिन्तन एव विषयसेवनजा संरक्षण करना आवश्यक है ।*

अथ च ऊर्ध्वम् प्रसृता —नीचे, मध्य और ऊपर का इई है ।

यहाँ 'च' पदको मध्यलोक अर्थात् मनुष्यलोक ('मीष्ट् 'मनुष्यलोके कर्मानुबन्धीनि' पद) का वाचक समझना चहूँ 'ऊर्ध्वम्' पदका तात्पर्य ब्रह्मलोक आदिसे है, जिसमें उनके मार्ग हैं—देवयान ओर पितृयान (जिसका वर्गन आठवें चौबीसवें-पचीसवें श्लोकोमें शुक्ल और कृष्ण-मर्गके नामे ।

० मोऽस्य काङ्क्षा यदि वै ततास्ति
त्यजातिरूद्धिप्रयान् गिर्य यथा ।
(रिवड० ५)

यदि तुझे मोक्षकी इच्छा है तो गिर्यार्थी गिर्यके समन् त्याग दे ।

ध्यायतो विषयान्पुम सङ्घस्तंशूपजायो ।
सङ्घस्तसजायते काम कामाक्लोधोऽभिजायते ॥
क्रोधाद्वयति सम्मोऽ सम्मोऽस्तमृतिग्रिम ।
रमृनिप्रशाऽनुदिनायां बुद्धिनायात्प्रगद्यनि ॥
(गाता २ । ६ । १)

गिर्यार्थी किंतन करते गाले पुरुषसी उन गिर्यार्थी खाती हैं आमनिसे उन गिर्यार्थी कामाका उत्पर होती है भीर गिर्य पहोंसे क्रोध उत्पर होता है । क्रोधसे अत्यन्त शुभाय दाता है मृदभासे मृतिम भ्रम हा जाता है, सूर्यम यहाँ से पुढ़ि अपार भारशक्तिरा नाथ हा जाता है और बुद्धिका नाम पर युग्म अराण निर्मितो गिर्य बना है ।

। 'अथ' पदका तात्पर्य नरकोसे ह, जिसके भी दो भेद न्योनिविशेष नरक और स्थानविशेष नरक ।

इन पदोंसे यह कहा गया हे कि ऊर्ध्वमूल परमात्मासे नीचे, वृक्षकी शाखाएँ नीचे, मध्य और ऊपर सर्वत्र फैली हुई हैं ।

मनुष्ययोनिरूप शाखा ही मूल शाखा है, क्योंकि मनुष्ययोनिमें न कर्मोक्तो करनेका अधिकार है । अन्य शाखाएँ भोगयोनियाँ जिनमें केवल पूर्वकृत कर्मोक्ता फल भोगनेका ही अधिकार है । मनुष्ययोनिरूप मूल शाखासे मनुष्य नीचे (अग्रलोक) तथा ऊर्ध्वर (ऊर्ध्वग्रोक)—दोनों ओर जा सकता है, और ससारवृक्षका ल तके सबसे ऊर्ध्व (परमात्मा) तक भी जा सकता है । श्रुत्यशरीरमें ऐसा पिवेक है, जिसका अप्रलम्बन करके जीव मगामतक पहुँच सकता है और अविवेकपूर्वक विषयोक्ता सेवन के नरकोंमें भी जा सकता है । इसीलिये गोखामी तुलसीदासजी कहा हे—

नरक स्वर्ग अपर्ग निसेनी ।
म्यान प्रिण भगति सुभ देनी ॥
(मानस ७ । १२० । ५)

मनुष्यलोके कर्मानुग्रन्थीनि मूलानि (अपि)—मनुष्यलोकमें सभीके अनुमार वॉवनेगाले (तादात्म्य, ममता और क्रामनारूप शाखाओंके) मूल भी ।

मनुष्यके अतिरिक्त अन्य सभी भोगयोनियाँ हैं । मनुष्ययोनिमें किये हुए पाप पुण्योक्ता फल भोगनेके लिये ही मनुष्यको अन्य

योनियोंमें जाना पड़ता है। नये पाप-पुण्य, करने अवता पर उभे रहित होकर मुक्त होनेका अधिकार और अगसर मनुष्य-शरीरमें ही है।

यहाँ 'मूलानि' पदका तात्पर्य तादात्म्य, ममता और कर्मनात्म्य शाखाओंके मूलसे हे, वास्तविक ऊर्ध्वमूल परमात्मासे नहीं। 'मैं शरीर हूँ'—ऐसा मानना 'तादात्म्य' है। शरीरादि पदार्थोंमें अपन मानना 'ममता' है। पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा—य तीन प्रकारकी मुख्य कामनाएँ हैं। पुत्र-परिवारकी कामना 'पुत्रैषणा' और धन-सम्पत्तिकी कामना 'वित्तैषणा' है। 'समारम्भ मेरा मन आदर हो जाय,' 'मैं बना रहूँ', 'शरीर नीरोग रहे', 'मैं शार्लेग पण्डित बन जाऊँ' आदि अनेक कामनाएँ 'लोकैषणा'के अन्तर्गत हैं। इतना ही नहीं, कीर्तिकी कामना मरनेके गात्र भी इस स्थिरमें रहती है कि लोग मेरी प्रशंसा करते रहें, मेरा स्मारक बन जाएं मेरी सृष्टिमें पुस्तकें बन जायें, लोग मुझे याद रखें आदि। यद्यपि तामनाएँ प्राय सभी योनियोंमें न्यूनायितररूपमें रहती हैं, तथापि वे मनुष्योनियों ही बाँधनेवाली होती हैं*। जब कामनाएँसे

* ये तीन इच्छाएँ (बाँधनेवाली न होनेवे कारण) 'कामना' नहीं पहली—(१) भगवदर्शन या भगवत्येमकी कामना, (२) स्वर्ण योधरी कामना और (३) जैव करनेकी कामना स्वरूप योध या परमात्मा (भगवदर्थान् या भगवत्येम) की इच्छा 'कामना' नहीं है, क्योंकि नहीं और परमात्मा दोनों ही 'नित्यप्राप्त' सभा 'आनन्द' हैं। जैसे अरनी जैसे पैसे निकालना चोरी नहीं करलागा, जैसे ही स्वरूप या परमात्मा (जो www.nishkamashram.org) Discord Server <http://www.nishkamashram.org>

प्रेरित होकर मनुष्य कर्म करता है, तब उन कर्मोंकि सस्कार उसके अन्त करणमें सचित होकर भावी जन्म-मरणके कारण घन जाते हैं। मनुष्ययोनिमें किये हुए कर्मोंका फल इस जन्ममें तथा मरनेके बाद भी अवश्यमें भोगना पड़ता है*। अत तादात्म्य, ममता और कामनाके रहते हुए कर्मोंसे सम्बन्ध नहीं छूट सकता।

यह नियम है कि जहाँसे वन्धन होता है, वहाँसे छुटकारा होता है (जैसे, रस्सीकी गाँठ जहाँ लगी है, वहाँसे वह खुलती है)। मनुष्ययोनिमें ही जीव शुभाशुभ कर्मोंसे बँधता है, अत मनुष्ययोनिमें ही वह मुक्त हो सकता है।

सराकी वस्तुको भगवान्की ही सेवामें ल्या देनेकी इच्छा भी 'कामना' नहीं अपितु त्याग है, क्योंकि 'कामना' लेनेकी होती है, देनेकी नहीं। सक्षेपमें जो वस्तु अपनी तथा अविनाशी है उसकी इच्छा करना 'आवश्यकता' (माँग या भूल) है, आर जो वस्तु दूसरेकी तथा नाशवान् है, उसे दूसरेको देनेकी इच्छा करना 'त्याग' है। जैसे शरीरकी भूख मिटानेके लिये भोजनकी इच्छा करना एक प्रकारसे 'कामना' नहीं होती, वैसे ही 'त्याग' की भूख मिटानेरे लिये परमात्मतत्त्वकी इच्छा करना 'कामना' नहीं होती।

* अनिष्टमिष्ट मिथ च निविध कर्मण फलम् ।

भवत्यत्यागिना प्रेत्य न तु सन्यासिना क्वचित् ॥

(गीता १८ । १२)

'कर्मफलका त्याग न करनेवाले मनुष्योंके कर्मोंका तो अच्छा-बुरा और मिला हुआ—ऐसे तीन प्रकारका फल मरनेके पश्चात् अवश्य होता है, किंतु कर्मफलका त्याग कर देनेवाले मनुष्योंके कर्मोंका फल किसी कालमें भी नहीं होता ।'

योनियोंमें जाना पड़ता है। नये पाप-पुण्य करने अथवा परमात्मा से रहित होकर मुक्त होनेका अधिकार और अवसर मनुष्य नीते ही हे।

यहाँ 'मूलानि' पदका तात्पर्य तादात्म्य, ममता और रूपनस्त शापाओंके मूलसे है, वास्तविक ऊर्ध्वमूल परमात्मासे नहीं। 'मैं दार हूँ'—ऐसा मानना 'तादात्म्य' है। शरीरादि पदार्थोंके अना मानना 'ममता' है। पुत्रैषणा, प्रितैषणा और लोकैषणा—ये तन प्रकारकी मुख्य कामनाएँ हैं। पुत्र-परिवारकी कामना 'पुत्रैषणा' और धन-सम्पत्तिकी कामना 'प्रितैषणा' है। 'समारमें मेरा मान-आदर हो जाय,' 'मैं बना रहूँ', 'शरीर नीरोग रहे', 'मैं शारूंसा पष्टिन बन जाऊँ' आदि उनेका कामनाएँ 'लोकैषणा'के अन्तर्गत हैं। इतना ही नहीं, कीर्तिकी कामना मरनेके गाद भी इस रूपने रहती है कि लोग मेरी प्रशंसा करते रहे, मेरा स्मारक बन जाए, मेरी स्मृतिमें पुस्तकें बन जायें, लोग मुझे याद घर आदि। यद्यपि कामनाएँ प्राय सभी योनियोंमें न्यूनापितृस्ताने रहती हैं, तथापि वे मनुष्ययोनिमें ही बँधनेवाली होती हैं*। जब कामनाओंसे

* ये तीन इच्छाएँ (बँधनेवाली न होनेपे कारण) 'कामना' नहीं अदर्शताएँ—(१) भगवद्वान् या भगवद्वेषकी कामना, (२) वस्त्र घोषकी कामना और (३) मेवा करनेकी कामना व्यष्टप्रयोग या परमात्मा (भगवद्वान् या भगवद्वेष) की इच्छा 'कामना' नहीं है, क्योंकि सभा और परमात्मा दोनों ही 'नित्यप्राप्त' तथा 'आनने' हैं। जैसे अन्नी ऐसी वैमे निष्कालना चोरी नहीं करता, वैमे ही मन्त्र या परमात्मा (जो अपो तण अपोमें है) की इच्छा करता 'कामना' नहीं करती।

प्रेरित होकर मनुष्य कर्म करता है, तब उन कर्मोंकि सस्कार उसके अन्त करणमें सचिन होकर भागी जन्म-मरणके कारण वन जाते हैं। मनुष्योनिमें किये हुए कर्मोंका फल इस जन्ममें तथा मरनेके बाद भी अवश्यमेव भोगना पड़ता है*। अत तादात्म्य, ममता और कामनाके रहते हुए कर्मोंसे सम्बद्ध नहीं छूट सकता।

यह नियम है कि जहाँसे वापन होता है, वहाँसे छुटकारा होता है (जैसे, रसीकी गँठ जहाँ लगी है, वहाँसे वह खुलती है)। मनुष्योनिमें ही जीव शुभाशुभ कर्मोंसे बँधता है, अत मनुष्योनिमें ही वह मुक्त हो सकता है।

ससारकी वस्तुको समारकी ही सेवामें ल्या देनेकी इच्छा भी 'कामना' नहीं अपितु त्याग है, क्योंकि 'कामना' लेनेकी होती है, देनेकी नहीं। सक्षेपमें जो वस्तु अपनी तथा अविनाशी है उसकी इच्छा करना 'आवश्यकता' (मौग या भूख) है, और जो वस्तु दूसरेकी तथा नाशवान् है, उसे दूसरेको देनेकी इच्छा करना 'त्याग' है। जैसे शरीरकी भूख मिटानेके लिये भोजनकी इच्छा करना एक प्रकारसे 'कामना' नहीं होती, वैसे ही 'स्वय' की भूख मिटानेने लिये परमात्मतत्त्वकी इच्छा करना 'कामना' नहीं होती।

* अनिष्टमिष्ट मिथ च निविव कर्मण फलम् ।

भवत्यत्यागिना प्रेत्य न तु स यासिना क्वचित् ॥

(गीता १८ । १२)

'कर्मफलका त्याग न करनेवाले मनुष्योंके कर्मोंका तो अच्छान्दुरा और मिला हुआ—ऐसे तीन प्रकारका फल मरनेके पश्चात् अवश्य होता है, किंतु कर्मफलका त्याग न र देनेवाले मनुष्योंके कर्मोंका फल किसी कालमें भी नहीं होता।'

प्रथम श्लोकमें आये 'ऊर्ध्वमूलम्' पदका तात्पर्य है—परमा, जो ससारके रचयिता तथा उसके मूल आधार हैं, और यहाँ भूत्यनि' पदका तात्पर्य ह—तादात्म्य, ममता और कामनारूप शायांकि मूल, जो समारमें मनुष्यको बाँधते हैं। साधकयो इन (तादात्म्य, ममता और कामनारूप शायांकोंके) मूलोंका तो छेन करना है आर ऊर्ध्वमूल परमात्माका आश्रय लेना है, जिसका उल्लेख 'तमेष चाय पुरप्रपद्ये' पदमें इसी अव्यायके चौथे श्लोकमें हुआ है।

अध च (ऊर्ध्वम्) अनुसततानि—नीचे और ऊपर, (सभी लोकोंमें) व्याप्त हो रहे हैं।

मनुष्यलोकमें कर्मानुसार गाँधंगले तादात्म्य, ममता और कामनारूप शायांकोंके मूल नीचे और ऊपर सभी लोकों, योनियोंमें व्याप्त हो रहे हैं। पशु-पक्षियोंका भी अपने शरीरसे 'तादात्म्य' रहता है, अपनी सतानमें 'ममता' होती है और भूमि लगनेपर गानेके हिये जछे पदार्थोंकी 'कामना' होनी है। ऐसे ही देवताओंमें भी अपने दिव्य शरीरसे 'तादात्म्य' प्राप्त पदार्थमें 'ममता' और अप्राप्त भोगोंमें 'कामना' रहती है। इस प्रकार तादात्म्य, ममता और कामनारूप दोप्रमिमी-न-विमी रूपमें ऊँच-नीच सभी योनियोंमें रहते हैं। परन्तु (मनुष्ययोनिके अनिरिक्त) अन्य योनियोंमें ये गाँधनेगले व्याप्त होते। यथां मनुष्ययोनिके सिंशा ऐतादि अन्य योनियोंमें^१ रिह रहता है, पर भोगोंकी अग्रिमता होने तथा गोण भोगनेके हिते ही उन योनियोंमें जानेके कारण उनमें त्रिपक्षका उपयोग नहीं हो

द्वारा) अलग देखना सम्भव नहीं है । मनुष्ययोनि ही ऐसी हे जिसमें (विवेकके कारण) मनुष्य ऐसा अनुभव कर सकता है कि मैं (स्वरूपत) तादात्म्य, प्रमता और कामनारूप दोषोंसे सर्वथा रहित हूँ ।

भोगोंके परिणामपर दृष्टि रखनेकी योग्यता भी मनुष्य-शरीरमें ही है । परिणामपर दृष्टि न रखकर भोग भोगनेपाले मनुष्यको पशु कहना भी मानो पशुयोनिकी निन्दा ही करना है, क्योंकि पशु तो अपने कर्मफ़र्म भोगकर मनुष्ययोनिकी तरफ आ रहा है, पर वह मनुष्य तो (निपिद्ध भोग भोगकर) पशुयोनिकी तरफ ही जा रहा है ॥ २ ॥

सम्बन्ध—

प्रतिक्षण परिवर्तनशील ससारके साथ भूलसे माने हुए सम्बन्धके कारण ही साधकों ससारवृक्षका छेदन करना अत्यात कठिन प्रतीत होता है । अत भगवान् अब यह चतुराते हें कि ससारमें सम्बन्ध बनाये रखनेपर (ससार) जैसा प्रतीत होता है उससे सम्बन्धका त्याग कर देनेपर वह वैसा प्रतीत नहीं होता । इस प्रकार ससारकी वास्तविकता चतुराकर भगवान् प्रतिक्षण अपने-आप नष्ट होनेवाले ससारवृक्षका सर्वथा छेदन (अपना सम्बन्ध विलुप्त न मानना) करनेके लिये रुहते हैं ।

श्लोक—

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा ।
अवत्यमेन सुविरुद्धमूलमभङ्गशम्नेण दृढेन छित्त्वा ॥३॥

भावार्थ—

ससारका जैसा सत्य एव सुन्दर रूप लोगोंके मुन्त्रे हैं। देखनेमें आता है, विवेकपूर्वक इससे अलग अर्थात् अमहाशैत्यरूप, जैसा रूप मिलता नहीं। क्योंकि इस ससारका आदि, अन तथा स्थिति ही नहीं है। ससारके भोगोंको भोगते या न मांगते हैं मैं, यह प्रतिभ्रण ग्रिनाश (महाप्रलय) की ओर हा जा रहा है।

पहले, दूसरे तथा इस श्लोकके पूर्वार्द्धके (मूल ताइ) श्लोकोंमें ससारवृक्षका वर्णन करनेके बाद अब भगवार् इस श्लोकके उत्तरार्द्धमें कहते हैं कि इस मत्सारवृक्षके तादात्म्य, ममता और कामनारूप शाखाओंके मूल बड़े दृढ़ हैं, जिहें तीव्र वैराग्य द्वारा परनिरूप शख्सके द्वारा ही काटा जा सकता है।

नि श्वार्थभावसे यानी हमें युद्ध भी मिल जाय ऐसा भवन रहते हुए ससारकी सेवा करना ही यात्त्वानिक 'अमहाशैत्य' है। नि श्वार्थभावसे सेवा करनेपर ससारसे तादात्म्य, ममता और कामना पूर्वक माना हुआ मन्त्रध सुगमनापूर्वक मिठ जाना है। यही ससारवृक्षका छेदन है।

अन्वय—

अस्य, अप्यम्, तथा, इह, त, उपलभ्यते, (यत्) म, अर्द्ध-
च, त, अन्त, च, न, उपतिष्ठा, (अत्) शुद्धिन्द्रियम्, प्रश्न-
अद्वयायम्, देव, अमहाशैत्येण, छित्या ॥ ३ ॥

पदान्वयात्मा—

अस्य रूपम् तथा इह न उपलभ्यते—इस (समररूप) का (जैसा) रूप (देखा गया है) जैसा दर्शा (गृहामें गिर्वाकरनेपर) नहीं पाया जाता।

इसी अध्यायके पहले श्लोकमें सप्तारवृक्षके प्रिययमें कहा गया है कि लोग इसे अव्यय (अग्निशी) कहते हैं, और शाखोमें भी वर्णन आता है कि सप्ताम-अनुष्ठान करनेसे लोक परलोकमें प्रिशाल भोग प्राप्त होते हैं। ऐसी बातें सुनकर मनुष्यलोक तथा खर्गनोकमें सुख, रमणीयता और स्थायित्वकी प्रतीति होती है। इसी कारण अज्ञानी मनुष्य काम ओर भोगके परायण होते हैं और 'इससे बढ़कर कोई सुख नहीं है'—ऐसा उनका निष्ठय हो जाता है।* जब उन्हसे सप्तारसे तादात्म्य, ममता ओर कामनाका सम्बन्ध है, तगतक ऐसा ही प्रतीत होता है। परन्तु भागान् कहते हैं कि विवेकगती बुद्धिसे सप्तारसे अलग होकर (अर्थात् मप्तारसे आन्तरिक सम्बन्ध-विच्छेद करके) देखनेसे उसका जैसा रूप हमने अभी मान रखा है, वैसा उपलब्ध नहीं होता अर्थात् यह नाशगान् और क्षणभङ्गर असद् प्रतीत होता है।

(यत्) न आदि च न अन्त च न सम्पत्तिष्ठा—
क्योंकि न तो इस (सप्तारवृक्ष) का आदि है और न अन्त है तथा
न स्थिति ही है।

मनुष्य किमी प्रिस्तुत प्रदर्शनीमें भौति-भौतिकी वस्तुओंको देखकर मुग्ध हुआ धूमता रहे, तो उस प्रदर्शनीका आदि-अन्त नहीं जान सकता। उस प्रदर्शनीसे बाहर निकलनेपर ही वह उसके

॥ वामोपभोगपरमा पुतावदिति निश्चिता ॥ (गीता १६। ११)

यामिमा पुष्पिता वाच प्रवदन्त्यविपश्चित् ।

वेदवादरता पार्थ नान्यदस्तीति वादिन ॥ (गीता २। ४२)

(२) सासारिक सुख (भोग और सप्रह) की कामना^३
सर्वथा त्याग करना ।

(३) ससारके आश्रयका सर्वथा त्याग करना ।

(४) ससारसे 'मैं' और 'मेरा'-प्रनको विल्युत् हटा लेना ।

(५) मैं भगवान्‌का हूँ, भगवान् मेरे हैं—इस वास्तविकता-
पर दृढ़तासे डटे रहना ।

(६) मुझे एक परमात्माकी तरफ ही चलना है—ऐसे इन
निष्ठय (व्यवसायामिका वुद्धि) का होना ।

(७) शाखनिहित अपने-अपने कर्तव्य कर्मों (कर्थन) स
तत्परतापूर्वक पालन करना* ।

(८) वचपनमें शरीर, पदार्थ, परिस्थिति, विद्या, सामर्थ्य
आदि जैसे ये, वैसे अन नहीं हैं अर्थात् वे सबके-सब घटल गए
हैं, पर मैं 'खय' वही हूँ, बदला नहीं—अपने इस अनुभवस्थ
आदर करना ।

(९) ससारसे माने हुए सम्बाधका सद्वाव (सत्ताभाव)
मिटाना ।

• स्ते स्ते कर्मव्यभिरत सिद्धि रूपते नर ।

(गीता १८।५०)

'अपने अपने स्वाभाविक कर्मोंमें तत्परतामें भ्रा त्रुत्या मन्दन
भगवान्मात्रिक्य परम उद्दिको प्राप्त हो जाता है ।'

परं ते विरति जोग से न्याना ।

मार्मिक वात-

एक 'खय' (सत् या चेतन)की सत्ता सिद्ध (नित्य रहने-वाली) सत्ता है और दूसरी ससार (असत् या जड़) की प्रिकारी (उत्पन्न और नष्ट होनेवाली) सत्ता है । इन दोनोंके सम्बन्धसे एक तीसरी सत्ता उत्पन्न होती है, जो 'सम्बन्धकी सत्ता' कहलाती है ।

उदाहरणार्थ—एक गुरुकी सत्ता है और दूसरी शिष्यकी मत्ता है । गुरु और शिष्यके सम्बन्धसे एक तीसरी सत्ता (जैसे—मेरा शिष्य, मेरा गुरु) उत्पन्न होती है ।* गुरु और शिष्यमें तो दोनोंकी अलग-अलग सत्ता है, और दोनों एक-दूसरेसे सम्बन्ध मानते हैं । परन्तु 'खय' (चेतन) और ससार (जड़)में केवल एक 'खय'की ही वास्तविक सत्ता है, और वही (भूलसे) ससारसे अपना सम्बन्ध मानता है ।

सम्बन्धकी यह सत्ता केवल मानी हुई है, वास्तवमें है नहीं । जीव भूलसे इस माने हुए सम्बन्धको सत्य मान लेता है अर्थात् इसमें सद्वाप्त कर लेता है और बँध जाता है । इस प्रकार जीव ससारसे नहीं, अपितु ससारसे माने हुए सम्बन्धसे ही बँधता है । इस माने हुए सम्बन्धको न माननेसे यह मिट जाता है । यही माने हुए सम्बन्धका सद्वाप्त मिटाना है ।

* गुरु शिष्यके सम्बन्धमें गुरुका काम केवल शिष्यका हित करना है और शिष्यका काम केवल गुरुकी सेवा करना है । इस प्रकार ससारमें माने हुए जितने भी सम्बन्ध हैं, सब केवल एक दूसरेका हित या सेवा करोंके लिये ही हैं, अपने लेनेवे लिये नहीं ।

(२) सासारिक छुख (भोग और सप्रह) की कर्मना सर्वथा त्याग करना ।

(३) ससारके आश्रयका सर्वथा त्याग करना ।

(४) ससारसे मैं और 'मेरा' पनको विन्दुल हटा लेना ।

(५) मैं भगवान्‌का हूँ, भगवान् भेरे हैं—इस वास्तविकता पर दृढ़तासे ढटे रहना ।

(६) मुझे एक परमात्माकी तरफ ही चलना है—ऐसे एक निष्ठ्य ('यसायामिका विद्वि')का होना ।

(७) शाखाविहित अपने-अपने कर्तव्य-कर्मों (स्थानों) का तत्परतापूर्वक पालन करना* ।

(८) वचपनमें शरीर, पदार्थ, परिस्थिति, विषा, सम्पद आदि जैसे थे, वैसे अब नहीं हैं अर्थात् वे सबके तत्त्व बदल गए हैं, पर मैं 'स्वय' वही हूँ, बदला नहीं—अपने इस अनुभव आदर रखना ।

(९) ससारसे माने हुए सम्बाधका सद्गाय (सत्त्वाभ्युपदीका विद्वा) मिथ्या ।

* स्वे स्वे कर्मव्यभिरत विद्वि अभ्युपदी वर ।

(गीता १८।५६)

'अनेभवी आभाविक कर्मों तत्परतासे ज्ञा तु अ भुज्य भावयामित्यन परम विद्विको प्राप्त हो जाता है ।'

अभ्युपदी विद्वि ज्ञोग से व्यग्रा ।

व्यग्र गोभुज्य दद व्यवग्रा ॥

(महाय १।१५।१)

भार्मिक वात-

एक 'खय' (सद् या चेतन) की खत सिद्ध (नित्य रहने-वाली) सत्ता है और दूसरी ससार (असद् या जड़) की पिकारी (उत्पन्न और नष्ट होनेवाली) सत्ता है । इन दोनोंके सम्बन्धसे एक तीसरी सत्ता उत्पन्न होती है, जो 'सम्बन्धप्री सत्ता' कहलाती है ।

उदाहरणार्थ——एक गुरुकी सत्ता है और दूसरी शिष्यकी सत्ता है । गुरु और शिष्यके सम्बन्धसे एक तीसरी सत्ता (जैसे—मेरा शिष्य, मेरा गुरु) उत्पन्न होती है ।* गुरु और शिष्यमें तो दोनोंकी अलग-अलग सत्ता है, और दोनों एक-दूसरेसे सम्बन्ध मानते हैं । परन्तु 'खय' (चेतन) और ससार (जड़)में केवल एक 'खय'की ही वास्तविक सत्ता है, और वही (भूलसे) ससारसे अपना सम्बन्ध मानता है ।

सम्बन्धकी यह सत्ता केवल मानी हुई है, वास्तवमें है नहीं । जीव भूलसे इस माने हुए सम्बन्धको सत्य मान लेता है अर्थात् इसमें सद्वाव कर लेता है और बँध जाता है । इस प्रकार जीव ससारसे नहीं, अपितु ससारसे माने हुए सम्बन्धसे ही बँधता है । इस माने हुए सम्बन्धको न माननेसे यह मिट जाता है । यही माने हुए सम्बन्धका सद्वाव मिटाना है ।

* गुरु शिष्यके सम्बन्धमें गुरुका काम केवल शिष्यका हित करना है और शिष्यका काम केवल गुरुकी सेवा करना है । इस प्रकार ससारमें माने हुए जितने भी सम्बन्ध हैं, सब केवल एक-दूसरेका हित या सेवा करनेके लिये ही हैं, अपने लेनेके लिये नहीं ।

मैं शरण हूँ । इस प्रकार साधकको एकमात्र परमात्माका ही आशा लेना चाहिये ।

अन्वय—

तत्, तद्, पदम्, परिमार्गितप्यम्, यज्ञिन्, गता, भूष, ३,
तिवर्तन्ति, च, यत्, पुराणो, प्रवृत्ति, प्रसृता, तम्, एव, भाष्यम्, प्राप्तम्
प्रपद्ये ॥ ४ ॥

पद-स्थाप्या—

तत् — उसके पधात् ।

यहाँ 'तत्' पद तीसरे तथा चौथे श्लोकमें सम्बन्ध स्थापित करनेके लिये आया है । पिछले श्लोकमें आये 'उत्तरा' पदपा नव समारके साथ माने हुए सम्बन्धका त्याग करना है, और इस श्लोकमें आये 'तत्' पदका भाव केवल परमात्माकी तरफ चर्नेश ५८ निधय करना है ।

मनुष्य-शरीरका एकमात्र उद्देश्य परमात्माजि ही है । संसारकी प्राप्ति आजाक किसीको नहीं हुई, न होगी और न हो रही चली है । क्योंकि ससार जड़ और प्रतिक्षण नउ होनेशला है तथा 'नव' (जीवन) चेतन और अतिनशी है । भगवान् पहले जीवा उद्देश्य निष्ठिन करते हैं, फिर उस उद्देश्यकी सिद्धिके लिये मुख्य शरीर प्रदान करते हैं* । अब मनुष्यसे कोई नवा उद्देश्य बननेवाली आश्वस्ता नहीं है । आश्वस्ता है केवल दूर्विष्ठित उद्देश्य पद्धतानोसी ।

* कर्तुं च चरि कर्त्ता गर देहो । देह ईर दितु देह गर्ही ॥

(मनुष ७।४३।१)

वास्तविक उद्देश्यकी पूर्तिका दृढ़ निश्चय होनेपर, अहत्ता सुगमतासे बदल जाती है और अहताके बदलनेपर निधिका पालन् एव निषेधका त्याग सुगमतासे हो जाता है। इसलिये तत् १ पदकु यह अर्थ नहीं समझना चाहिये कि ससारके साथ माने छुए सम्बन्धको धीरे-धीरे त्यागकर फिर भगवान्‌की तरफ चलना है। उद्देश्य एकमात्र परमात्माका ही रहे, तो ससारका त्याग स्वत होता है।

न८ पदम् परिमार्गितव्यम्—उस परमपद (परमात्मा) की भलीभौति खोज करनी चाहिये ।

जीव परमात्माका ही अशा है। ससारसे सम्बन्ध मान लेनेके कारण ही वह अपने अशी (परमात्मा) के नित्य सम्बन्धको भ्रूळ गया है। अत भूल मिटनेपर ‘म भगवान्‌का ही हूँ’—इस वास्तविक्लानकी स्मृति प्राप्त हो जाती है। इसा बातपर भगवान् कहते हैं कि उम परमपद (परमात्मा) से नित्य-सम्बन्ध पहलेसे ही विद्यमान है। केवल उसकी खोज करनी है, उमे नया नहीं बनाना है।

ससारको अपना माननेसे नियप्राप्त परमात्मा (१ अप्रोक्षम्) अप्राप्त (परोक्ष) दीखने लग जाता है, और अप्राप्त, मुसार प्राप्त दीखने लग जाता है। इसलिये परमपद (परमात्मा) को ‘तत्’ पदसे लक्ष्य करके भगवान् कहते हैं कि जो परमात्मा नियप्राप्त है, उसीकी पूरी तरह खोज करनी है।

खोज उसीकी होती है, निसका अस्तित्व पहलेसे ही होना है। परमात्मा अनादि और सर्वत्र परिपूर्ण हैं। अत यहाँ खोज

मैं शरण हूँ । इस प्रकार साधकको एकमात्र परमात्माका ही आश्रय
लेना चाहिये ।

अन्वय—

‘तत्’, तत्, पदम्, परिमार्गितव्यम्, यस्मिन्, गता, भूयः, न्,
निवर्त्तन्ति, च, यत्, पुराणी, प्रतृत्ति, प्रसृता, तम्, एव, आद्यम्, पुरुषम्
प्रपद्ये ॥ ४ ॥

पद-व्याख्या—

तत् —उसके पक्षात् ।

यहाँ ‘तत्’ पद तीसरे तथा चौथे श्लोकमें सम्बन्ध स्थापित
करनेके लिये आया है । पिछले श्लोकमें आये ‘ठिर्सा’ पदका भाव
ससारके साथ माने हुए सम्बन्धका त्याग करना है, और इस श्लोकमें
आये ‘तत्’ पदका भाव केवल परमात्माकी तरफ चलनेका दृढ़
निश्चय करना है ।

मनुष्य-शरीरका एकमात्र उद्देश्य परमात्मप्राप्ति ही है । ससारकी
प्राप्ति आजतक किसीको नहीं हुई, न होगी और न हो ही सकती
है । क्योंकि ससार जड़ और प्रतिक्षण नष्ट होनेवाला है तथा ‘खय’
(जीवात्मा) चेतन और अविनाशी है । भगवान् पहले जीवका
उद्देश्य निश्चित करते हैं, फिर उस उद्देश्यकी सिद्धिके लिये मनुष्य
शरीर प्रदान करते हैं* । अत मनुष्यको कोई नया उद्देश्य बनानेकी
आवश्यकता नहीं है । आवश्यकता है केवल पूर्णनिश्चित उद्देश्यको
पहचाननेकी ।

* कमहुँक करि कधना नर देहो । देत इस यिनु हेतु यनेही ॥

(मानस ७ । ४३ । ३)

वास्तविक उद्देश्यकी पूर्तिका दृढ़ निश्चय होनेपर, अहता सुगमतासे बदल जाती है और अहताके बदलनेपर विधिका पालन् एव निषेधका त्याग सुगमतासे हो जाता है। इसलिये स्तत् १ पदका यह अर्थ नहीं समझना चाहिये कि ससारके साथ माने इष्ट सम्बन्धको धीरे-धीरे त्यागकर फिर भगवान्‌की तरफ चलना है। उद्देश्य एकमात्र परमात्माका ही रहे, तो ससारका त्याग खत होता है।

नन् पदम् परिमार्गितव्यम्—उस परमपद (परमात्मा) की भलीभौति खोज करनी चाहिये ।

जीव परमात्माका ही अश है। ससारसे सम्बन्ध मान लेनेके कारण ही यह अपने अर्शी (परमात्मा) के नित्य सम्बन्धको भूल गया है। अत भूल मिटनेपर भी भगवान्‌का ही हूँ—इस वास्तविकताकी स्मृति प्राप्त हो जाती है। इसी बातपर भगवान् कहते हैं कि उस परमपद (परमात्मा) से नित्य-सम्बन्ध पहलेसे ही विद्यमान है। केवल उसकी खोज करनी है, उमे नया नहीं पनाना है।

ससारको अपना माननेमे नित्यप्राप्त परमात्मा (। अपरोक्षम्) अप्राप्त (परोक्ष) दीखने लग जाता है, और अप्राप्त, ससार प्राप्त दीखने लग जाता है। इसलिये परमपद (परमात्मा) को तद्द पदसे लक्ष्य करके भगवान् कहते हैं कि जो परमात्मा नित्यप्राप्त है, उसीकी पूरी तरह खोज करनी है।

खोज उसीकी होती है, जिसका अस्तित्व पहलेसे ही होता है। परमात्मा अनादि और सर्वत्र परिपूर्ण हैं। अत यहाँ खोज

करनेका तात्पर्य यह नहीं है कि किसी साधन-विशेषके द्वारा उस परमात्माको छूँढ़ना है। जो ससार (शरीर, परिवार, धनादि) कभी अपना था नहीं, हे नहीं, होगा नहीं, उसका आश्रय न लेना जो परमात्मा सदासे ही अपने हैं, अपनेमें हैं और अभी हैं, उनका आश्रय लेना ही उसकी खोज करना है।

साधकको साधन-भजन करना तो बहुत आवश्यक है, क्योंकि इसके समान कोई उत्तम काम नहीं है, किंतु 'परमात्मतत्त्वको साधन भजनके द्वारा प्राप्त कर लेंगे'—ऐसा मानना उचित नहीं, क्योंकि ऐसा माननेसे अभिमान बढ़ता है, जो परमात्मप्राप्तिमें वाधक है। परमात्मा कृपासे मिलते हैं। उन्हें किसी साधनसे खरीदा नहीं जा सकता। साधनसे केवल असाधन (ससारसे तादात्म्य, ममता और कामनाका सम्बन्ध) अथवा परमात्मासे प्रियुखताका नाश होता है जो अपने द्वारा ही किया हुआ है। अत साधनका महत्व अमाधनको मिटानेमें ही समझना चाहिये। असाधनको मिटानेकी सच्ची लाभ हो, तो अमाधनको मिटानेका बह भी परमात्माकी कृपासे मिलता है।

सावकोके अन्त करणमें प्राय एक दृढ़ धारणा वनी दृढ़ है कि जैसे उद्योग करनेसे ससारके पदार्थ प्राप्त होते हैं, वैसे ही साधन नरते-नरते (अन्त करण शुद्ध होनेपर) ही परमात्माकी प्राप्ति होती है। इस धारणाकी पुष्टिके लिये इतिहास आदिका प्रमाण भी मिल जाता है कि कठोर तपस्यासे पार्बतीको भगवान् शक्तकी प्राप्ति दृढ़, धूमको भी तपस्यासे भगवद्दर्शन दृष्ट इत्यादि। पर वास्तविकता

यह नहीं हे, क्योंकि परमात्मप्राप्ति किसी भी कर्म (साधन, तपस्यादि) का फल नहीं है, चाहे वह कर्म कितना ही श्रेष्ठ क्यों न हो* । कारण कि श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ कर्मका भी आरम्भ और अन्त होता है, इसलिये उस कर्मका फल नित्य कैसे होगा ? अत कर्मका फल भी आदि और अन्तवाला होता है । इसलिये नित्य परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति किसी कर्मसे नहीं होती । वास्तवमें त्याग, तपस्या आदिसे जइता (ससार व शरीर) से सम्बन्ध-विच्छेद ही होता है, जो भूलसे माना हुआ है । सम्बन्ध-विच्छेद होते ही जो तत्त्व सर्वत्र है, सदा है, नित्यप्राप्त है, उसकी अनुभूति हो जाती है—उसकी सृति जाप्रत् हो जाती है ।

गीताके प्रधान श्रोता अर्जुन भी सम्पूर्ण उपदेश सुननेके पश्चात् अन्तमें कहते हैं—‘स्मृतिर्लब्धा’ (१८। ७३) ‘मैने सृति प्राप्त कर ली है’ । यद्यपि विस्मृति भी अनादि है, तथापि वह शान्त (अन्त होनेवाली) है । ससारकी स्मृति और परमात्माकी स्मृतिमें बहुत अन्तर है । ससारकी स्मृतिके बाद विस्मृतिमा होना सम्भव है, जैसे—पक्षाधात् (लकवा) होनेपर पढ़ी हुई विद्याकी विस्मृति होना सम्भव है । इसके विपरीत परमात्माकी स्मृति एक

* ना ह वेदैर्न तपसा न दानेन न चेत्यया ।
शक्य एवविधो द्रष्टु इष्टवानसि मा यथा ॥

(गीता ११। ५३)

‘निस प्रकार तुमने मुझको देखा है, इस प्रकार रूपवाला मैं न वेदोंसे, न तपसे, न दानसे और न यज्ञसे ही देखा जा सकता हूँ ।’

वार हो जानेपर फिर कभी विस्मृति नहीं होती,* जैसे—पश्चात् हीनेपर अपनी। सत्ता ('मै हूँ') की विस्मृति नहीं होती। क्या यह है कि ससारके साथ कभी सम्बन्ध होता नहीं और परमात्मा सम्बन्ध कभी छूटता नहीं ।

शरीर, ससारसे मेरा कोई 'सम्बन्ध, नहीं है—इस तत्त्व अनुभव करना ही ससाखृक्षका छेदन करना है और मैं परमात्माका अश छूँ—इस वास्तविकतामें निरन्तर स्थित रहना ही परमात्मार्थी, खोज करना है। वास्तवमें ससारसे सम्बन्ध-पिछेद होते ही नियम प्राप्त परमात्मतत्त्वकी अनुभूति हो जाती है ।

यस्मिन् गता भूय न निवर्तन्ति—जिसे ग्राह छए (महापुरुष) फिर लौटकर (ससारमें) नहीं आते ।

जिसे पहले श्लोकमें 'ऊर्ध्वमूलम्' पदसे तथा इस श्लोकमें 'आधम् षुग्मपम्' पदोंसे कहा गया है, और आगे छठे श्लोकमें जिसका विस्तारसे वर्णन हुआ है, उसी परमात्मतत्त्वका निर्देश यहाँ 'यस्मिन्' पदसे दिया गया है ।

जैसे जलकी बूँद समुद्रमें मिल जानेके बाद पुन समुद्रसे अङ्ग नहीं हो सकती, वैसे ही परमात्माका अश (जीवात्मा) परमात्माको ग्राह हो जानेके बाद परमात्मासे अलग नहीं हो सकता अर्थात् पुन लौटकर संमारमें नहीं आ सकता ।

* यजशात्या न पुनमाद्येय वास्यसि पाण्डव । (गीता ४ । ३०)

एषा नाशी स्थिति पार्य नैना प्राप्य विमुद्धति ।

(गीता २ । ७३)

ॐ ऊँचनीच योनियोम जम लेनेके कारण प्रकृति अयगा उसके कार्य
गुणोंका सज्ज ही है* । अर जब सापक अमज्ज-आखके द्वारा गुणोंके
सज्जका सरथा छेन (अमत्के सम्परका सरथा त्याग) कर देता
है, तर उसका पुन कर्त्ती ज म लेनेका प्रश्न ही नहीं उठना ।†

च—और ।

यत पुराणी प्रवृत्ति प्रख्यता—जिस (परमात्मा) से अनादि-
कार्यसे (यह) सृष्टि फेरी है ।

* पुरुष प्रकृतिष्यो दि भुद्गुके प्रकृतिजान्गुणान् ।
कारण गुणसज्जोऽस्य सदसद्योनिजमसु ॥

(गीता १३ । २१)

‘प्रकृतिमें स्थित पुरुष ही प्रकृतिमें उत्पन्न त्रिगुणात्मक पदार्थोंको
भोगता है, और इन गुणोंका सज्ज ही इस जीवात्माके अच्छी चुरी योनियोर्म
जम लेनेका कारण है ।’

† मामुपेत्य पुनर्जम तु खाल्यमगाश्वतम् ।
नाम्नुगन्ति मात्मान ससिद्धिं परमा गता ॥

(गीता ८ । १५)

‘परमसिद्धिको प्राप्त मात्माजन मुक्तको प्राप्त होसर दु व्यक्तिके घर एव
धर्मभक्तुर पुनर्जमको नहीं प्राप्त होते ।’

मामुपेय तु तौ तेय पुनर्जम न विद्यते ॥ (गीता ८ । १६)

‘हे त्रुतीपुन ! मुक्ते प्राप्त होसर (मनुष्यका) पुनर्जम नहीं
होता ।’

सर्गेऽपि नोपजाय ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥ (गीता १४ । २)

‘(मुक्ते प्राप्त हुए पुरुष) सृष्टिके अद्वितीये पुन उत्पन्न नहीं होने
और प्रलयकालमें भी व्याकुल नहीं होने ।’

सम्पूर्ण सृष्टिके रचयिता एक परमात्मा ही हैं । ।
 इस ससारके आश्रय और प्रकाशक हैं । मनुष्य भ्र
 सासारिक पदाधरेमें सुखोको देखकर ससारकी तरफ आव
 हो जाता है और ससारके रचयिता (परमात्मा)को
 जाता है । अत उपर्युक्त पदोंसे भगवान् मानो यह कहते हैं
 परमात्माका रचा हुआ ससार भी जब इतना प्रिय लगता है,
 (ससारके रचयिता) परमात्मा कितने प्रिय लगाने चाहिये ।
 रची हुई वस्तुमें आकर्षणका होना एक प्रकारसे रचयिताका ही
 आकर्षण है*, तथापि मनुष्य अज्ञानवश उस आकर्षणमें परमात्माके
 कारण न मानकर ससारको ही कारण मान लेता है और उसमें
 फँस जाता है ।

प्राणिमात्रका स्वभाव है कि वह उसीका आश्रय लेना चाहता
 है और उसीकी प्राप्तिमें जीनन लगा देना चाहता है, जिसे वह
 सर्वोपरि मानता है अथवा जिससे उसे कुछ प्राप्त होनेकी आशा रहती
 है । जैसे ससारमें लोग स्पर्योंको प्राप्त करने और उनका सम्रह
 करनेमें वही तत्परतासे लगते हैं, क्योंकि उनको स्पर्योंसे सम्पूर्ण
 मनचाही वस्तुओंके मिलनेकी आशा रहती है । वे सोचते हैं—
 ‘शरीरके निर्गाहवी वस्तुएँ तो धनसे मिलनी ही हैं, अनेक तरहके भोग,

* यद्विभूतिमत्सन्न श्रीमद्भूर्जिनमेव या ।
 तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजाऽगस्थभग्म ॥

(गीता १० । ५१)

‘नो-जो भी विभूतियुक्त अभात् ऐश्वर्ययुक्त, कान्तियुक्त और शान्ति

‘मोद-प्रमोदके सापन भी इसी धनसे प्राप्त होते हैं । इसलिये धन होनेपर मे सुखी हो जाऊँगा तथा लोग मुझे धनी मानकर मेरा अहुत मान-आदर फर्तेगे ।’ इस प्रकार रुपयोंको सर्वोपरि मान लेनेपर वे गेमके कारण अन्याय, पापकी भी परवाह नहीं करते । यहाँतक वे ने शरीरके आरामभी भी उपेक्षा करके रुपये खपाने तथा सप्रह करनेमें ही तपर रहते हैं । उनकी दृष्टिमें धनसे बढ़कर कुछ नहीं रहता । इसी प्रकार जब सापको यह ज्ञात हो जाता है कि परमात्मामें बढ़कर कुछ भी नहीं है और उनकी प्राप्तिमें ऐसा आनन्द है, जहाँ सप्तरके सब सुख भीके यड जाते हैं,* तर वह परमात्माको ही प्राप्त करनेके लिये त पत्तासे ला जाता है । इसलिये भागानन्दने अगे उन्नीसपें श्लोकमें कहा है कि जो मुझे सर्वोत्तम जान लेना है, वह फिर सब प्रकारसे मुझे ही भजता है ।

तम् एव आद्यम्+ पुरुषम् प्रपद्ये—(का कोई आदि नहीं है, किंतु जो सबका आदि) उस आदिपुरुष परमात्माकी ही मैं शरण हूँ ।

* य लभ्या चापर लाभ मायते नाधिक्त तत् ।

यस्मिन्द्वितो न दुर्गेन गुरुणापि पिचाल्यते ॥

(गीता ६ । २२)

‘परमात्मप्राप्तिरूप जिस लाभको प्राप्त होकर उससे अधिक दूसरा कुछ भी लाभ नहीं मानता और (परमात्मप्राप्तिरूप) जिस अवस्थामें स्थित थोग मारी दुर्से भी विचलित नहीं होता ।’

+ ‘आदो भरम् आद्यम्’—सब कुछ बदलता है, पर वह जैसा है, वैसा ही रहता है ।

अनिर्वचनीय और अलौकिक प्रेम जाग्रत् हो जाता है । क्षति, पूर्ति और निवृत्तिसे रहित है, जिसमें अपने प्रियके मिश्रण भी तृप्ति नहीं होती और वियोगमें भी अभाव नहीं होता, जो प्रतिक्षण बढ़ता रहता है, जिसमें असीम-अपार आनन्द है, जिससे आनन्ददाता भगवान्‌को भी आनन्द मिलता है । ज्ञानोत्तरवान्में जो प्रेम प्राप्त होता है, वही प्रेम अनन्य शरणागतिसे भी प्रन हो जाता है ।

‘एव’ पदका तात्पर्य है कि (दूसरे सब आश्रय त्यागन) एकमात्र भगवान्‌का आश्रय ले । यही भाव गीतामें अन्यत्र ‘मामेव ये प्रपद्यन्ते’ (७ । १४), ‘तमेव शरण गच्छ’ (१८ । ६२) और ‘मामेक शरण व्रज’ (१८ । ६६) परमें आया है ।

‘प्रपद्ये’ का तात्पर्य है—‘मैं शरण हूँ’ । यहौं शक्ता ही सदती है कि भगवान्‌कैसे कहते हैं कि ‘मैं शरण हूँ’ । क्या भगवान् भी किसीके शरण होते हैं ? यदि शरण होते हैं तो किसकी शरण होते हैं ? इसका समाधान यह है कि भगवान् किसीदी शरण नहीं होते, वयोंकि वे सर्वोपरि हैं । केवल लोकशिखोंके लिये भगवान् साधककी भाषामें बोल्कर साधकको यह घलाते हैं कि वह ‘मैं शरण हूँ’ ऐसी भाषना करे ।

‘परमात्मा है’ और ‘मैं (स्वय) हूँ’—इन दोनोंमें ‘है’ के रूपमें एक ही परमात्मसत्ता विद्यमान है । ‘मैं’ के स्वय होनेसे ही ‘है’ का ‘हूँ’ में परिवर्त्तन हुआ है । यदि इस ‘मैं’ रूप

एकदेशीय स्थिति को सर्वदेशीय 'है' में पिलीन कर दें, तो 'है' ही रह जायगा, 'है' नहीं रहेगा। जबतक 'खय' के साथ बुद्धि, मन, इन्द्रियाँ, शरीरादिका सम्बन्ध मानते हुए 'है' बना हुआ है, तबतक व्यभिचार-दोष होनेके कारण अनन्य शरणागति नहीं है।

परमात्माका अश होनेके कारण जीव वस्तुत सदैव परमात्माके ही आश्रित रहता है, परतु परमात्मासे पिलुख होनेके बाद भी (आश्रय लेनेका स्वभाव न हूँनेके कारण) वह भूलसे नाशवान् ससारका आश्रय लेने लगता है जो कभी दिक्षिता नहीं। अत वह हु ख पाना रहता है। इसलिये सावकको चाहिये कि वह परमात्मासे अपने वास्तविक सम्बन्धको पहचानकर एकमात्र परमात्माकी शरण हो जाय।

शरणागति-प्रियथक मार्मिक वात

वास्तविक शरणागति वही है जिसमें 'शरण्य' भी एक हो और 'शरणागत' भी एक हो*। एक भगवान्-की शरण होनेका क्या तात्पर्य है—गहले इसपर प्रिचार करें।

गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्य, महिमा, नाम, रूप, लीला, धारा, ऐश्वर्य, माधुर्य, सौन्दर्य आदि जितनी भी भगवान्-की निभूतियें हैं, उनकी ओर बिल्कुल न देखते हुए केवल भगवान् मेरे हैं, मैं

* 'मामेक शरण वज' (गीता १८। ६६)

'त्तमेव चाय पुरुष प्रपचे' (गीता १५। ४)

'स सर्वविद्वज्ञति मा सर्वभावेन भारत' (गीता १९। ११)

'त्तमेव शरण गच्छ सर्वभावेन भारत' (गीता १८। ६२)

भगवान्‌का हैं' ऐसा भाव रखना ही एक भगवान्‌की शरण होता है। जो विभूतियोगी ओर दसकर भगवान्‌की शरण लेता ह, वह उसुन उन प्रभूतियोंकी ही शरण लेता है, भगवान्‌की नहीं। परतु इसन यह अर्थ नहीं है कि भगवान्‌की विभूतियोगी न मानकर उहें छोड़ देना हे। भगवान्‌में वे सब विभूतियों हैं ही, पर उनकी ज्ञान नहीं देना हे।

भगवान् ऐश्वर्यसम्पन्न है अथवा ऐश्वर्यसे सर्वथा रहित, दयालु हैं अथवा निष्ठुर (कठोर); उनका बहुत प्रभाव अधिक कोई प्रभाव नहीं, इत्यादि जिसी भी बातकी हमें कोई पर नहीं करनी है। भगवान् जैसे भी हैं, हमारे हैं।* यही वास्तवी शरणागति है।

भगवान्‌को किसी गुणको देखकर उनका आनंद विया जाते वह उनके गुणका आदर है, स्वयं उनका आदर नहीं, जैसे-जैसी धनवान् व्यक्तिका आदर विया जाय, तो वह उसके धन

* अमुदर सुन्दरशोखरो वा गुणविहीनो गुणिना वगे वा।

द्वेषी मयि स्यात् यस्याम्बुधिर्वा श्याम स एत्याद्य गनिममाया॥

'मेरे प्रियतम श्रीकृष्ण अमुन्दर हों या सुन्दर शिरोमणि हों, गुणही हों या गुणियमि श्रेष्ठ हों, मेरे प्रति द्वेष रखते हों या करुणामिधुम्य शृपा करने हों, ते चाहे जैसे हों, मेरी तो वे ही एत्यान गति हैं।

आदिग्न्य गा पादस्ता पिनष्टु मामदशनान्मर्मदता करोतु वा।

यथा तथा या रिदधातु द्यन्तो मत्प्राणनाथसु स एव नामर॥

'वे चाहे मुझे दृदयसे लगा लें या चरणोंम लिटे हुए मुझे पैरों रीढ़ ढालें अथवा दशन म देफर ममादित ही करें। य परम सूक्त श्रीकृष्ण जैसे चाह वैसे करें, मेरे तो वे ही प्राणनाथ हैं, दूसरा जोई नहीं।

— ही आदर है, स्वयं उस व्यक्तिका नहीं, किसी मन्त्री (मिनिस्टर) का
 — आदर किया जाय तो वह मन्त्रीपदका आदर है, स्वयं उस व्यक्तिका
 — नहीं, किसी बलवान् व्यक्तिका आदर किया जाय, तो वह उसके
 — बलका आदर है, स्वयं उस व्यक्तिका नहीं, परतु केवल न्यक्तिका
 ; आदर करनेसे उसका धन, मन्त्रीपद या बल चला जायगा, ऐसी
 बात भी नहीं है। इसी प्रकार केवल भगवान् की शरण लेनेसे उनके
 गुण, प्रभाव, ऐश्वर्य आदि चले जायेंगे, ऐसी बात नहीं है। पर
 शरणागत भक्तकी दृष्टि केवल भगवान् पर ही रहनी चाहिये, उनके
 गुण आदिपर नहीं। भगवान् हमारे हैं, इसीलिये उनकी शरण होना
 है। हम भगवान् के अश हैं, गुणोंके नहीं।

सत्पर्थियोने जब पार्वतीजीके सामने शिवजीके अनेक अपगुणों
 तथा विष्णुके अनेक सद्गुणोंका वर्णन करते हुए उन्हें शिवजीका
 त्याग करनेके लिये प्रेरित किया, तो पार्वतीजीने उनमें यही कहा—

महादेव अवगुन भवन विष्णु भक्त गुन धाम ।
 जेहि कर मनु रम जाहि सन तेहि तेही सन काम ॥

(मानस १ । ८०)

ऐसी ही बात गोपियोंने भी कही थी—

उधौ ! मन माने की बात ।

टाख छोहारा छाडि अमृतफल, विष्णुरीश त्रिप सात ॥
 जो चकोर को दै कपूर कोड, तजि भगार अधात ।
 मधुप करत घर कोरे काठमें, बँधत कमलके पात ॥
 ज्यों पत्तग हित जान आपगो, दीपक सों लपटात ।
 'सूरदास' जाको मन जासों, ताको सोइ सुहात ॥

सिद्ध महापुरुषोंके लक्षण ही सामर्फोके लिये आदर्श होते। अतएव सामर्फोको भी उपर्युक्त दोषोंसे रहित होना चाहिये। उद्देश्यसे यहाँ इन दोषोके अभावका (भिन्न-भिन्न) वर्गन् गया है।

इसी अध्यायके पिछले श्लोकोमें जिस ससार-वृक्षका वर्गन् है, उसके छेदनके अर्थमें यहाँ 'निर्मानमोहा', 'अमूढ़ा', आदि और छेदन करनेके बाद परमत्माकी शरण होनेके अर्थमें 'अथ नित्या' पद समझने चाहिये।

अन्वय—

निर्मानमोहा, जितसङ्कटोपा, अध्यारमनित्या, विनिरुद्धका सुखदुखसज्जै, द्वन्द्वै, विमुक्ता, अमूढ़ा, तत्, अन्ययम्, परच्छन्ति ॥ ५ ॥

पद-व्याख्या—

निर्मानमोहा —जो मान और मोहसे रहित हो गये हैं।

शरीरको 'मै', 'मेरा' और 'मेरे छिये' न मानना ही मोहरहित होना है। जो मोहरहित होता है, वह मानरहित होता ही है, क्योंकि शरीरमें मोह होनेसे ही मानकी इच्छा होती है। जिन महापुरुषोंका एकमात्र भगवान्में अपनापन है, उनका (अपने कहे जानेवाले) शरीर, इद्रियाँ, मन, बुद्धिमें 'मै-पन' तथा 'मेरा-पन' नहीं रहता। यद्यपि मान स्थूल शरीरका होना है और वह भी किसी गुण, योग्यता आदिसे होता है। शरीरसे अपना सम्बन्ध माननेके कारण ही हम शरीरके मान-आदरको भूलसे 'स्वयं'का मान आदर मान लेने हैं और कौम जाते हैं। महापुरुषका शरीरके

साथ 'मै-मेरापन' न होनेसे उन्हें मान-सम्मानसे प्रसन्नता नहीं होती। एकमात्र भगवान्‌की शरण होनेपर तीनों (स्थूल, सूक्ष्म और कारण) शरीरोंमें सर्वथा 'मै-मेरेपन'का सम्बन्धरूप मोह मिट जाता है, फिर मान-सम्मानकी चाह उनमें हो ही कैसे सकती है।

'मै शरीर नहीं हूँ, क्योंकि जन्मसे लेकर अबतक मेरा शरीर सर्वथा बदल चुका है, पर मे वही हूँ'—ऐसा जानते हुए भी उसे न मानना ही मोह (मूढ़ता) है। यह मोह सम्पूर्ण दुखों और पापोंका मूल है—'मोह सकल व्याधिन्ह कर मूल' (मानस ७। १२०। १५)। इसलिये इस मोहका सर्वथा नाश करना चाहिये। मोहका पूर्ण नाश भगवान्‌का आश्रय लेनेपर भगवत्कृपामें होना है।

जितसङ्खदोषा —जिहोने सङ्ख (आसक्ति)-जनित दोषोंपर मिजय प्राप्त कर ली हे।

ममता[॥], स्मृता, वासना, आगा आदि दोष आसक्तिके कारण ही होते हैं और आसक्ति अविवेकके कारण होती है। उन महापुरुषोंका आसक्तिरूप आकर्षण कहीं हो ही नहीं सकता, क्योंकि आसक्ति प्रकृतिके अंग 'मै'-पनमें ही है, अपने स्वरूपमें नहीं—ऐसा पिंडेक होनेसे उहें यह प्रत्यक्ष अनुभव होता है कि ये सब प्रकृतिजन्य नाशगन्‌ पदार्थ हमारे साथी हैं ही नहीं। अत उन महापुरुषोंमें आसक्तिके कार्य, वासना, स्मृता, तृष्णा, लोभ आदि विकारोंका सर्वथा अभाव हो जाता है।

कितनी ही पुरानी आसक्ति क्यों न हो, है तो मिटनेवाली ही। जैसे कितना ही पुराना और घना अन्वकार हो प्रकाश आवेदी मिट जाता है। ऐसे ही परमात्मासे अपना सम्बन्ध मानते ही सहस्रों आसक्ति हवा हो जाती है। साधारण लोगोंका भी यह अनुभव है कि आसक्ति सदा एक जगह और एकरूप नहीं रहती, अपिं बदलती (उत्पन्न और नष्ट होती) रहती है। जो वस्तु बदलती है, घटती-बढ़ती है, वह मिटनेवाली ही होती है—यह नियम है। अत साधकको अपने अनुभवका आदर करते हुए इस आसक्तिका दोषसे रहित हो जाना चाहिये।

‘आसक्ति’ प्राप्त (प्रत्यक्ष) और अप्राप्त (अप्रत्यक्ष)—दो ही अपस्थाओंमें होती है, किंतु ‘कामना’ अप्राप्तकी ही होती है। इसलिये इस श्लोकमें ‘विनिवृत्तकामा’ पद पृथक् रूपसे आया है।

प्रकृतिजन्य समूर्ण पदार्थों, व्यक्तियों आदिमें आसक्ति होने भी जीव उनसे अछग ही रहती है, पर भगवान्‌में प्रेम होनेपर जो भगवान्‌से एक हो जाता है। भगवान्‌में आकर्षण होना ‘प्रेम’ सम्मानमें आकर्षण होना ‘आसक्ति’ कहलाती है। प्रेममें देनानुदेना होता है। आसक्तिमें अपने लिये लेनेका भाव रहता है।

‘अध्यात्मनित्या’—जो नित्य-निरन्तर परमात्मतत्वमें ही मिटते हैं।

परमात्मा चेतन और स्वयंप्रकाश है। जो दूसरोंको जागा देता है, पर जिसे जाननेवाला कोई द्वे ही नहीं सकता, उस तरह को ‘चेतन’ कहते हैं, और अपने शापके द्वारा (करण-निरपेक्ष)

ज्ञान होनेपर उसे 'खयप्रकाश' कहते हैं।* उसके प्रकाशसे प्रकाशित होनेवाला समस्त दृश्य 'जड़' कहलाना है (जड़ गव्दसे विषय, पदार्थ, शरीर, इन्द्रियों, मन, बुद्धि एव अह (मै-पन)—ये सभी समझने चाहिये)। उस सर्वप्रकाशक चेननन्तत्त्वको ही यहाँ 'अध्यात्म' पदसे कहा गया है। उस तत्त्वमें अपनी नित्य-निरन्तर स्थितिका अनुभव ही 'अध्यात्मनित्या' पदसे कहा गया है। तात्पर्य यह है कि उन महापुरुषोंकी निरन्तर परमात्मतत्त्वमें ही स्थिति रहती है।† इसलिये अनुकूल एव प्रतिकूल परिस्थिति, व्यक्ति, पदार्थ आदिके संयोग-प्रियोगका उनपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। परमात्मतत्त्व (समता)में उनकी सहज, साभारिक स्थिति होती है। किमी भी अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितिके आनेपर जिनके मनपर उसका प्रभाव पड़ता है, (जिसे वे अन्यास, पिचारके द्वारा दूर करते हैं) उनकी परमात्मतत्त्वमें साभारिक स्थिति नहीं है, वे साधक हैं, जो परमात्म-तत्त्वमें स्थित होना चाहते हैं, वे अन्यास, पिचार आदिके द्वारा

* स्वयमेवात्मनात्मान वेत्य त्य पुरुषोत्तम । (गीता १० । १५)

हे पुरुषोत्तम ! आप स्वय ही अपनेसे अपनेको जानते हैं ।

† यथापि सम्पूर्ण प्राणियोंकी निरन्तर स्थिति उसी सर्वब्यापक, सर्व-प्रकाशक, सर्वेश्वर परमात्मतत्त्वमें ही रहती है, तथापि भूलसे वे अपनी स्थिति (परमात्मामें न मानकर) ससारमें मान लेते हैं। जैसे मैं अमुक वर्ण, आश्रम, सम्प्रदाय, नाम, जाति, शरीर आदिका हूँ। अपनी इस विपरीत मायताके कारण ही वे बँध जाते हैं और बार-बार जन्मते मरते हैं।

उनमें अपनी स्थितिका अनुभव करनेका प्रयास करते हैं। उन अभीतक ऐसा अनुभव नहीं है कि परमात्मनत्वमें हमारी मन स्वाभाविक स्थिति है।

जिन महापुरुषोंकी परमात्मनत्वमें नित्य-निरन्तर स्थिति है, उन अपने खरूप या अपनी स्थितिके प्रियमें कभी प्रियल्य या भ्रम न होता। महान्-से-महान् दुख भी उन्हें पिचलित नहीं कर सकता। वस्तुत ऐसे महापुरुषके समीप दुख पहुँच ही नहीं सकता। उन महापुरुषके शरीर, इन्द्रियाँ, मन आदिसे शालगिहित वर्तव्य-रूप तो होते हैं, पर शरीरादिसे तथा उनके द्वारा किये गये कर्मोंसे उसका किञ्चिन्मात्र भी कोई सम्बन्ध नहीं रहता। ‘परमात्मामें हमारी स्थिति है’—इस बातका उन्हें आभास भी नहीं होता। जगतक सार्व परमात्मामें अपनी स्थिति मानता है, तबतक सूक्ष्म अहकारके साथ सम्बन्ध होनेके कारण उसका परमात्मनत्वमें सूक्ष्म भेद बना हूँगा ही है, जिसपर साधकोंका ध्यान प्राय नहा जाता। अत साधकको चाहिये कि जगतक सट्जायम्या (परमात्मनत्वमें खत-स्वाभाविक, सट्ज स्थिति)का अनुभव नहीं हो जाता, तबतक परमात्माका आश्रय लेकर प्रियेक, विचार आदिको तेरीगे बढ़ाता रहे।

परमात्मानी सर्वथा शरण हो जाओके बाद भक्त अटों पहुँ

* य एच्छा चामर लभ मायते नापिक्त तत ।
यमिन्सियनो ॥ दुर्जेन गुरुणापि विचाल्यने ॥

(गीता ६। २२)

सम प्रकारसे भगवान्‌में ही लगा रहता है*, इसलिये उस गरणागत भक्तों भी यहाँ 'अध्यात्मनित्या' पदसे कहा गया है।

पिशेष वात

भगवान्‌ने पिछले श्लोकमें गरण होनेकी वात (तमेव चायु पुरुष प्रपदे) कहकर यहाँ गरणागत भक्तके लक्षणोंमें 'अध्यात्मनित्या' पद कहा है, जो स्पष्टत ज्ञानयोगीका पिशेषण है†। ऐसा प्रतीत होता है कि भगवान्‌ने यहाँ भक्तियोगसे तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके भावको प्रकट किया है।

भक्तियोगसे तत्त्वज्ञानकी सिद्धि यानी गुणातीत अवस्था सत हो जाती है—यह वात गीताके अनेक म्यलोपर आयी है। जैसे— दसवें अध्यायके दसवें श्लोकमें भगवान्‌को प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तको तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति बतलायी है। तेरहवें अध्यायके दसवें श्लोकमें भगवान्‌ने ज्ञानके साधनोंमें अव्यभिचारिणी भक्तिको भी एक सततन्त्र साधन माना है, और अठाहवें श्लोकमें क्षेत्र, ज्ञान और ब्रेयको जाननेवालेको अपना भक्त बताकर उसे अपने भावको प्राप्त होनेकी वात कही। चौदहवें अध्यायके छब्बीसवें श्लोकमें अव्यभिचारिणी भक्तिके द्वारा गुणातीत होकर ब्रह्मको प्राप्त होनेकी वात कही गयी है। अठाहवें अध्यायके पचासवें श्लोकमें ज्ञानयोगकी पूर्णता भी भक्तियोगसे ही बतलायी है।

* स सर्वमिद्दजति मा सर्वभावेन भारत ॥ (गीता १५। १९)

† गीतामें अन्यत भी ज्ञानयोगीके लिये 'अध्यात्मज्ञाननित्यत्व' (१३। ११) आया है।

जबतक ससारसे सम्बन्ध है, तबतक ज्ञानयोग और भजिदा अलग-अलग (स्वतन्त्र) साधन हैं, पर ससारसे सम्बन्ध-विलेद होनेपर (फलमें) दोनों एक हो जाते हैं अर्थात् एकमी पूर्णता होनेसे दूसरेकी पूर्णता स्वत हो जाती है ।

विनिवृत्तकामा —जो सम्पूर्ण कामनाओंसे पूर्णतया निवृत्त हो गये हैं ।

परमात्मतत्त्व अथवा अपने स्वरूपमें निरन्तर स्थितिका अनुभव होनेसे कामनाओंकी निवृत्ति स्वत हो जाती है । इसीलिये 'अचन्न नित्या 'के बाद 'विनिवृत्तकामा' पद दिया गया है ।

कामनाओंकी उत्पत्ति कव होती है :—जब हम परमामा (जिनसे हमारा वास्तविक सम्बन्ध है)से विमुख हो जाते हैं ऐ जिन नाशवान् शरीरादि पदार्थोंके साथ हमारी जातीय तथा स्वरूपगत एकता नहीं है, उनसे (सुखासक्तिपूर्वक) अपना सम्बन्ध मान लेते हैं । यदि शरीरादिसे अपनी भिन्नताका अनुभव कर लिया जाय (जो वास्तवमें हे) तो सम्पूर्ण कामनाएँ स्वत निवृत्त हो जाती हैं ।

वास्तवमें शरीरादिका वियोग तो प्रनिक्षण हो ही रहा है । साधकको प्रतिक्षण होनेवाले इस वियोगको स्तीकारमात्र करना है । इन प्रियुक्त होनेवाले पदार्थोंसे सयोग माननेसे ही कामनाएँ उपन होती हैं । जन्मसे लेकर आजतक निरन्तर हमारी प्राणशक्ति क्षीण हो रही है और जरीतसे प्रनिक्षण वियोग हो रहा है, हम शरीरको स्थिर मान लेते हैं । जब एक दिन शरीर मर जाता है, तब लोग कहते हैं कि आज वह मर गया । वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो शरीर

आज नहीं मरा है, अपितु प्रतिक्षण मरनेवाले शरीरका मरना आज समाप्त हुआ है। अतएव कामनाओंसे निवृत्त होनेके लिये साधकको चाहिये कि वह प्रतिक्षण प्रियुक्त होनेवाले शरीरादि पदार्थोंको स्थिर मानकर उनसे कभी अपना सम्बन्ध न माने।

वास्तवमें कामनाओंकी पूर्ति कभी होती नहीं। जबतक एक कामना पूरी होती हुई प्रतीत होती है, तबतक दूसरी अनेक कामनाएँ बत्यन हो जाती हैं। उन कामनाओंमेंसे जब किसी एह कामनाकी पूर्ण होनेपर हमें सुख प्रतीत होना है, तब अन्य कामनाओंकी पूर्तिके लिये निरतर चेष्टा करते रहते हैं, परतु यह नियम है कि चाहे मितने ही भोग-पदार्थ हमें मिल जायें, पर कामनाओंकी पूर्ति कभी हो ही नहीं सकती। कामनाओंकी पूर्तिके सुख-भोगसे नयी-नयी कामनाएँ पैदा होती रहती हैं—‘जिमि प्रतिलाम लोभ अविकार्दि’। ससारके सम्पूर्ण व्यक्ति, पदार्थ एक साथ मिलकर एक व्यक्तिमी भी कामनाओंकी पूर्ति नहीं कर सकते, फिर सीमित पदार्थोंकी कामना करके सुखकी आशा रखना महान् भूल ही है। कामनाओंके रहते हुए कभी शान्ति नहीं मिल सकती—‘स शान्तिमान्मोक्षि न कामकामी’ (गीता २। ७०)। अत कामनाओंकी निवृत्ति ही परमशान्तिमा उपाय है। अतएव कामनाओंकी निवृत्ति ही करनी चाहिये, न कि पूर्तिकी चेष्टा।

सासारिक भोग-पदार्थकि मिलनेसे सुख होता है—यह मान्यता कर लेनेसे ही कामना पैदा होती है। यह कामना जितनी तेज होगी उस पदार्थके मिलनेमें उतना ही सुख होगा। वास्तवमें कामनाकी पूर्तिसे सुख नहीं होता। जब हम किसी पदार्थके अभावमा दुख

मानकर कामना करके उस पदार्थका मनसे सम्ब्राप कर लेने हैं, त उस पदार्थके मिळनेपर अर्थात् उस पदार्थका मनसे सम्ब्रहनिहृ होनेपर (अभावकी मान्यताका दुख मिट जानेपर) हमें उस मिळनेका सुख प्रतीत होता है । यदि पहलेसे ही कामना न करें त पदार्थके मिठनेपर सुख तथा न मिलनेपर दुख होगा ही नहीं ।

अपने अविवेकको कारण (अर्थात् शरीर आदिसे अप अभिन्नता माननेसे) ही कामनाएँ उत्पन्न होती हैं । अर्थात् यह विग करना है कि यह अपिवेक कैसे मिटे ? अपिवेक मिटता है विवेक महत्त्व देनेसे । विवेकको महत्त्व तभी दिया जा सकता है, जब ही प्राप्त सुख-सामग्रीसे दुखियोंकी नि स्वार्थभावसे सेवा करनेका उद्देर रखते हैं । उन पदार्थोंको व्यक्तिगत न मानकर (क्योंकि वास्तव में सार्वजनिक ही हैं) ससारका ही मानते उए उन्हें ससारकी सेवां लगाते रहनेसे अपने सुख-भोगकी रुचि खत मिट जाती है औं कामनाओंकी निवृत्ति हो जाती है ।

मूलमें कामनाका अस्तित्व ही नहीं है, क्योंकि जब काम्यपदार्थका ही खतन्त्र अस्तित्व नहीं है, तब उसकी कामना कैसे स्थिर रह सकती है । इसलिये सभी साधक कामनारहित होनेमें समर्य है ।

‘मिनिवृत्तकाम महापुरुषका यह अनुभव होता है कि शरीर डन्दियाँ, मन, बुद्धि एव अह (मै-गत)—सभी भगवान्के दी हैं । भगवान्के अनिरिक्त उनका अना कुछ होता ही नहीं । ऐसे महापुरुषकी सम्पूर्ण कामनाएँ विश्व और नि शेष-दृश्यसे नट हो जाती हैं, इसलिये उन्हें यहाँ ‘मिनिवृत्तकामा ॥ यहा गपा है ।

प्रश्नोप वात-

साधकके लिये सब प्रकारकी सासारिक इच्छाओंका त्याग करना आवश्यक है। इच्छाओंके चार भेद हैं—

(१) निर्वाहमात्रकी इच्छा (जो आवश्यकता है उस)को पूरा कर दें* ।

(२) जो इच्छा व्यक्तिगत एवं न्याययुक्त हो और जिसे पूरा करना अपने सामर्थ्यसे बाहर हो, उसे भगवान्‌के अर्पण करके मिथि दें ।

(३) दूसरोंकी यह इच्छा पूरी कर दे, जो न्याययुक्त एवं हितकारी हो और जिसे पूरा करनेका सामर्थ्य हममें हो । इस प्रकार दूसरोंकी इच्छा पूरी करनेपर हममें इच्छा त्यागकी सामर्थ्य आनी है ।

(४) उपर्युक्त तीनों प्रकारकी इच्छाओंके अतिरिक्त अन्य सब इच्छाओंको निचारके द्वारा मिथि दे ।

सुखदुखसङ्गै छन्दै विमुक्ता अमूढा —सुख-दुखात्मक द्वन्द्वोंसे जो सर्वथा रहित हो गये हैं, ऐसे ज्ञानीजन ।

* ऐसी इच्छामें चार गतोंका होना आवश्यक है—

(१) उसका सम्बन्ध वर्तमानसे हो ।

(२) उसकी पूर्ति किये जिना रहा न जाय ।

(३) उसकी पूर्तिके आवश्यक साधन वर्तमानमें प्राप्त हों ।

(४) उसकी पूर्तिसे अपना और दूसरेका अहित न होता हो ।

+ उदाहरणार्थ, 'ससारमें अन्याय-अत्याचार न हो'—ऐसी तीव्र व्यक्तिगत इच्छा न्याययुक्त और अपने सामर्थ्यसे राहर है। अत ऐसी इच्छाको भगवान्‌के अर्पण करके निश्चिन्त ही जाय। ऐसी भगवदर्पित इच्छा भविष्यमें (भगवान् चाहें तो) पूरी हो जाती है।

आने-जानेवाले पदार्थोंको ग्रास करनेकी इच्छा या चेता इन्‌तथा उनसे सुखी-दुखी होना 'मूढ़ता' है। वास्तवमें ससार नित्य परिवर्तनशील है और परमात्मा नित्य रहनेवाला 'है'। परमात्मजी सत्तासे ही ससारकी सत्ता दीखती है। पर अविनाशी परमात्मा और मिनाशी ससारकी सत्ताको मिलाकर 'ससार है' ऐसा मान लें। 'मूढ़ता' कहलाती है।

जिस प्रकार मूढ़ (अज्ञानी) पुरुषोंको 'ससार है' ऐसा स्थृदिखायी देता है, उसी प्रकार अमूढ़ (ज्ञानी) महापुरुषोंको 'परमात्मा है' (समार तो प्रतिक्षण परिवर्तित हो रहा है)। ऐसा स्थृत अनुभव होता है। ससार जेसा दिखायी देता है, वेसा, ही है—इस प्रस्तुत ससारको स्थायी मान लेना 'मूढ़ता' (मोह) है। जिनकी यह मूढ़ता चली गयी, उन महापुरुषोंको यहाँ 'अमूढ़ा' करा गया है। मूढ़ता चले जानेके बाद सुख-दुखका ग्रामाव नहीं पड़ता। जिसपर सुख-दुख आदि दून्दोंका असर नहीं पड़ता, वह मुकिङ्ग पत्र होता है*। इसीलिये प्रस्तुत श्लोकमें भगवान्‌ने दो बार मूढ़तके त्यागकी बात ('निर्मानमोहा' और 'अमूढ़ा') कहकर मूढ़तके त्यागपर विशेष बल दिया है।

विशेष बात-

दद्द (राग-ठेपानि) ही नियमता है, जिससे सर प्रगतिके फायउपन्न होते हैं। अन नियमनाका त्याग वरनेके लिये माप्रकल्पे

* य ए न व्यथयन्त्येते पुरुष पुरुषपम् ।

सातु गमुन धीर साऽगृनत्याप फाते ॥

नाशग्रन् पदार्थोऽमि माने हुए महत्त्वको अन्त करणसे निकाल देना चाहिये । दून्दूके दो भेद हैं—

(१) स्थूल (व्याचहारिक) छन्द—सुख-दुख, अनुकूलता-प्रतिकूलता आदि स्थूल दून्दू हैं। प्राणी सुख, अनुकूलता आदिकी इच्छा तो करते हैं, पर दुख, प्रतिकूलता आदिकी इच्छा नहीं करते । यह स्थूल दून्दू मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष आदि सभीमें देखनेमें आता है ।

(२) सूक्ष्म (आध्यात्मिक) छन्द—यथापि अपनी उपासना और उपास्यको सर्वश्रेष्ठ मानकर उसे आदर (महत्त्व) देना आपश्यक एव लाभप्रद है, तथापि दूसरोंकी उपासना और उपास्यको हेय (नीचा) बतलाकर उमका सण्टन, निन्दा आदि करना 'सूक्ष्मदून्दू' है, जो साधकके लिये हानिप्रद है ।

वास्तवमें सभी उपासनाओंका एकमात्र उद्देश्य मसार (जड़ता)-से सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद करना है । सावकोंकी श्रद्धा, पिश्चास, रुचि और योग्यताके अनुसार उपासनाओंमें भिन्नता होती है, जिसका होना उचित भी है । अंत साधकको उपासनाओंकी भिन्नतापर दृष्टि न रखकर 'उद्देश्य'की अभिन्नतापर ही दृष्टि रखनी चाहिये । दूसरेकी उपासनाको न देखकर अपनी उपासनामें तपरतापूर्वक लगे रहनेसे उपासना-सम्बन्धी 'सूक्ष्म-दून्दू' स्त भिट जाता है ।

गीतामें 'स्थूलदून्दू'को 'मोहकलिलम्' (२।५२) और 'सूक्ष्मदून्दू'को 'श्रुतिविप्रतिपन्ना' (२।५३) पदोंसे कहा गया

* 'श्रुतिविप्रतिपन्न'का अर्थ है—शास्त्रोंमें ज्ञान, कर्म और भक्ति, द्वैत, अद्वैत, युद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत आदि सिद्धान्त, विष्णु, राम, कृष्ण, शिव, शक्ति, गणेश आदि उपास्यदेव, सकाम और निष्काम भाव इत्यादि भिन्न-

है। साधकके अन्त करणमें जबतक ससार (जड़ता)का सुन्धया महस्त्र रहता है, तभीतक ये द्वन्द्व रहते हैं। 'स्थूल-द्वन्द्व' सहस्रविशेषरूपसे सत्ता एवं महत्ता देता है। अतएव 'स्थूल-द्वन्द्व' मिटाना अत्यावश्यक है।

इन द्वन्द्वोंसे सर्वथा रहित होनेके लिये चार प्रशंसहिष्णुताओंका होना आवश्यक है—

(१) परोत्कर्ष-सहिष्णुता—दूसरेकी उच्चति देखनर प्रसंहोना ।

(२) परमत-सहिष्णुता—दूसरेके मत, उपासना, मिद्दा आदिसे द्वेष, विरोध, ईर्ष्या आदि न करना ।

(३) वेग-सहिष्णुता—काम, क्रोध आदिके वेगको सहना ।

(४) द्वन्द्व-सहिष्णुता—शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदिकी अनुकूलता और प्रतिकूलताको सहना अर्थात् उनसे मुखी या हु थी न होना ।

जगतक मूढ़ता रहती है, तभीनक द्वन्द्व रहते हैं। वास्तुमिरुद्धिसे देखा जाय तो अपनेमें द्वन्द्व मानना ही मूढ़ता है। राग-द्वेष, मुख-द्वु ख, ईर्ष-शोक आदि द्वन्द्व अन्त करणमें होते हैं, 'व्यय' (अपने स्वरूप)में नहीं। अन्त करण जड़ है, और 'व्यय' चेतन एवं जड़का प्रकाशक है। अनेह अन्त करणसे 'व्यय'का वास्तुमिरुसम्बन्ध है ही नहीं। केवल मात्रनाते यह सम्बन्ध प्रतीत होता है।

भिन्न विचारोंशे दखनर भिसी एष विचारपर जाना निधय या निराय नहीं हो पाना अर्थात् फिरभन्नयगिमृद्द ही जाना ।

यह सभीका अनुभव हे कि सुख-दुखादि द्वन्द्वोके आनेपर हम तो वही रहते हैं। ऐसा नहीं होता कि सुख आनेपर हम और होते हैं, एव दुख आनेपर और। परतु मूढ़तावश इन सुख-दुखादिसे मिलकर सुखी और दुखी होने लगते हैं। यदि हम इन (आनेजानेगाले)से न मिलकर अपने स्वरूपमें स्थित (स्वस्य) रहें, तो सुख-दुखादि द्वन्द्वोसे खत रहित हो जायेंगे। अतएव साधकज्ञो बदलनेवाली अर्थात् आनेजानेगाली अपस्थाओ (सुख-दुख, हर्ष-शोकादि) पर दृष्टि न रखकर कभी न बदलनेगाले अपने 'स्वरूप'पर ही दृष्टि रखनी चाहिये, जो सत्र अपस्थाओसे अतीत है।

गीतामें भगवान्‌ने राग-द्वेष आदि द्वन्द्वोसे मुक्त होनेका बहुत सुगम उपाय बतलाया है कि अनुकूलता प्रतिकूलतामें राग-द्वेष छिपे हुए हैं। उनसे बचनेके लिये साधकज्ञो केवल इतनी साधानी रखनी है कि वह इनके वशमें न हो*। तात्पर्य यह है कि राग-द्वेष प्रतीत होनेपर भी साधक इनके वशीभूत होकर तदनुसार किया न करे, क्योंकि तदनुसार किया करनेसे ये पुष्ट होते हैं।

तत् अव्ययम् पदम् गच्छन्ति—उस अविनाशी परमपद (परमात्मा)ज्ञो प्राप्त होते हैं।

* इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थं रागद्वेषो व्यवस्थितो ।

तयोर्न वशमागच्छेत्तौ व्याप्त्य परिपन्थिनो ॥

(गीता ३ । ३४)

'इन्द्रिय-इन्द्रियके अथमें अर्थात् प्रत्येक इन्द्रियके विषयमें राग और द्वेष छिपे हुए स्थित हैं। मनुष्यको उन दोनोंके वशमें नहीं होना चाहिये, क्योंकि वे दोनों ही इसके कल्याणमार्गमें विघ्न करनेवाले महान् शरु हैं ॥'

जिस परमानन्दको इसी अथायके पहले स्तोत्रमें 'इन् पदसे कहा गया तथा जिस परमदर्शप परमामार्को खोजनें हैं औथे स्तोत्रमें प्रेरणा दी गयी और आगे छठे स्तोत्रमें निः महिमास्तु वर्णन किया गया है, उसी परमामहूप परमपदवी प्रति महाँ वर्णन है। भाव यह है कि जो महापुरुष मान, मोट - दोषोंसे स्वेच्छा रहेत हैं, वे उस अविनाशी परम पदको अपने प्राप्त होते हैं, जिसे प्रत्यक्ष वर लेनेवर प्राणी लौटकर नाशयन् मन नहीं जाता ।

बाल्मीरमें तो मनुष्यमाता उस पदको ऐसा प्राप्त ही है। उधर इति न रखेसे उहे बसा प्रतीन नहीं होता । ये द उदारणसे सन्ताना चाहिये । मानो हम रेत्गाड़ीमें यात्रा न करें । हमारी गाड़ी एक स्टेशनपर रक जाती है । हमारी गाड़ीके पा (दूसरी पारीपर) गाड़ी दूइ दूसरी गाड़ी सहसा चन्ने जाती है । ये समाज (जस जाती हुई गाड़ीर इति रहनेमें) भ्रममें हमें असी गाड़ी भी ती हुई दी ने लगती है । परतु जब हम वहाँमें अपनी श्रिय दूर दूर नहीं लकड़ देतते हैं, तब (भ्रम दूर होनेपर) पन खाया है फि हमारी गाड़ी तो ज्यो-री-ज्यों (अपने स्थानपर) गाड़ी है । तीक दूरी में तर सकारात्मे सम्बन्ध होनेपर हम अपनेको मनार्द्द भीमि किए ही (ज्यो-री-ज्योंमाल) देतान लाते हैं । पर जब हम दूर दूर दूर होने भ्रमरुप दो दातते हैं, तब हमें पता है कि हम साथ तो ज्यो-री-ज्यों (अचल) ही हैं ॥ ५ ॥

० । १३ संलग्न, शतावरी
द्वद आमा विष्व गव्या

काला १३

Hinduism Discord Server <https://discord.gg/HtPjyqz>

सम्बन्ध—

छठा श्लोक पाँचवें और सातवें श्लोकोंको जोड़नेवाली कही गई है। इन श्लोकोंमें भगवान् यह बतलाते हैं कि वह अविनाशी-पद मेरा ही धाम है, जो मुझसे अभिन है और जीव भी मेरा अश होनेके कारण मुझसे अभिज है। अत जीवकी भी उस धाम (अविनाशी-पद) से अभिजता है अर्थात् वह उस धामको नित्यप्राप्त है।

यद्यपि इस छठे श्लोकका वारहवें श्लोकसे घनिष्ठ सम्बन्ध है, परतु पाँचवें और सातवें श्लोकोंको जोड़नेके लिये ही इसे यहाँ दिया गया है।

पिछले श्लोकमें वर्णित जिस अविनाशी-पदको ज्ञानो महापुरुष प्राप्त होते हैं, वह अविनाशी-पद कौमा है ?—इसका भगवान् विवेचन करते हैं।

श्लोक—

न तद्वासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकं ।

यद्यत्या न निवर्तन्ते तद्वाम परमं मम ॥ ६ ॥

भावार्थ—

भगवान् कहते हैं कि मेरा परमधाम स्वयप्रकाश है। मुझसे ही सूर्य, चन्द्र और अग्नि प्रकाशित होते हैं। अत ये तीनो मेरे परमधामको प्रकाशित करनेमें असमर्थ हैं। यद्यपि सूर्य, चन्द्र और अग्नि समष्टि भौतिक पदार्थोंको प्रकाशित करते हैं, परतु व्यष्टि पदार्थोंका ज्ञान नेत्र, मन और वाणीसे होता है। उस स्वयप्रकाश परमधामको ये इन्द्रियों भी प्रकाशित नहीं कर सकतीं।

भगवान् कहते हैं कि मेरे इस 'अमिनाशी स्वयमप्रदात्वम्' धारको जो पुस्त्र प्राप्त हो जाते हैं, वे कभी भी पुन लौटकर इस समारम्भे नहीं आते, क्योंकि अशीको प्राप्त कर लेनेके बारे लग उससे अमिन हो जाता है ।

‘इस श्लोकमें भगवान्नने ने मुख्य वार्ताएँ वर्तलायी हैं— (१) उस धारको सूर्यादि प्रकाशित नहीं कर सकते (जिसका नामगत्वमें प्रिवेचन भगवान्नने इसी अध्यायके वारहने इलोकमें किया है) । (२) उस धारको प्राप्त हप्त प्राणी पुन लौटकर समाप्त नहीं जाते (जिसका नामगत्वमें प्रिवेचन भगवान्नने इसी अध्यायके मानों अशीको में किया है) ।

अन्त्य—

तन्, न, सूर्यः, भासयते, न, शशाङ्कः, न, पावरः, यत्, गाया, न,
तियतेन्ते, तन्, मम, परमम्, धाम ॥ ६ ॥

पठन्ताम्य—

तन् न सूर्य भासयते न शशाङ्क न पावर—इस (परमम्)
को न सूर्य ने चन्द्र और ने अग्नि ही प्रकाशित कर सकते हैं ।

“२४ जगतमें सूर्यके समान तेजस्वी, प्रकाशवरण रोहि, “गर्व
नहा है । कह सूर्य भी उस परमधारको प्रकाशित करनेमें असाध्य है”, किस सूर्यसे प्रकाशित होनेवाले चन्द्र और अग्नि उसे प्राप्तित
कर ही कहसे सकते हैं । इसी अध्यायके गारहवे इलोकमें भगवान्
रघु कहने हैं कि सूर्य, चन्द्र और अग्निसे मेरा ही नेतृत्व है ।”
मुझमें ही प्रकाश पाना य भौतिक जगतको प्रकाशित करते हैं ।

२ रादित्यसन् तेजो जगद्वारयनेऽग्नित्वम् ।

अन्तर्द्राघ अन्याह्ना तत्त्वाः पित्रिमासमन् ॥

अत जो उम परमात्मनसे प्रकाश पाते हैं, उनके द्वारा परमात्मसम्पूर्णपूर्ण परमग्राम केसे प्रकाशित हो सकता है? तात्पर्य यह है कि परमात्मतत्त्व चेतन है और सूर्य, चन्द्र तथा अग्नि जड़ (भौतिक) हैं। ये सूर्य, चन्द्र और अग्नि क्रमशः नेत्र, मन और गणीसे प्रकाशित करते हैं। ये तीनों (नेत्र, मन और गणी) भी जड़ ही हैं। अतःपि नेत्रोंसे उस परमात्मतत्त्वको देखा नहीं जा सकता, मनसे उसका चिन्तन नहीं किया जा सकता और गणीसे उसका वर्णन नहीं किया जा सकता, क्योंकि जड़तत्त्वसे चेतन परमात्मतत्त्वकी अनुभूति नहीं हो सकती। यह चेतन (प्रकाशक) तत्त्व इन सभी प्रकाशित पदार्थोंमि सदा परिपूर्ण है। उम तत्त्वमें अपनी प्रकाशकताका अभिमान नहीं है।

चेतन जीवात्मा भी परमात्माका ही अश द्वारेके कारण 'खयप्रकाशस्यरस' है, अत उसे भी जड़ पदार्थ (मन, बुद्धि, इन्द्रियों आदि) प्रकाशित नहीं कर सकते। मन, बुद्धि, इन्द्रियों आदि जड़-पदार्थोंका उपयोग (इनके द्वारा लोगोंकी सेवा करके) केवल जड़तासे सम्बन्ध-पिछेद करनेमें ही है।

६ न तत् सूर्यो भानि न चन्द्रतारक नेमा विनुतो भान्ति तुतोऽयमन्ति ।
तमेव भान्तमनुभानि सर्वं तस्य भासा सर्वमिद विभाति ॥
— — — — — (कटोपनिषद् २ । २ । १५)

‘उस परमात्माको सूर्य प्रकाशित नहीं करता, चन्द्र और तारे प्रकाशित नहीं करते, विद्युत् भी प्रकाशित नहीं रहता, फिर यह अग्नि उसे कैसे प्रकाशित करेगी? यह सम्पूर्ण जगत् उस परमामाये प्रकाशमें भी प्रकाशित नोता है।’

‘जगत् प्रभास्य प्रकाशक राम्।’ (मानस । ११६ । ८)

यहाँ एक वात समझ लेनी चाहिये कि फ़ूलों
 'भगवान्' या 'देव' की दृष्टिसे न देखकर केवल प्रशंग वामपूर्ण
 पदार्थोंकी दृष्टिसे देखा गया है। तात्पर्य यह है कि सूर्यतैमन्त्र
 तत्त्वोंमें श्रेष्ठ है। अत यहाँ केवल सूर्यकी वात नहीं, बल्कि उस
 आदि अन्य सभी तंजसन्तत्त्वोंकी वात चल रही है। जैसे, इसे
 अच्यायके मैतीसर्वे श्लोकमें भगवान् ने कहा कि 'वृष्णिप्रियनेन
 वासुदेव है' (गीता १० । ३७), तो यहाँ 'आसुदेव' का मानन्
 रूपसे वर्णन नहीं अपितु वृष्णिपशके श्रेष्ठ पुत्रके रूपमें वर्णन है।

यत् गत्वा न निवर्तन्ते तत् मम परमम् धाम—जितु धात्मे
 प्राप्त होकर प्राणी नहीं लौटते, वही मेरा परमगाम है। *

जीर परमात्माका अश है। यह जबतक अपने अशी परमात्मासे
 प्राप्त नहीं कर लेता, तबतक उसका आगामन नहीं हो सकता। जैसे नदियोंके जलको अपने अशी समुद्रसे मिलनेरही
 स्थिता मिलती है, वैसे ही जीवको अपने अशी परमात्मासे मिलनेरही
 ही गत्तानिक, स्थायी शान्ति मिलती है। वास्तवमें जीर परमात्मने
 अभिन छी है, पर सक्षात्के (माने हुए) सन्नके कारण उसे ऊँच
 नीच योनियोंमें जाना पड़ता है।

● आमदामुपनाहम्नेका पुनराब्लिमोऽर्जुन ।

मामुपेत्र तु भीतेय पुनर्बन्म न विदते ॥

(गीता ८ । ११)

'हे अर्जुन ! ब्रह्माकर्मण यथ लोक पुनरावर्ती है, परद हे द्वादशी
 पुत्र ! मुझे प्राप्त होकर पृथ्वीम नहीं होगा ।'

यहाँ 'परमधाम' पद परमात्माका धाम और परमात्मा—जेनों-का ही जावक है। यह परमग्राम प्रकाशस्वरूप है। जैसे मूर्य अपने स्थान-निरोपपर भी स्थित है और प्रकाशस्वरूपसे सब जगह भी स्थित है अर्थात् मूर्य और उसका प्रकाश परस्पर अभिन्न हैं, वैसे ही परमग्राम और मर्मव्यापी परमात्मा भी परस्पर अभिन्न हैं।

भक्तोंकी भिन्न-भिन्न मान्यताओंके कारण भजलोक, सकेत धाम, गोलोक धाम, देवीदीप, शिवलोक आदि सब एक ही परमधामके भिन्न-भिन्न नाम हैं। यह परमधाम चेतन, ज्ञानस्वरूप, प्रकाशस्वरूप और परमात्मस्वरूप है।

यह अपिनाशी परमपद आत्मरूपसे सबमें समानरूपसे अनुस्यूत है। अत सररूपसे हम उस परमपदमें स्थित हैं ही, पर जड़ता (शरीर आदि)से ताडात्म्य, ममता और कामनाके कारण हमें उसकी प्राप्ति अथवा उसमें अपनी साभारिक स्थितिजा अनुभव नहीं हो रहा है ॥ ६ ॥

सम्बन्ध—

पिछले श्लोकमें भगवान् ने अपने परमधामका वर्णन करते हुए यह बतलाया कि उसे ग्रास होकर मनुष्य लौटकर ससारमें नहीं आते। उसके विवेचनके स्वप्नमें अपने अज्ञ जीवात्माको भी (परमधामकी ही तरह) अपनेसे अभिन्न बतलाते हुए, जीवसे क्या भूल हो सकती है कि जिससे उसे नित्यग्रास परमात्मस्वरूप परमधामका अनुभव नहीं हो रहा है—इसका हेतुसहित वर्णन अगले श्लोकमें जाते हैं।

श्लोक—

ममैवाशो जीवलोके जीवभूत सनातन ।
मन पष्टानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥ ७ ॥

भावार्थ—

भगवान् कहते हैं कि शरीरमें जीवस्तपसे रहनेवाला आज्ञा ही सनातन अश है । प्रकृतिके अश एव प्रदृष्टिमें स्थित मन ही पाँच ज्ञानेन्द्रियोंको यह जीवा मा भूलमें अपनी तरफ आकर्षित है—उहें अपना मान लेता है । तात्पर्य यह है कि यद्यपि वे मेरा ही अश होनेमें निय-निरन्तर मुझमें ही स्थित है, तथापि मुझ पिमुख होकर प्रकृतिके कार्य मन और इन्द्रियोंको भूलमें बरता है लेनेके कारण वह उनमें ही अपनी स्थिति मान लेता है मुझमें नहीं

आवश्य—

जीवलोके, जीवभूत, मम, एव, सनातन, वाता, प्रदृष्टिस्थानि
मन पष्टानि, इन्द्रियाणि, कर्षति ॥ ७ ॥

पद व्याख्या—

जीवलोके—इस (मनुष्य) शरीरमें ।

नितके मात्र जीवशी जातीय अथवा व्यापकी एवत्ते हैं, ऐसे प्रकृति एव प्रदृष्टिके जार्यमात्रका नाम 'जीव' है । जीव, चौदह शुग्नोंमें जीव नितनी योग्यियोंमें शरीर धारण है उन नमूर्ण लोकों तथा योग्यियोंमा जीवन 'जीवर्गीय' एवं 'न्तर्गीय' ।

पर्याप्त 'जीवगत' एव नमूर्ण योग्योंके 'मात्र' सह इयादि में इर्हा नहीं है, धर्मितु अतिंशी परमामर्दा ही है

भग हूँ) — एमे विश्वास ओर अनुभवकी योग्यता तथा अपिकार मनुष्य अगेरमे ही हे । मनुष्य-जीरीमें विवेक ही मनुष्यत्व ह । पश्चु, पेक्षा आगि अन्य योनियोमें इस विवेकको प्रकाशिन करनेमी योग्यता नहा हे । कारण वह कि उन योनियोमें यह विवेक सुपुत्र रहता हे । देवयोनिम भी भोगोक्ती वन्दनाके कारण प्रिचारका अपकाश नहीं ह और अपिकार भी नहीं ह । इसलिय यहाँ 'जीवकोक्तै' पद मिणेपर्यामे मनुष्य-जीरका ही गच्छ समझना चाहिये ।

जीवभूत — (असत्‌के सम्बन्धमे) जीव वना दुआ (आत्मा) ।

आत्मा परमामार्का अग ह, परतु प्रकृतिके कार्य जरीर, इन्द्रियाँ, प्राण, मन आदिके साथ अपनी एकता मानकर वह 'जीव' हो गया हे । उसका यह जीवत् रूपिम ह, गम्भीर नहा । नाटकमे कोई पात्र यननेकी नरह ही यह आत्मा 'जीवको' बनता ह ।

भगवान्ने गीतामे अन्यत्र कहा हे कि इस सम्पूर्ण जगत्‌को नेरी 'जीवभूता' परा प्रकृतिने गरण कर रखा हे ।* अर्यादि अपरा प्रकृति (समार) से चाहतिक सम्बन्ध न होनेपर भी जीवने उमसे अपना सम्बन्ध मान रखा ह ।

मम एव—मेरा ही ।

भगवान् जीवके प्रति फिलती आत्मीयता रखते हे कि उमे अपना ही मानते ह । मानते ही नहीं अपितु जानते भी हैं । उनकी

* अपरेयमितस्त्वन्मा प्रकृति विद्धि मे पराम् ।

जीवभूता महापाद्मी यद्यपि धायत जगन् ॥ (गीता ७ । ६

‘मैं भगवान्‌का हूँ’—ऐसा भाव रखना अपने-आपको मनवाले लगाना है। साधकोंसे भूल यही होती है कि वे अपने-आपको भगवान्‌में न लगाकर मन-बुद्धिको भगवान्‌में लगानेका प्रयत्न कर हैं। इसीलिये उन्हें मनको वश करनेमें बड़ी कठिनाई होती है जैसमय भी अधिक लगता है। ‘मैं भगवान्‌का हूँ’ इस गात्रमिस्तान मुलाकर ‘मैं द्वाष्टण हूँ, मैं साधु हूँ’ आदि भी मानते रहें और मृबुद्धिको भगवान्‌में लगाते रहें, तो यह दुनिधा कभी मिठेगी न और बहुत प्रयत्न करनेपर भी मन-बुद्धि भगवान्‌में जैसे लगने चाहिए वैसे नहीं लगेगे। भगवान्‌ने भी इस अध्यायके चौथे श्लोकमें उस परमात्माके शरण हूँ’ पदोंसे अपने-आपको परमात्मामें लगाने वाल ही कही है। गोसामी तुलसीदासजी भी कहेते हैं कि पहले भगवान्‌का होकर फिर नाम-जप आदि साधन करें तो अनेक जन्मावृत्तिगाड़ी हुई स्थिति आज, अभी सुवर सकती है—

चिगरी जन्म अनेक की सुग्रै जनहीं आज ।

होहि राम को नाम जपु तुलसी तजि कुसमाजु ॥

(दोषावली २८)

ताल्यर्य यह है कि भगवान्‌में केवल मन-बुद्धि लगानेकी अपेक्षा अपने-आपको भगवान्‌में लगाना बहुत अच्छा है। अपन आपको भगवान्‌में लगानेसे मन-बुद्धि खत सुगमतापूर्वक भगवान्‌में रा जाती है। नाटकेका पात्र हजारों दर्शकोंके सामने यह बहता है कि ‘मैं रामका वेदा मधनाद हूँ’ और मेवनादकी तरह ही वह बाहरी सब क्रियाएँ करता है। परतु इसके भीतर निरन्तर यह भगवान्‌का यह तो स्वाग है, वास्तुभूमि में मधनाद हूँ हा

—नहीं । इसी प्रकार सामर्फोको भी नाड़फो के साँगमी तरह हम ससार-
ए रूप नाथ्यशालमें अपने-अपने कर्तव्यका पालन करते हुए भीतरसे
—‘मैं तो भगवान्‌का हूँ’ ऐसा भाव निस्तंत्र जापत् रखना चाहिये ।
“ सनातन अशा —सनातन (सदामे) अशा है ।

जीव सदासे ही भगवान्‌का है । भगवान्‌ने न तो कभी
जीवका त्याग ही किया, न कभी उससे निमुख ही हुए और जीव
भी भगवान्‌का त्याग नहीं कर सकता । भगवान्‌के द्वारा मिली हुई
चतुन्नताका दुरुपयोग करके वह भगवान्‌से निमुख हुआ है । जिस
प्रकार स्वर्णका आभूषण तत्त्वत् स्वर्णसे पृथक् नहीं हो सकता,
उसी प्रकार जीव भी तत्त्वत् परमात्मासे कभी पृथक् नहीं हो
सकता ।

बुद्धिमान् यद्यलनेगाले मनुष्यकी यह ग्रहत गडी भूल है कि
वह अपने अशी भगवान्‌से निमुख हो रहा है । वह इधर आन
हो नहीं देता कि भगवान् इतने सुहृद् (दयालु और प्रेमी) हैं
कि हमारे न चाहनेपर भी हमें चाहते हैं, न जाननेपर भी हमें
जानते हैं । वे कितने उडार, दयालु और प्रेमी हैं—इसका र्णन
भाषा, भाव, बुद्धि आदिके द्वारा हो ही नहीं सकता । ऐसे सुहृद्
भगवान्‌को ठोड़पर अन्य नाशवान् जड़ परायोको अपना मानना
चुदिमानी नहा, अपितु महान् मूर्खता है ।

नव हम भगवान्‌के आज्ञानुसार अपने कर्तव्यका पालन करते
हैं, तब वे हमारी इतनी उन्नति कर देते हैं कि जीवन सफल हो
जाता है और जन्म-मरणगत्य बन्धन सदाके लिये मिट जाता है ।

जब हम भूलसे कोई निविद्ध आचरण (पाप) कर लेने हैं, तब दुखोंको भेजकर हम चेत कराते हैं, पुराने पापोंको भुगताकर हमें शब्द करते हैं और नये पापोंमें प्रवृत्तिसे हमें रोकते हैं ।

जीव कहीं भी क्यों न हो (नरकमें हो अथवा स्थगमें, मनुष्योनिमें हो अथवा देवयोनिमें), भगवान् इसे अपना ही अश मानते हैं । यह उनकी मितनी अद्युक्ती कृता, उदारता और महत्त्व है । जीवके पतनको देखकर भगवान् दुखी होकर कहते हैं कि मेरे पास आनेका उसका पूरा अधिकार था, पर यह मुझे प्राप्त किया गिना (माम् अप्राप्य) नरकोंमें जा रहा है ।*

मनुष्य चाहे किसी भी स्थितिमें क्यों न हो भगवान् उसे स्थिर नहीं रहने देते । उसे मानो अपनी ओर खींचते ही रहते हैं । जब हमारी सामान्य स्थितिमें कुछ भी परिवर्तन (मुख-दुख, आदर-निरादर आदि) होता है, तब यह मानना चाहिये कि भगवान् हमें विशेषरूपसे याद करके नयी परिस्थिति पैदा कर रहे हैं, हमें अपनी ओर खींच रहे हैं । इस तथ्यको माननेगाला साधन प्रत्येक परिस्थितिमें विशेष भगवत्कृपाको देखकर आनन्दित रहता है और भगवान्को कभी मूलता नहीं ।

सापरण मनुष्यकी तो बान ही क्या है, पापी-से-पापी मनुष्य को भी भगवत्त्रामिसे कभी निराश नहीं होना चाहिये, क्योंकि जो हमारा अपना है और सदा हमें अपना मानता तथा जानता है, उसकी

* आसुरी योनिमापद्मा मूढा जन्मनि जन्मनि ।

मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमा गतिम् ॥

प्राप्ति में निराशा कैसी ? भगवन्नास्तिका दृढ़ निश्चय करनेवाले पापी-
सेषापी जीवको भी भगवान् शीघ्र धर्मात्मा बनान्नर उसे अपनी
प्राप्ति शीघ्र होनेवी वान कहते हैं ।*

अशीको प्राप्त करनेमें अशको कठिनाई और देरी नहीं होती ।
कठिनाई और देरी इसीलिये होती है कि अशने अपने अशीसे
चिमुखता मानकर उन शरीरादिको अपना मान रखा है, जो अपने
नहीं हैं । अत भगवान्के सम्मुख होते ही उनकी प्राप्ति स्वत
सिद्ध है । सम्मुख होना जीवन काम है, क्योंकि यही भगवान्से
प्रिमुख हुआ है । भगवान् तो जीवको अपना मानते ही है, जीव
भगवान्को अपना मान ले—यही सम्मुखता है ।

मनुष्यसे यह बहुत बड़ी भूल हो रही है कि जो व्यक्ति, वस्तु,
परिस्थिति अभी नहीं है अथवा जिसका मिलना निश्चित भी नहीं है

* अपि चेत्सुदुराचारे भजते मामनन्यभाक् ।

साधुरेव स मन्तव्य सम्पन्न्यवसितो हि स ॥

शिग्र भवति धर्मात्मा शश्च्छाति निगच्छति ।

कौतेय प्रति जानीहि न मे भक्त प्रणदयति ॥

(गीता ९ । ३० ३१)

‘यदि कोइ अतिशय दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भक्त होकर
मुझको भजता है, तो वह साधु ही मानने योग्य है, क्योंकि वह यथार्थ
निश्चयवान् है अथात् उसने भलीभौति निश्चय कर लिया है कि परमेश्वरके
भजनके समान अस्य कुछ भी नहीं है ।

‘इसलिये वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली
परमाणुनिको प्राप्ति होता है । हे अर्जुन ! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरा
भक्त नए नहा होता ।’

और जो मिलनेपर भी सदा नहीं रहेगी—उसकी प्राप्तिमें वह अभ्य पूर्ण पुरुषार्थ और अपनी उन्नति मानता है। यह मनुष्यका असे जीवनके साथ बहुत बड़ा धोखा है। गास्तुमें जो नित्याम औ अपना है, उस परमात्माको प्राप्त करना ही मनुष्यका परम पुद्धर है—शूरपीरता है। हम धन, सम्पत्ति आदि सासारिक पदार्थ किं ही क्यों न प्राप्त कर ले, पर अन्तमें या तो वे नहीं रहेंगे अथवा ही नहीं रहेंगे, अन्तमें ‘नहीं’ ही शेष रहेगा। गास्तुमें जो सदा है उस (अग्निशी परमात्मा) को प्राप्त कर लेनेमें ही शूरपीरता है। जो ‘नहीं’ है, उसे प्राप्त करनेमें कोई शूरपीरता नहीं है।

नाशगान् सासारिक पदार्थोऽको प्राप्त करके मनुष्य कभी भी बड़ा नहीं हो सकता। केवल बड़े होनेका भ्रम या धोखा हो जाता है और गास्तुमें अस्ती वडप्पन (परमात्मप्राप्ति) से वञ्चित हो जाता है। नाशगान् पदार्थेके कारण माना गया वडप्पन कभी टिकना नहीं और परमात्माके कारण होनगला वडप्पन कभी मिट्टा नहीं। इसन्धिये जीव जिसका अश है, उस मर्गेवरि परमात्मा को प्राप्त करनेसे ही वह बड़ा होता है। इतना बड़ा होता है कि देवता भी उसका आठर करते हैं और कामना करते हैं कि वह हमारे लोकमें आये। इतना ही नहीं, म्यव अनन्तब्रह्माण्डाग्निपति भगवान् भी उसके अधीन हो जाते हैं। मैं तो हूँ भगवनका दाम भगत मेरे मुखुटमणि ।

पठुतिस्थानि मा पष्ठानि इन्द्रियाणि कर्यनि—(ओर गृही गौम भूम्से) प्रकृतिमें म्यिन मन और पौच्छो इन्द्रियोंको आकर्षित
Hinduism Discord Server <https://discord.gg/2PmMqzg>

भगवान्‌ने जिस प्रकार इमी श्लोकके पूर्वार्द्धमें जीवको अपनेमें स्थित न कहकर उसे अपना अशा बनाया है, उसी प्रकार श्लोकके उत्तरार्द्धमें मन तथा इन्द्रियोंको प्रकृतिका अशा न कहकर उन्हें प्रकृतिमें स्थित बतलाया है। तात्पर्य यह है कि भगवान्‌का 'अशा' जीव सदा भगवान्‌में ही 'स्थित' है और प्रकृतिमें 'स्थित' मन तथा इन्द्रियाँ प्रकृतिके ही 'अशा' हैं।

यहाँ बुद्धिका अन्तर्भौप्र 'मन' शब्दमें (जो अत करणका उपलक्षण है) और पाँच कर्मेन्द्रियों एव पाँच प्राणोंका अन्तर्भौवि 'इन्द्रिय' शब्दमें मान लेना चाहिये।

भगवान्‌के उपर्युक्त कथनका तात्पर्य यह है कि मेरा अशा जीव मुझमें स्थित रहता हुआ भी भूलसे अपनी स्थिति शरीर, इन्द्रियों, मन, बुद्धिमें मान लेता है। जोसे शरीर, इन्द्रियों, मन, बुद्धि प्रकृतिका अशा होनेसे कभी प्रकृतिसे पृथक् नहीं होते, वेसे ही जीव भी मेरा अशा होनेसे कभी मुझसे पृथक् नहीं होता, हो सकता नहीं। परतु वह जीव मुझसे गिरुख होपर मुझे भूल गया है।

यहाँ मन और पाँच इन्द्रियोंकी गणनामा तात्पर्य यह है कि इन छहोंसे सम्बन्ध जोड़कर ही जीव वै भए हैं। अत माध्यकको इनसे तादात्म्य, ममता ओर कामनामा सम्बन्ध नहीं रखना चाहिये। मन और इन्द्रियोंको अपना मानना (उनसे अपना सम्बन्ध मानना) ही उन्हें आकर्षित करना है।

चिद्रोप वात

मनुष्य भूलसे शरीर, ल्ती, पुत्र, धन, मकान, मान, बडाई आदि नाशान् प्रस्तुओंको अपनी ओर अपने लिये मानकर हु खी

होता है। इससे भी नीची बात यह है कि इस सामग्रीके पेंडा और सग्रहको लेकर वह अपनेको बड़ा मानने लगता है, जब कि वास्तवमें इन्हें अपना मानते ही इनका दास (गुलाम) हो जाता है। हमें पना लगे या न लगे हम जिन पदार्थोंकी आनश्वरता समझते हैं, जिनमें कोई विशेषता या महत्त्व देखते हैं या जिनकी हम गरम रखते हैं, वे (धन, निधा आदि) पदार्थ हमसे बढ़े और हम उनसे तुच्छ हो ही गये। पदार्थोंके मिलनेमें जो अपना महत्त्व समझता है, वह वास्तवमें तुच्छ ही है, चाहे उसे पदार्थ मिलें या न मिलें।

भगवान्‌वा दास होनेपर भगवान् कहते हैं—‘मैं तो इन्हें भगतनका दास, भगत मेरे मुकुटमणि’। परतु जिसके हम दास बने हुए हैं, वे धनादि जड़ पदार्थ कभी नहीं कहते—‘लोभी मेरे मुकुट मणि’। वे तो केवल हमें अपना दास बनाते हैं। वास्तवमें भगवान्‌को अपना जानवर उनकी शरण हो जानेसे ही प्राणी बड़ा बनता है, ऊँचा उठता है। इतना ही नहीं, भगवान् ऐसे भक्तों अपनेसे भी बड़ा मान लेते हैं और कहते हैं—

अहं भक्तपराधीनो ईस्यतन्त्र इव द्विज ।

साधुभिर्भृत्यो भक्तैर्भक्तजनप्रिय ॥

(श्रीमद्भा० ९। ४। ६३)

‘ऐ द्विज ! मैं भक्तोंके पराधीन हूँ, म्वतन्त्र नहीं। भक्तजन मुझे अत्यन्त प्रिय है। मेरे हृदयपर उनका पूर्ण अधिकार है।’

कोई भी सांसारिक व्यक्ति, पदार्थ क्या हमें इतनी बड़ाई दे सकता है ?

यह जीव परमात्माका अश होते हुए भी प्रकृतिके अश शरीरदिक्को अपना मानकर स्वय अपना अपमान बरता है और अपनेको नीचे गिराता है। यदि हम इन शरीर, इन्द्रियों, मन आदि सासारिक पदार्थके दास न बनें, तो हम भगवान्‌के भी डैष हो जायें—‘इषोऽसि मे दद्धमिति’ (गीता १८ । ६४) । भगवान् इतने प्रेमी हैं कि जो उन्हें जिस प्रकार भजते हैं, वे भी उन्हें उसी प्रकार भजते हैं—‘थे यथा मां प्रपद्यन्ते तास्तथैव भजाम्यहम् ।’ (गीता ४ । ११) । जिन्होंने भगवान्‌को प्राप्त कर लिया है, उन्हें भगवान् अपना प्रिय कहते हैं (गीता १२ । १३—१९) । परतु जिन्होंने भगवान्‌को प्राप्त नहीं किया है, किंतु जो भगवान्‌को प्राप्त करना चाहते हैं, उन साधकोंको तो वे अपना ‘अत्यन्त प्रिय’ कहते हैं—‘भक्तास्तेऽतीव मे प्रिया’ (गीता १२ । २०) । ऐसे परम दयालु भगवान्‌को, जो साधकोंको ‘अत्यन्त प्रिय’ और सिद्ध भक्तोंको केवल ‘प्रिय’ कहते हैं, हम अपना नहीं मानते—यह हमारा कितना प्रमाण है ॥ ७ ॥

सम्बन्ध—

मनसहित इन्द्रियोंको अपना साननेके कारण जीव किस प्रकार उन्हें साध लेकर अनेक योनियोंमें धूमता है—इसका भगवान् दृष्टान्तसहित वर्णन करते हैं ।

श्लोक—

शरीर यद्याप्नोनि यच्चाप्युत्कामतीश्वर ।
गृहीत्वैतानि सयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥ ८ ॥

भावार्थ—

शरीर, इन्द्रियाँ, मन' ओर बुद्धिमा 'ईश्वर अर्थात् जी जिस शरीरको त्यागता है, वहाँसे मनसहित इन्द्रियोंको प्रहण की फिर जिस शरीरको प्राप्त करता है, उसमें वैसे ही चला जाता जैसे वायु गन्धके स्थान (इत्र, पुष्पादि) से गन्ध ले जाती है।

अन्वय—

वायु जाशयात्, गन्धान्, इव, इश्वर, अपि, यत्, (शरीरम उत्क्रामति, (तम्भात्,) एतानि, गृहीत्वा, च, यत्, शरीर अवाप्नोति, (तत्,) स्याति ॥ ८ ॥

पदन्वयाम्ब्या—

वायु जाशयात् गन्धान् इव—वायु गन्धके स्थान, (इत्र, पुष्पादि) से जैसे गन्धको प्रहण करके ले जाती है।

जिस प्रकार वायु इत्रके फोहेसे गन्ध ले जाती है, किंतु वह गन्ध स्थायीरूपमें वायुमे नहीं रह पाती, क्योंकि वायु और गन्धमा सम्बन्ध नित्य नहीं ह, इसी प्रकार इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, स्वभाव आदि (सूक्ष्म और कारण—दोनों शरीरों) को अपना माननेके कारण जीवात्मा उन्हें साथ लेकर दूसरी योनिमें जाता है।

जैसे वायु तत्त्वत् गन्धसे निर्भिस् हे, तेसे ही जीवात्मा भी तत्त्वत् मन, इन्द्रियाँ, शरीरादिसे निर्भिस् ह, पर इन मन, इन्द्रियाँ, शरीरादिमें मैं-मेरापनकी मान्यता होनेके कारण नह (जीवात्मा) इनका आकर्षण करता ह ।

जैसे वायु बाकाशका कार्य होकर भी पृथ्वीके अरा गांगा

होते हुए भी प्रकृतिके कार्य (प्रनिक्षण वदलनेवाले) शरीरोंको साथ लिये भिन्न-भिन्न योनियोग स्फिरता है। जड़ होनेके कारण गायुमें यह पिवेक नहीं है कि वह गन्धको ग्रहण न करे, परतु ईश्वर बननेवाली योग्यता बखनेवाले जीवात्माको तो यह पिवेक और सामर्थ्य मिला नहीं है कि वह जप चाहे, तप जडता (शरीर)से सम्बन्ध मिटा सकता है। भगवान्‌ने मनुष्यमात्रको यह खतन्त्रिता दे रखी है कि वह चाहे जिससे सम्बन्ध जोड़ सकता है और चाहे जिससे सम्बन्ध तोड़ सकता है। अपनी भूल मिटानेके लिये केवल अपनी मान्यता परिवर्तन करनेवाली आशयकता है कि प्रकृतिके अश इन स्थूल, मूल्यम और कारण शरीरोंसे मेरा (जीवात्माका) कोई सम्बन्ध नहीं है। किर जन्म-मरणके बन्धनसे सहज ही मुक्ति है।

भगवान्‌ने प्रस्तुत इलोकके चतुर्थ पादमें तीन शब्द दृष्टान्तके स्वरूपमें दिये हैं—(१) गायु, (२) गन्ध और (३) आशय। ‘आशय’ कहते हैं स्थानको, जैसे जड़आशय (जल×आशय) अर्थात् जलका स्थान। यहाँपर आशय नाम स्थूलशरीरका है। जिस प्रकार गन्धके स्थान (आशय) इत्रके फोहेसे वायु गन्ध ले जाती है और फोहा पीठे पड़ा रहता है। उसी प्रकार वायुरूप जीवात्मा गन्धरूप मूल्यम और कारण-शरीरोंको साथ लेकर जाता है, तब गन्धका आशय-रूप स्थूलशरीर पीठे रह जाता है।

ईश्वर अपि—ईश्वर (जीवात्मा) भी।

गीतामें तीन ईश्वरगेभार नर्णन आता है—(१) साक्षात् परमात्मा, (२) नीवात्मा और (३) वायुरी-सम्पत्तिसे युक्त पुरुष।*

* (१) भूतानाम् ईश्वर, (१ । ६), (२) यच्चायुत्कामति ईश्वर, (१५ । ८), (३) ईश्वर अहम् (७६ । १०)।

जीवको दो अक्तियों प्राप्त हैं—(१) प्राणशक्ति, निससे आसोंका आवागमन होना है और (२) इच्छाशक्ति, निससे भोगेंको पानेकी इच्छा करने हैं। प्राणशक्ति प्रतिक्षण (आसोन्दामके द्वारा) क्षीण होती रहती है। प्राणशक्तिका समाप्त होना ही मृत्यु कहलाना है। जड़का सग करनेसे कुछ करने और पानेकी इच्छा बनी रहता है। प्राणशक्तिके रहते हुए इच्छाशक्ति (अर्थात् कुछ करने और पानेकी इच्छा) मिट जाय, तो मनुष्य जीवनमुक्त हो जाता है। प्राणशक्ति नपु हो जाय और इच्छाएँ बनी रहें, तो दूसरा जन्म लेना ही पड़ता है। नया शरीर मिलनेपर इच्छाशक्ति तो बढ़ी (पूर्णजन्मरी) रहती है, प्राणशक्ति नयी मिट जाती है।

प्राणशक्तिका व्यय इच्छाओंको मिटानेमें होना चाहिये। नि स्वार्थभावसे सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें रत रहनेसे इच्छाएँ सुगमता पूर्वक मिट जाती हैं।

(नस्मात्) एनानि गृहीत्या—उस (शरीर)से उन (मन-सहित इन्द्रियों) को प्रटूण करके ।

यहाँ ‘गृहीता’ पदका तात्पर्य है—जो अपने नहीं हैं, उनसे राग, ममता, प्रियता जरना। जिन मन, इन्द्रियोंके माय अपनापन करके जीवत्वा उन्हें माय किये फिरता है, वे मन, इन्द्रियों कभी नहीं करतीं कि हम तुम्हारी हैं और तुम हमारे हो। इनपर जीवांग का जागमन भी चलता नहीं। जैसा चाहे पैसे गम सकता नहीं, परिमन ऊर मकता नहीं, किंवा भी इनके माय अपनापन गमना है, जो कि भूर ही है। गमनमें यह अपनापनका (गग, ममता युक्त) सम्बन्ध ही गाँवनेगग होता है।

ऋतु हमें प्राप्त हो या न हो, बढ़िया हो या घटिया हो,
हमारे काममें आये या न आये, दूर हो या पास हो, यदि उस
वस्तुओं हम अपना मानते हैं तो उमसे हमारा सम्बन्ध वना हुआ
ही है।

अपनी ओरसे ढोड़ बिना शरीरादिमें ममताका सम्बन्ध मरनेपर
भी नहीं हृष्टना। इसीन्द्रिये मृत शरीरकी हड्डियोंको गङ्गाजीमें डालने-
में उस जीवनी आगे गति होती है। इस माने हुए सम्बन्धको
दोडनमें हम सर्वथा स्वतन्त्र तथा सत्त्वल हैं। यदि शरीरके रहते हुए
ही हम उमसे अपनापन हटा दें, तो जीते ही मुक्त (जीवन्मुक्त या
शिद्देह) हो जायँ।

जो अपना नहीं है, उसे अपना मानना और जो अपना है,
उसे अपना न मानना—यह बहुत बड़ा दोष है, जिसके कारण ही
पारमार्थिक मार्गमें उन्नति नहीं होती।

इस श्लोकमें आया 'रत्तानि' पद सातमें श्लोकके 'मन पष्टानी-
न्द्रियाणि' (अर्थात् पोच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा मन)का ग्राचक है। यहाँ
'रत्तानि'पददो सत्रह तत्त्वोंके समुदायरूप सूक्ष्मशरीर एवं कारण-
शरीर (स्वभाव)का वोपक मानना चाहिये।

च यत् शरीरम् अवान्नोनि (तत्) मयानि—फिर जिस
शरीरको प्राप्त होता है, उसमें जाता है।

गीताके दूसरे अध्यायके बाईसमें श्लोकमें भगवान् ने कहा है—
'जेमे मनुष्य पुराने यज्ञोंको त्यागकर दूसरे नये यज्ञोंको ग्रहण करता

है, वैसे ही जीवामा पुराने शरीरोंको त्यागकर दूसरे नने शरीरोंमें
प्राप्त होना है। * यही भाव उपर्युक्त पदोंका भी समझना चाहिये।

वास्तवमें शुद्ध चेतन (आत्मा)का मिसी झरीरको प्राप्त
करना और उसे त्यागकर दूसरे झरीरमें जाना हो नहीं सकता, क्योंकि
आत्मा अचल और समानरूपसे सर्वत्र व्याप्त है। † शरीरोंका ग्रहण
और त्याग परिच्छिन्न (एकदेशीय) तत्त्वके द्वारा ही होना सम्भव
है, जबकि आत्मा कभी मिसी भी देश-कालादिमें परिच्छिन्न नहीं हो
सकता। परतु जब यह आत्मा प्रकृतिके कार्य शरीरसे तादात्म्य कर
लेता है अर्थात् प्रकृतिस्थ हो जाता है, तब (स्थूल, सूक्ष्म और
कारण—तीनों शरीरोंमें अपनेको तथा अपनेमें तीनों शरीरोंको धारण
करने अर्थात् उनमें अपनापन करनेसे) वह प्रकृतिके कार्य शरीरोंका
ग्रहण-त्याग करने लगता है तात्पर्य यह है कि झरीरको 'मीं' और
'मेरा' मान लेनेके कारण आत्मा सूक्ष्म शरीरके आने-जानेको अपना
आना-जाना मान लेता है। प्रकृतिके कार्य शरीरसे तादात्म्य मिट
जानेपर अर्थात् जब इन (स्थूल, सूक्ष्म और कारण) शरीरोंसे
आत्माका माना हुआ सम्बन्ध नहीं रहता, तब ये शरीर अपने कारण-
भूत समष्टि तत्त्वोंमें लौन हो जाते हैं। सारश यह है कि पुनर्जन्ममात्रा
मूल कारण जीवका शरीरसे माना हुआ तादात्म्य ही है।

* गारासि जोणानि यथा निदाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।

तथा शरीराणि निदाय जोणान्यन्यानि स्थाति नवानि देही ॥

(३ । २२)

† नित्य नर्गतः स्थाणुरस्त्वोऽस सनातन ॥ (३ । २४)

अनिष्टि तादात्म्यमिति तत्त्वः

विशेष वात

जब हम कोई (शुभ या अशुभ) कर्म बरते हैं, तब दो बातें होती हैं—कर्म होना और स्वभाव बनना । कर्मका फल-अशा (सञ्चित-रूपमें) अदृष्ट रहता है, जिससे प्रारम्भ बनता है । कर्मका चिन्तन-अशा दृष्ट रहता है, जो स्वभाव बहलाता है ।

दूसरे जन्मकी प्राप्ति अन्तकालमें हुए चिन्तनके अनुसार होती है । जिसका जसा स्वभाव होता है, अन्तकालमें उसे प्राय वैसा ही चिन्तन होता है । जैसे, जिसका कुत्ते पालनेवा स्वभाव होता है, अन्तकालमें उसे कुत्तेका चिन्तन या सकल्प * होता है । वह सकल्प आकाशवाणी-केन्द्रके द्वारा प्रसारित (पिशेष शक्तियुक्त) धनिकी तरह सब जगह फैल जाता है । जैसे आकाशवाणी-केन्द्रके द्वारा प्रसारित धनि रेडियोके द्वारा (किमी पिशेष नगरपर) पफड़में आ जाती है, वैसे ही अन्तकालीन कुत्तेका सकल्प सम्बन्धित कुत्ते (जिसके साथ कोई ऋणात्मक अथवा कर्मों आदिका कोई-न-कोई सम्बन्ध है ।) के द्वारा पफड़में आ जाता है । फिर जीव मूल्यम और कारणशरीरको साथ लिये अन्, जल, वायु (इसास) आदिके द्वारा उस कुत्तेमें प्रविष्ट हो जाता है । फिर कुत्तियामें प्रविष्ट होकर गर्भ बन जाता है और निर्दित समयपर कुत्तेके शरीरसे जन्म लेता है ।

* राग द्वेषपूर्वक सासारिक धियोंका चित्तन 'मकल्प' कहलाता है, जैसे—कैमरेके शीशेपर पढ़ी आङृति, जो भीतर (फिल्मपर) अकित हो जाती है । राग द्वेषरहित जो चित्तन होता है, उसे 'स्फुरणा' कहते हैं,—जैसे दर्पणपर पढ़ी आङृति, जो उसपर अकित नहीं होती है ।

भगवान्‌ने हमें यह मनुष्य-शरीर अपना उद्धार करनेके लिये दिया है, सुख-दुःख भोगनेके लिये नहीं। जैसे, ब्राह्मणको गाय दान करनेपर हम उसे चारा-पानी तो दे सकते हैं, पर दी हुई शाश्वत दूध पीनेका हमें अधिकार नहीं है, वैसे ही मिले हुए शरीरका सदुपयोग करना हमारा कर्तव्य है, पर इसे अपना मानकर सुख भोगनेका हमें अधिकार नहीं है।

विशेष बात

विषय-सेवन करनेसे परिणामत निषयोंमें राग-आसक्ति ही बढ़ती है, जो कि पुनर्जन्म तथा सम्पूर्ण दुखोंका कारण है। निषयोंमें वस्तुत सुख है भी नहीं। केवल आरम्भमें भ्रमनश सुख प्रतीत होता है।* यदि निषयोंमें सुख होता तो जिनके पास प्रज्ञ भोग-सामग्री है, ऐसे बड़-बड़े धनी, भोगी और पदाभिकारी तो मुझी

* ये हि सम्पर्क भोगा दुखयोनये एव ते।

अग्रन्तवन्त कौन्तेय न तेषु रमते दुध ॥

(गीता ५। २२)

‘जो ये इन्द्रिय तथा विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले सब भोग हैं, वे नि सन्देह दुखये ही हेतु हैं और आदि-आत्माने अर्थात् अनित्य हैं। इसलिये हे अज्ञन ! बुद्धिमार् विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता !’

निषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदेऽमृतोपमम् ।

परिणामे प्रियमिव तत्त्वुत्त राजय रमृतम् ॥

(गीता १८। ३८)

‘जो सुख विवर्य और इन्द्रियोंके संयोगसे होता है वह पहले— भोगकालमें अमृतये त्रुत्य प्रतीत होनेपर भी परिणाममें निषये त्रुत्य है। इसन्त्ये वह सुख राजस दहा गया है ॥

हो ही जाते, पर विचारपूर्वक देखनेपर पता चलता है कि वे भी दुखी, अशात ही हैं। कारण यह है कि भोग-पदार्थोंमें सुख है नहीं, हृषि नहीं, होगा नहीं और हो सकता भी नहीं। सुख लेनेकी इच्छासे जो-जो भोग भोगे गये, उन-उन भोगोंसे धर्य नष्ट हुआ, ध्यान नष्ट हुआ, रोग उत्पन्न हुए, चिन्ता हुई, व्यग्रता हुई, पश्चात्ताप हुआ, वैद्यज्ञती हुई, बल गया, धन गया, शान्ति गयी एवं प्रायः दुख-शोक-उद्वेग आये—ऐसा यह परिणाम विचारशील व्यक्तिके प्रत्यक्ष देखनेमें आता है।*

जिस प्रकार स्वप्नमें जल पीनेसे व्यास नहा मिटती, उसी प्रकार भोग-पदार्थोंसे न तो शान्ति मिलती है ओर न जलन ही मिटती है। सुख सोचता है कि इतना धन हो जाय, इतना सम्राह हो जाय, इतनी अमुक-अमुक) वस्तुण् प्राप्त हो जायें तो शान्ति मिल जायगी, किंतु उतना हो जानेपर भी शारीर नहीं मिलती, उल्टे वस्तुओंके मूलनेसे उनकी लालसा ओर बढ़ जाती है।† धन आदि भोग-

* भोगा न सुक्ता वयमेव भुक्तास्तपो न तप्त ग्रयमेव तमा ।

कालो न यातो वयमेव यातास्तुणा न जीर्णा वयमेव जार्णा ॥

‘हमने भोगोंको नहीं भोगा, भोगने ही हम भोग लिया, हमने तप ही किया, स्वयं ही तप हो गये, वाल व्यतीत नहा हुआ, हम ही व्यतीत हो गये, तुणा जीर्ण नहीं हुइ, हम ही जीर्ण हो गये।’

† न जातु काम कामानामुपभोगेन शाम्यति ।

हविदा वृणवत्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥

(मनु० २।९४)

‘भोग पदार्थोंपे उपभोगसे कामना कभी शात नहीं होती, अपितु ते घीकी आहुति दालनेपर आग और भृष्ट उटती है, वैसे ही भोग उना भी भोगोंक भोगोंसे प्रगल होनी जाती है।’

पदार्थोंके मिलनेपर भी 'और मिल जाय,' 'और मिल जाय'—यह चलता ही रहता है। किंतु ससारमें जितना धन-धान्य है, किंतु सुन्दर खियों हैं, जितनी उत्तम वस्तुएँ हैं, वे सब-की सब एक से किसी एक व्यक्तिको मिल भी जायें, तब भी उनसे उसे तृप्ति न हो सकती *। इसका कारण यह है कि जीव अविनाशी परमात्मा अश तथा चेतन है और भोग-पदार्थ नाशवान् प्रकृतिके अंश तथा जैव हैं। चेतनकी भूख जड़ पदार्थोंके द्वारा कैसे मिट सकती है? मैं है पेटमें और हल्वा वाँधा जाय पीठपर, तो भूख कैसे मिट सकती है? प्यास लगनेपर बढ़िया-से-बढ़िया गरमागरम हल्वा पक्के भी प्यास नहीं मिट सकती। इसी प्रकार जीवको प्यास तो है चिन्मय परमात्माकी, पर वह उस प्यासको मिटाना चाहता है जह पदार्थोंके द्वारा, जिससे कभी तुमि होनेकी नहीं। तृप्ति तो दूर ही, ज्यो-ज्यो वह जड़ पदार्थोंको अपनाता है, त्यों-त्यों उसकी भूमि बढ़ती ही जाती है। यह उसकी जितनी बड़ी भूल है।

सामरको चाहिये कि वह आज ही यह दृढ़ विचार (निधय) कर ले कि मुझे भोगनुदिसे प्रियोंका सेवन करना ही नहीं है। उसका यह पक्का निर्णय हो जाय कि सम्पूर्ण ससार मिलत न हो गुणों तृप्ति नहीं कर सकता। विषय-सेवन न करनेका दृढ़ प्राप्त होनेमें इन्द्रियों निर्विषय हो जाती हैं, और इन्द्रियोंके निर्विषय हो जानेमें मन निर्विकल्प हो जाता है। मनके निर्विकल्प हो जानेसे दुर्दि-

* यत् पृथिव्या ग्रीहियम् हिरण्यं पशव ख्रिय ।

वृत्त सम हो जाती है, और बुद्धिके सम हो जानेसे परमात्माकी प्राप्तिका सत अनुभव हो जाता है,* क्योंकि परमात्मा तो सदा प्राप्त ही है। इयोंमें प्रवृत्ति होनेके कारण ही उनकी प्राप्तिका अनुभव नहीं हो पाता।

सुखभोग और संग्रह—इन दोमें जो आसक्त हो जाते हैं, उनके लिये परमात्मग्रासि तो दूर रही, वे परमात्माकी तरफ चलनेका एक निश्चय भी नहीं कर पाते।†

गोखामी श्रीतुलसीदासजी श्रीरामचरितमानसके अन्तमें प्रार्थना करते हैं—

कामिहि नारि पिभारि जिभि लोभिहि प्रिय जिभि दाम ।

जिभि रघुनाथ निरतर प्रिय लागहु भोहि राम ॥

(मानस ७ । १)

* इहैव तर्जिन सर्गो यथा साम्ये स्थित मन ।

निर्दोष हि सम ब्रह्म तस्माद्वशाणि ते स्थिता ॥

(गीता ५ । १९)

‘जिनका मन समभावमें स्थित है, उनके द्वारा इस जीवित अवस्थामें ही सम्पूर्ण सुखार जीत लिया गया है, क्योंकि सञ्चिदानन्दधन परमात्मा निर्दोष और सम है, इससे वे सञ्चिदानन्दधन परमात्मामें ही स्थित हैं।’

† भोगैश्वर्यप्रसक्तान् तयापद्मतचेतसाम् ।

व्यवसायात्मिका बुद्धि समाधौ न विधीयते ॥

(गीता २ । ४४)

‘भोगोंका नर्णन करनेवाली वाणीके द्वारा जिनका चित्त हर लिया गया है, जो भोग और ऐश्वर्यमें अत्यन्त आसक्त हैं, उन पुरुषोंकी परमात्मामें निश्चयात्मिका बुद्धि नहीं होती।’

जैसे कामीको खी (भोग) और लोभीको धन (सह)
 प्रिय लगता है, वैसे ही रघुनाथका रूप और रामनाम पुरो
 निरन्तर प्रिय लगे । तार्पण यह है कि जैसे कामी धाके रूपमें
 आकृष्ट होता है, वैसे ही मैं रघुनाथके रूपमें निरन्तर आकृष्ट हूँ
 और जैसे लोभी वनका सप्रह करता रहता है, वैसे ही मैं एक
 नामका (जपके द्वारा) निरन्तर सप्रह करता रहूँ । सप्तरका भाग
 और सप्रह निरन्तर प्रिय नहीं लगता—यह नियम है, पर भगवान् रूप
 रूप और नाम निरन्तर प्रिय लगता है । सतोंने भी अपना अदुर्भाव
 कहा है—

चास चास सर छाड़िया माया रस खारा हो ।
 नाम-सुधारस पीजिये छिन ; बारबारा हो ॥
 लगे मोहि राम पियारा हो ॥

सम्बन्ध—

पिठ्ठे तीन श्लोकोंमें जीवात्माके स्वरूपका वर्णन किया गया । उस विषयका उपस्थार करनेके लिये इस श्लोक
 ‘जीवात्माके स्वरूपको कौन जानता है और कौन न जानता’—इसका वर्णन करते हैं ।

श्लोक—

उल्कामतं स्थित वापि भुञ्जान वा गुणान्वितम् ।
 विमूढा नानुपदयन्ति पदयन्ति शानचभूप ॥१५॥

भारार्प—

शरीरका त्याग करते समय, अन्य शरीरको प्राप्त या
 रसमें स्थित होते समय अवगा भोगोंको भोगते समय (वृ
 निर्झित होते हुए) भी गुणोंसे सम्बन्ध माननेके कारण जीवा

मरने, जन्म लेने और भोग भोगनेवाला कहलाता है। जिस प्रकार कोई यक्षि स्वयं तो वही रहता है, परतु कार्य, परिस्थिति, दश, काल आदि बदलते रहते हैं, इसी प्रकार मृत्यु, जन्म, भोग आदि भिन्न भिन्न होनपर भी 'स्वयं' (आत्मा) सबमें एक ही रहता है। इस रहस्यको पिचेभी पुरुष ही ज्ञानरूप नेत्रोंसे देखते हैं। सासारिक भोग और सप्रहमें लगे हुए मोहप्रस्त पुरुष इस रहस्यको नहीं देख पते, क्योंकि भोगोंसे परे उनकी शुद्धि जाती ही नहीं।

अन्वय—

उत्कामन्तम्, वा, स्थितम्, वा, सुभानम्, अपि, गुगान्वितम्,
पिमूढा, न, अनुपश्यन्ति, ज्ञानचक्षुष, पश्यन्ति ॥ १० ॥

पट-व्याख्या—

उत्कामन्तम्—शरीरको त्यागफ़र जाते हुए।

स्थूल शरीरको छोड़ते समय जोप सूक्ष्म एव कारण शरीरको साय लेकर प्रस्थान करता है। इसी क्रियाको यहाँ 'उत्कामन्तम्' पदमे कहा है। जबतक हृदयमें धड़कन रहती है, तबतक जीव-का प्रस्थान नहीं माना जाता। हृदयकी धड़कन वर हो जानेके बाद भी जीव कुछ समयतक रह सकता है। वास्तवमें अचल होने-से शुद्ध चेतन-तत्त्वका आपागमन नहीं होता। प्राणोंका ही आपागमन होता है। परतु सूक्ष्म ओर कारण शरीरसे सम्बन्ध रहनेके कारण जीवका आपागमन कहा जाता है।

आठवें श्लोकमें ईश्वर बने जीवात्माके प्रियमें आये 'उत्कामति' पदको यहाँ 'उत्कामन्तम्' नामसे कहा गया है।

वा स्थितम्—अथवा स्थित हुए अर्थात् दूसरे रासके प्राप्त हुए ।

जिस प्रकार कमरेपर वस्तुका जैसा प्रतिमित्र पड़ता है, उसका वैसा ही चित्र अकित हो जाता है । इसी प्रकार मृत्युके समय अन्त करणमें जिस भावका चिन्तन होता है, उसी आनन्दका सूक्ष्म शरीर बन जाता है । जैसे कमरेपर पडे प्रतिमित्रके अनुसार चित्रके तैयार होनेमें समय लगता है, वैसे ही अन्तकालीन चिन्तन के अनुसार भावी स्थूलशरीरके बननेमें (शरीरके अनुसार कम या अधिक) समय लगता है ।

आठवें श्लोकमें जिसका 'यदवाप्नोति' पदसे वर्णन हुआ है, उसीको यहाँ 'स्थितम्' पदसे कहा गया है ।

वा भुज्ञानम् अपि—अथवा विषयोको भागते हुए भी ।

मनुष्य जब विषयोको भोगता है, तब अपनेको बड़ा सावगन मानता है और विषय-सेवनमें सावगन रहता भी है । विषयी प्राणी शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्त्र—इन एक-एक विषयोंको अच्छी तरह जानता है । अपनी जानकारीसे एक-एक विषयोंको भी वही स्पष्टतासे वर्णन करता है । इतनी सावगनी खनेपर भी वह 'मृद' ही है, क्योंकि विषयोंके प्रति यह मानगनी किमी कामरी नहीं, अपितु मरनेपर नरकों और नीच योनियोंमें ले जानेगाती है ।

परमात्मा, जीवामा और ससार—इन तीनोंके विषयमें शर्तों और दार्शनिकोंके अनेक मतभेद हैं, परंतु जीवामा मसारके

सम्बन्धसे महान् दुःख पाता है और परमात्मके सम्बन्धसे महान् सुख पाता है—इसमें सभी शास्त्र और दार्शनिक एकत्र हैं।

समार एक क्षण भी विर नहीं रहता—यह अकाव्य नियम है। ससार क्षणभगुर है—यह ग्रात रहते, सुनते और पढ़ते हुए भी मूँह मनुष्य ससारको विर मानते हैं। भोग-सामग्री, भोक्ता एवं भोगरूप क्रिया—इन सभी स्थायी माने गिना भोग हो ही नहीं सकता। भोगी मनुष्यकी बुद्धि इतनी मूँह हो जाती है कि वह ‘इन भोगोंसे गड़कर कुछ है ही नहीं’—ऐसा हठ निश्चय फरलेना है।* इसीलिये ऐसे पुरुषोंके ज्ञाननेत्र उड़ ही रहते हैं। वे मौतको निश्चित जानते हुए भी मदिरा-मदान्पक्षी तरह भोग भोगनेके लिये (मर्त्येगलो-के लोकमें रहते हुए भी) सदा जीने रहनेकी इच्छा रखते हैं।

‘अपि’ पदका भाव है कि जीवत्मा जिस समय स्थूलशरीर-से निश्लफर (सूक्ष्म एवं कारण शरीरसहित) जाता है, दूसरे गरीबको प्राप्त होता है तथा विषयोक्ता उपभोग करता है—इन तीनों ही अवस्थाओंमें गुणोंसे लित दीखनेपर भी गास्त्रमें वह स्थय निर्लिप्त ही रहता है। वास्तविक स्वरूपमें न ‘उत्क्रामग’ है, न ‘स्थिति’ है और न ‘भोक्तापन’ ही है। इसीलिये गीतामें अन्यत्र कहा गया है कि

* चित्तामपरिमेया कामोपभोगरसमा च एतागदिति निश्चिता ॥
(गीता १६ । ११)

“(आमुरी प्रहृतिगले मनुष्य) मृत्युपर्यंत रहनेवाली असख्य चित्ताओंका आश्रय लेनेवाले, विषयभोगोंके भोगनेमें तत्पर रहनेवाले और ‘इतना ही सुख है, इस प्रकार माननेवाले होते हैं।”

शरीरमें रहते हुए भी जीवात्मा न कुछ करता है 'और न किए होता है—

शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥ (१३।३१)
‘देहेऽस्मिन् पुरुषं पर ॥ (गीता १३।१)

पिछले श्लोकके ‘विप्रयानुपसेवते’ पदको ही यहाँ ‘मुक्तन्’ पदसे कहा गया है ।

गुणान्वितम्—गुणोंसे युक्त हुएको ।

यहाँ ‘गुणान्वितम्’ पदका तात्पर्य यह है कि गुणोंसे सम्बन्ध मानते रहनेके कारण ही जीवात्मामें पूर्वपर्णित उत्कमण, स्थिति और भोग—ये तीनों क्रियाएँ प्रतीत होती हैं ।

वास्तवमें जीवात्माका गुणोंसे सम्बन्ध है ही नहीं । अन्तस्ते ही इसने अपना सम्बन्ध गुणोंसे मान रखा है, जिसके कारण उसे वारबार ऊँच-नीच योनियोंमें जाना पड़ता है ।* गुणोंसे सम्बन्ध जोड़े-जोड़े जीवात्मा समारसे सुख चाहता है—यह उसकी मूल है । सुख लेनेके लिये शरीर भी अपना नहीं है, अन्यकी तो ब्रात ही क्या है ।

मनुष्य मानो किसी-न-किसी प्रकारमें ससारम् ही पैसन चाहता है । व्याख्यान देनेवाला व्यक्ति श्रोताओंको अपना माला

* पुरुष प्रहृतिम् दि शुद्धते प्रहृतिजन्मगुणान् ।

कारण गुणसङ्घोऽस्य उदसन्योनिजममु ॥

(१३।११)

‘प्रहृतिमें स्थित हुआ मुक्त ही प्रहृतिने उत्कम तुप्र त्रिगुणात्मक पदार्थोंको भागता है और इन गुणोंका नज़ ही प्रहृतिम् पुरुषरे अन्तर्गत हुरी योनियांग जम तैयांमें हेतु है ।

लग जाना है। किसीका भाई-बहन न हो, तो वह धर्मका भाई-बहन बना लेना है। किसीका पुत्र न हो, तो वह दूसरेका बाल्क गोद ले लेना है। इस प्रकार नयेनये सम्बन्ध जोड़कर मनुष्य चाहता तो सुख है, पर पाना दुख ही है। इसी गतको भगवान् कह रहे हैं कि जीव स्वरूपसे गुणातीत होते हुए भी गुणों (अथवा देश, काल, व्यक्ति, रस्ता) से सम्बन्ध जोड़कर उनसे बँध जाना है।

इसी अध्यायके सातमें श्लोकमें आये 'प्रकृतिस्थानि' पदको ही पहाँ 'गुणान्वितम्' पदसे कहा गया है।

मार्मिक वात

(१) जगतक मनुष्यका प्रकृति अथवा उसके कार्य—गुणोंसे किञ्चिन्मात्र भी सम्बन्ध रहता है, तगतक गुणोंके अधीन होकर उसे कर्म करनेके लिये ग्राव्य होना पड़ता है।* चेतन होकर गुणोंके अधीन रहना अर्थात् जड़की प्रतन्त्रता स्थिकार करना व्यभिचार-दोष है। प्रकृति अथवा गुणोंसे सर्वथा मुक्त होनेपर जो स्वाधीनताका अनुभव होता है, उसमें भी सापक जवतक (अहकी गन्ध रहनेके कारण) रस लेता है, तगतक व्यभिचार-दोष रहता ही है। इस

* न हि कथित्वगमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।

कार्यते ह्यवश कर्म सर्वं प्रकृतिजैर्गुणे ॥

(३।०)

'नि सदेह कोई भी मनुष्य किसी भी कालमें क्षणमात्र भी विना कर्म किये नहीं रहता, क्योंकि सारा मनुष्य समुदाय प्रकृतिजनित गुणोंद्वारा परवश हुआ कर्म करनेके लिये ग्राव्य किया जाता है।'

न लेनेसे जब यह व्यभिचार-दोष मिट जाता है, तप अपने प्रेमसर्वमगवान्‌के प्रति खन प्रियता जाग्रत् होती है । फिर प्रेमहीने रह जाता है, जो उत्तरोत्तर वृद्धिको प्राप्त होता रहता है । इस प्रेमको प्राप्त करना ही जीवका अन्तिम लक्ष्य है । इस प्रेमकी प्राप्तिमें ही पूर्णता है । भगवान् भी भक्तको अपना अनौपिक प्रेम देकर ही प्रसन्न होते हैं और ऐसे प्रेमी भक्तको योगियोंमें परमश्री योगी मानते हैं ।*

गुणानीत होनेमें (स्थयका प्रिवेक सहायक होनेके लाभ) ते अपने साधनका सम्बंध रहता है, पर गुणानीत होनेके लाभ प्रेमकी प्राप्ति होनेमें भगवान्‌की वृपाका ही सम्बन्ध रहता है ।

(२) जब भजन-साधन, ससङ्घ, शुभर्कर्म करनेसे परमार्थ विषयक नयी-नयी बातें समझमें आती हैं, ज्ञान बढ़ता है, शान्ति मिलती है, उस समय सापरक्तों प्रिशेष सामवान रहना चाहिये तात्पर्य यह है कि जप, भजन, ध्यानादिके कारण ज्ञान बढ़ने शान्ति मिलनेसे जो सात्त्विक सुख मिलता है, उससे सापरक्तों अवस्था सम्बंध नहीं जोड़ना चाहिये अर्थात् उस सुखका रस नहीं स्वेच्छा हिये, क्योंकि सत्त्वगुणसे उत्पन्न होनेवाला सुख भी वैष्णवका

* योगिनामपि सर्वेषां मद्भूतेनान्तरामना ।

अद्वायान्भूते यो मा स मे युक्ततमो भत ॥

(गीता ६ । ४७)

'सम्पूर्ण योगियाम भी जो धर्मादान योगी भुक्षमें लगे एवं ज तरामा

होता है* । इमसे परमात्मप्राप्तिमें पितॄन्न हो सकता है । अनु गुणानीत होनेके लिये साधकको फिसी भी गुणसे सम्बन्ध नहीं रखना चाहिये, चाहे वह सत्त्वगुण ही क्यों न हो ।

विमूढा न अनुपश्यन्ति—अज्ञानीजन नहीं जानते ।

जो वास्तवमें अपने हैं, उन परमात्मासे पिमुख होकर जड़ और नाशयान् समारको अपना मानना ही विमूढता है । तात्पर्य यह है कि मनुष्यको ससार (प्रकृति) अथवा परमात्मासे शरीर योग्यना, भोग-यदार्थ, धन आदि जो कुछ भी मिठा है, उन्हें अपना मनकर उनसे (अपने लिये ही) सुख लेना या सुख चाहना विमूढता अथवा अपने ज्ञानका निरादर है ।

जैसे भिन्न-भिन्न प्रकारके कार्य करनेपर भी हम वही रहते हैं, वैसे ही गुणोंसे युक्त होकर शरीरको त्यागते, अन्य शरीरको प्राप्त होते तथा भोग भोगते समय भी ‘स्वय’ (आत्मा) वही रहता है । तात्पर्य यह है कि परिवर्तन क्रियाओंमें होता है ‘स्वय’ में नहीं । परतु जो भिन्न-भिन्न क्रियाओंके साथ मिलकर ‘स्वय’ को भी भिन्न-भिन्न देखने लगता है, ऐसे अज्ञानी (तत्पक्षो न जाननेवाले)

* तत्र सत्यं निर्मलत्यात्मप्रकाशकमनामयम् ।

सुपसङ्घेन वध्नाति ज्ञानसङ्घेन चानघ ॥

(गीता १४ । ६)

‘हे निष्पाप ! उन तीनों गुणोंमें सत्त्वगुण तो निर्मल होनेके कारण भक्तिय करनेवाला और विकाररहित है, वह सुखके सम्बन्धसे और ज्ञानके सम्बन्धसे बँधता है ।’

मनुष्यके लिये यहाँ 'विमूढा न अनुपश्यन्ति' पर दिये गये हैं ।*

मूढ़ लोग भोग और सप्रहमे इतने आसक्त रहते हैं कि शरीरादि पटार्व नित्य रहनेवाले नहीं हैं—यह चात सोचते ही नहीं । भोग भोगनेका क्या परिणाम होगा ? उस ओर वे देखते ही नहीं । भगवान्‌ने गीताके सप्रहमें अध्यायमें जहाँ सात्त्विक, राजस और तामस पुरुषोंको प्रिय लगनेवाले आहारोंका वर्णन किया है, † वहाँ सात्त्विक आहारके परिणामका वर्णन पहले किया गया है । राजस आहारके परिणामका वर्णन अत्तमें किया गया है और तामस आहारके परिणामका वर्णन ही नहीं किया गया है । इसका कारण यह है कि सात्त्विक पुरुष कर्म करनेसे पहले उसके परिणाम (फल) पर दृष्टि

* प्रहृते क्रियमाणाति गुणे कर्माणि सबदा ।

वाहकारविमूढात्मा क्षतोऽभिनि मन्यते ॥

(गीता ३४ २७)

'सम्पूर्ण कर्म सब प्रकारसे प्रकृतिके गुणोंद्वारा किये जाते हैं, तो भी चिछा अंत भरण अहंकारसे मोहित हो रहा है, ऐसा ज्ञानी नहीं बना हूँ—ऐसा भानता है ।'

† आयु सत्त्वपलागोऽयमुत्तमीनिविश्वर्णा ।

रस्या मनग्रासि रुद्धा आहारा सात्त्विकप्रिया ॥

फट्यम्बलामणात्पुण्यतादार्थाविदादिन ।

आदारा राजहस्तेष्या दुर्गशोकामयप्रदा ॥

यानवाग्म गउरम् वृत्ति पर्युरित च यत् ।

उत्तिष्ठमयि नामेष्य भोजन तामग्रिम् ॥

(गीता १३ । ८-१०)

रखता है, राजस पुरुष पहले सहमा काम कर बेटा है, फिर परिणाम चाहे जैसा आये, परतु तामस पुरुष तो परिणामकी तरफ दृष्टि ही नहीं डालता। इसी प्रकार यहाँ भी 'प्रिमूढ़ा न अनुपश्यन्ति' पद देकर भगवान् मानो यह कहते हैं कि मोहग्रस्त पुरुष तामस ही हैं, क्योंकि मोह तमोगुणका कार्य है। वे विषयोका सेवन करते समय परिणामपर विचार ही नहीं करते। केवल भोग भोगने और सम्राह करनेमें ही लगे रहते हैं। ऐसे पुरुषोका ज्ञान तमोगुणसे ढका रहता है। इस कारण वे शरीर और आत्माके भेदको नहीं जान पाते * ।

ज्ञानचक्षुप पश्यन्ति—ज्ञानरूप चक्षुओवाले (ज्ञानी) ही तत्त्वसे जानते हैं।

प्राणी, पदार्थ, घटना, परिस्थिति—कोई भी स्थिर नहीं है अर्थात् दृश्यमात्र निरन्तर अदर्शनमें जा रहा है—ऐसा प्रत्यक्ष अनुभव होना ही ज्ञानरूप चक्षुओंसे देखना है। परिवर्तनकी ओर दृष्टि होनेसे खत ही अपरिवर्तनशील तत्त्वमें स्थिति होती है, क्योंकि नित्य परिवर्तनशील पदार्थका अनुभव अपरिवर्तनशील तत्त्वको ही होता है।

* प्रिमिगुणमयैर्भावैरेभि
सर्वमिद जगत् ।
मोहित नाभिजानाति मामेभ्य परमव्ययम् ॥

(गीता ७ । १३)

गुणोंके कार्यरूप सात्त्विक, राजस और तामस—इन तीनों प्रकारके भावोंसे यह सारा सासार मोहित हो रहा है, इसीलिये इन तीनों गुणोंसे परे मुझ अविनाशीको नहीं जानता ।

मनुष्यके निये यहों 'विमूढा न अनुपदयन्ति' यदि निय
गये हैं।*

मूढ़ लोग भोग और सम्राट्में इतने आसक्त रहते हैं कि
शरीरादि पदार्थ नित्य रहनेवाले नहीं हैं—यह जात सोचते ही नहीं।
भोग भोगनेका क्या परिणाम होगा ? उस ओर वे देखते ही नहीं।
भगवान् ने गीताके सत्रहवें अध्यायमें जहों सात्त्विक, राजस और ताम्स
पुरुषोंको प्रिय लगनेवाले आहारोंका वर्णन किया है, † वहाँ सात्त्विक
आहारके परिणामका वर्णन पहले किया गया है। राजस आहारके
परिणामका वर्णन अन्तमें किया गया है और ताम्स आहारके
परिणामका वर्णन ही नहीं किया गया है। इसका कारण यह है कि
सात्त्विक पुरुष कर्म करनेसे पहले उसके परिणाम (फल) पर दृष्टि

* प्रकृते क्रियमाणानि गुणै कर्मणि नरश ।

अहकारमिमूढात्मा कर्ताहभिति मन्यो ॥

(गीता ३४ - ३)

प्रसम्पूर्ण कर्म सब प्रकारसे प्रकृतिरे गुणोदाग किये जाते हैं, तो भी
जिसका अन्त न रण अहकारसे मोहित हो रहा है, ऐसा अनानी भी क्षता
है—ऐसा मानता है।

† आयु सरामन्तरोगमुग्रप्रीतिविवर्धना ।

स्या स्नाधा ह्यरा दद्या आहारा सात्त्विकप्रिया ॥

कट्प्रस्त्ररगात्युषाताण्णरुक्षनिदादिन ।

आहारा रानहस्येष्टा दुर्दशोकामयप्रदा ॥

यातया गतरस पूति पर्दुषित च यत् ।

उच्छिष्टमनि चामध्य भोजन तामर्द्धियम् ॥

रखता है, राजस पुरुष पहले सहसा काम कर बैठता है, फिर परिणाम चाहे जैसा आये, परतु तामस पुरुष तो परिणामकी तरफ दृष्टि ही नहीं ठालता। इसी प्रकार यहाँ भी 'प्रिमूढा न अनुपश्यन्ति' पद देकर भगवान् मानो यह कहते हैं कि मोहप्रस्तु पुरुष तामस ही है, क्योंकि मोह तमोगुणका कार्य है। वे विषयोक्ता सेवन करते समय परिणामपर विचार ही नहीं करते। केवल भोग भोगने और सप्रह करनेमें ही लगे रहते हैं। ऐसे पुरुषोंका ज्ञान तमोगुणसे ढका रहता है। इस कारण वे शरीर और आत्माके भेदको नहीं जान पाते * ।

ज्ञानचक्षुप पश्यन्ति—ज्ञानरूप चक्षुओंवाले (ज्ञानी) ही तत्त्वसे जानते हैं।

प्राणी, पदार्थ, घटना, परिस्थिति—कोई भी स्थिर नहीं है अर्थात् दृश्यमात्र निरन्तर अदर्शनमें जा रहा है—ऐसा प्रत्यक्ष अनुभव होना ही ज्ञानरूप चक्षुओंसे देखना है। परिवर्तनकी ओर दृष्टि होनेसे खत ही उपरिवर्तनशील तत्त्वमें स्थिति होती है, क्योंकि नित्य परिवर्तनशील पदार्थका अनुभव अपरिवर्तनशील तत्त्वको ही होता है।

* निभिर्गुणमयैर्भविरेभि सर्वमिद जगत् ।

मोहित नाभिजानाति माभेभ्य परमव्ययम् ॥

(गीता ७ । १३)

गुणोंके कार्यरूप सात्त्विक, राजस और तामस—इन तीनों प्रकारके भावोंसे यह साग साग मोहित हो रहा है, इसीलिये इन तीनों गुणोंसे परे मुक्त अविनाशीको नहीं जानता ।

यहाँ ऐसा नहीं समझना चाहिये कि ज्ञानी पुरुषका भी स्थूल-शरीरसे निकलकर अन्य शरीरको प्राप्त होना तथा भोग भोगना होना है। ज्ञानी पुरुषका स्थूलशरीर तो छूटेगा ही, पर दूसरे शरीर-को प्राप्त करना तथा रागबुद्धिसे विषयोंका सेवन करना उसके द्वारा नहीं होते। गीतामें दूसरे अध्यायके तेरहवें श्लोकमें भगवान्‌ने कहा है कि जैसे जीवात्माकी इस देहमें बालकपन, जननी और वृद्धावस्था होती है, वैसे ही अन्य शरीरकी प्राप्ति होती है, परतु उस मिथ्यमें ज्ञानी पुरुष मोहित अथवा विकारको प्राप्त नहीं होता*। कारण यह है कि यह ज्ञानी पुरुष ज्ञानरूप चक्रुओंके द्वारा पद देखना है कि जन्म-मरणादि सब क्रियाएँ या विकार परिवर्तनशील शरीरमें ही हैं, अपरिवर्तनशील आत्मा ('त्वय') में नहीं। आमा इन विकारोंसे सब समय सर्वया निर्लिप्त रहता है। शरीरको अपना मनने तथा उससे सुख लेनेकी आशा रखनेसे ही विमूढ़ पुरुषोंके लादात्म्यके कारण ये विकार आत्मामें होते प्रतीत होते हैं। विमूढ़ पुरुष आत्माको गुणोंसे युक्त देखते हैं और ज्ञाननेत्रोंवाले पुरुष आत्माको गुणोंसे रहित—वास्तविक रूपसे देखते हैं।†

* देदिनोऽसि यथा देहे कीमार यीवन जरा।

तथा देदान्तप्राप्तिर्थोरस्त्र न मुश्विः ॥
(गीता २। ११)

† य एव यत्ति पुरुष प्रदृष्टिं च गुणं यद् ।

सर्वया वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजापते ॥

(गीता २। १२)

'इस प्रकार पुरुषको और गुणोंके उद्दित प्रदृष्टियोंजो मनुष्य तत्त्व से जानता है, यदि सब प्रकारने कांच्चर्म फरता हुआ भी निर नहीं जानता।'

भार्मिक घात

गीतामें तीन प्रकारके चक्षुओंका वर्णन है—(१) सचक्षु, (२) दिव्यचक्षु और (३) ज्ञानचक्षु * । ‘सचक्षु’ जड गरीब के होते हैं, जिनसे जड पदार्थ दीखते हैं, ‘दिव्यचक्षु’ भगवत्प्रदत्त होते हैं, जिनसे साकार भगवान् दीखते हैं और ‘ज्ञानचक्षु’ स्वय (आत्मा) के होते हैं, जिनसे प्रकृति और परमात्मा (अयथा जड-न्वेतन, सत्-असत्) का भेद दीखता है ।

ज्ञानचक्षुओंको प्राप्त करनेमें मनुष्यमात्र सतत्व है । परमात्माका अश होनेके कारण जीवात्मामें इतनी सामर्थ्य है कि वह अपने विवेकसे (जडताको त्यागकर) तत्त्वज्ञा अनुभव कर सकता है ।

भुक्ति (भोग) और मुक्ति-दोनों मनुष्यके उद्योग, पुस्तपार्थ-के अग्रीन हैं, पर भक्ति भगवान्का आश्रय होनेसे ही प्राप्त होती है । मुक्ति या मुक्ति जीवके अपने लिये है और भक्ति

* न तु मा शक्यमे द्रष्टुमनेनैव सचक्षुपा ।

दिव्य ददामि ते चक्षु पश्य मे योगमैश्वरम् ॥
(गीता १० । ८)

‘परतु मुक्ताको त् इन सचक्षुओंके द्वारा देखनेमें नि भटेह समर्थ नहीं है, इसीसे मैं तुझे दिव्यचक्षु देता हूँ, इससे तू मेरी ईश्वरीय योगशक्तिको देखा ।’

क्षेत्रक्षेत्रशयोरिवमन्तर ज्ञानचक्षुश्च ।

भूतप्रवृत्तिमोक्ष च ये विद्यान्ति ते परम् ॥
(गीता १३ । ३८)

‘इस प्रकार क्षेत्र और क्षेत्रशक्तिमें भेदको तथा कार्यसहित प्रवृत्तिसे मुक्त होनेको जो पुरुष ज्ञानचक्षुओंपे द्वारा तत्त्वसे जानते हैं, वे परमात्माको प्राप्त होते हैं ।’

भगवान्‌को रस देनके लिये है। जीर पहले क्रिये गये भोगोंका फल भोगनेमें तो प्रतन्त्र है,* पर नये भोग भोगने अथवा न भोगनेमें स्वतन्त्र है। जडताको महत्त्व देनेके कारण जीव स्वयं बननमें पड़ा है, अन जडताको महत्त्व न देकर वही स्वयं (जीवात्मा) मुक्त भी हो सकता है ॥ १० ॥

मम्बाध—

अब भगवान् यह बतलाते हैं कि पिछले श्लोकमें घण्टित तत्त्वको जो पुरुष यत्त रहनेपर जानते हैं, उनमें क्या विशेषता है; और जो यत्त करनेपर भी नहीं जानते, उनमें क्या कमी है ।

श्लोक—

यतन्तो योगिनदचैन पद्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।

यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैन पद्यन्त्यचेतसा ॥११॥

* वैविद्या मा सोमपा पूनपापा यज्ञेरिष्टा न्यर्गतिं प्रार्थयन्ते ।

ते पुण्यमासाद्य मुरेन्द्रलोकगदनति दिव्यान्दिवि देवभोगान् ॥

ते त भुक्त्यास्वर्गच्चेन विशाल क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोक रिगान्ति ।

एत व्रीष्मर्ममनुप्रपदा गतागत कामकामा लभन्ते ॥

(गीता ९ । २० २१)

‘तीनों देशोंमें विवाह किये हुए सभाम कमोंको करनेवाले, सोमरस को पीनेवाले, पानरहित पुरुष मुक्तको (अथात् इन्द्रको) यज्ञके द्वारा पूज्यकर न्यर्गसी प्राप्ति चाहते हैं, वे पुरुष अरो पुण्योंके पञ्चव्य त्वगनाक को प्राप्त होकर न्यगमें दिव्य देवताओंके भोगोंको भोगते हैं ।’

‘व उम विशाल न्यगनोरुक्तो भोगज्ञ पुण्य क्षीण होनेपर गृह्णुन्मेळ को प्राप्त होते हैं । इस प्रकार (न्यर्गके ग्राधनस्प) तीनों देशोंमें कहे हुए सभाम कमका आधय लेनेवाले और भोगोंकी धामनावाले पुरुष यात्यार आपायज्ञस्त्रे यात् होते हैं ।’

भावार्थ—

समना (निर्द्वन्द्वता) को प्राप्त करना ही जिनका एकमात्र उद्देश्य है, ऐसे पुरुष योगी ऋहलाते हैं। वे यत्न करके अपने-आपमें स्थित उस तत्त्वका अनुभव कर लेते हैं। सत्सारसे सम्बन्ध-विच्छेद करना ही जीवका सबसे बड़ा यन है। तत्त्व तो स्वत प्राप्त ही है। अत निष्प्राप्त तत्त्वकी प्राप्तिके लिये यन करनेकी आनश्वरता नहीं है। कारण यह है कि यनमात्र गुणोंके आश्रयसे होता है, परतु 'खय' गुणोंमें सर्वथा अतीत है। यनकी आनश्वरता केवल असाधन (ससारका सम्बन्ध) मिटानेके लिये है।

समताको प्राप्त करना जिनका उद्देश्य नहीं है, और भोग एव सम्बन्धमें ही जिनकी रचि है, ऐसे पुरुष यन (अर्थात् शास्त्रोंका श्रवण-भनन, आत्मानात्मविश्वक आलोचन आदि) करते हुए भी तत्त्वका अनुभव नहीं कर पाते।

यहाँ भगवान्‌ने पिठेश्लोकमें आये 'ज्ञानचक्रुष' और 'पिमूढ़ा' पदोंसे वर्णित पुरुषोंका ही मिवेचन क्रमशः 'योगिन' और 'अहृता-मान अचेतस' पदोंसे किया है।

अन्वय—

योगिन, आत्मनि, अवश्यितम्, एनम्, यतन्त, पश्यन्ति, च,
अहृतात्मान, अचेतम्, यतन्त, अपि, एनम्, न, पश्यन्ति ॥ ११ ॥

पद-व्याख्या—

योगिन —योगीजन।

यहाँ 'योगिन', पद उन साधकोंका नाम है, जिनका एकमात्र उद्देश्य सिद्धि-असिद्धिमें सम रहनेका बन चुका है। पाँचवें अध्यायके

ग्यारहवें श्लोकमें भी 'योगिन' पद इन्हीं सामर्जोंके लिये आया है।

जिसने तत्त्वको प्राप्त करनेका दृढ़ निष्ठय कर लिया है, उस योगीमें निष्काममान स्वत आता है, क्योंकि परमात्माको चाहनेवाल कभी भोगोंको नहीं चाह सकता और भोगोंको चाहनेवाल कभी योगी नहीं हो सकता। एकमात्र तत्त्वको प्राप्त करनेके दृढ़ निष्ठपने ऐसी शक्ति है कि तत्त्व-प्राप्तिके आवश्यक साधन स्वत प्राप्त हो जते हैं। जैसे धन-प्राप्तिके उद्देश्यसे व्यापार-क्षेत्रमें आये लोगोंके मन्मेधन-प्राप्तिके नये-नये साधन या युक्तियाँ स्वत आती रहती हैं वैसे उनके सारे यन उद्देश्यकी सिद्धिके लिये ही होते हैं। ऐसे ही तत्त्व प्राप्तिका उद्देश्य हो जानेपर साधकको तत्त्व प्राप्तिके साधन पर युक्तियाँ स्वत प्राप्त होती हैं और चाटे जैसी (जावन या सदायक) परिस्थिति आये, प्रत्येक परिस्थितिमें साधनके सारे यन उद्देश्यर्थी सिद्धिके लिये ही होते हैं।

कर्ता अपनेमें जैसी 'अहता' उद्धतासे मान लेता है, उसमे प्रत्येकसे ही कर्म होते हैं। अपनेको जिज्ञासु माननेपर जिज्ञासामूर्तिर्मुच्छ बैणा स्वत होती है। मनुष्यका उद्देश्य केवल तत्त्व प्राप्तिका हीनेसे उसकी अहताका परिवर्तन स्वत हो जाता है (अर्थात् वैसी हैं, वैसे गृहस्थ हैं, वैसे ब्राह्मण हैं) आदिकी जगह वैसे साधन हैं। ए भाव हो जाता है), जिनमें तत्त्वकी ओर उसकी प्रगति मत थीन आती है।

प्रिशेष वात—

पतञ्जलयोगदर्शनमें चित्तवृत्तियोके निरोधको योग माना गया है—‘योगश्चित्तवृत्तिनिरोध’ (१ । २), परन्तु श्रीमद्भगवद्गीता ‘समता’को ही योग मानती है—‘समत्वं योग उच्यते’ (२ । ४८) । गीतोक्त योगमें चित्तवृत्तियोका सम्बन्ध-पिञ्चेद है निरोध नहीं । चित्तवृत्तिनिरोधमें जडतासे सम्बन्ध बना रहता है, पर समतामें जडतासे सम्बन्ध-पिञ्चेद होता है—

त विद्याद् दु खसंयोगवियोगं योगसशितम् (गीता ६ । २३) ।
‘जो दु खरूप ससार (जडता) के सयोगसे रहित है, उसका नाम योग है ।’

चित्तवृत्तिनिरोध-रूप योगमें व्युत्थान भी होता है, पर समत्वरूप योगमें व्युत्थान नहीं होता । चित्तवृत्तिनिरोध-रूप योगमें निपय लो निवृत्त हो जाते हैं पर उसमें राग रट सकता है । मिथ्योका राग सर्वथा न मिठनेसे बुद्धिमान् पुरुषोक्ती इन्द्रियों भी मिथ्योमें बलात् प्रवृत्ति करा देती हैं ।* इसके निपरीत गीतोक्त योगमें विपयोका राग मूलसे ही नष्ट हो जाता है । यह गीतोक्त योगकी बहुत मिलक्षण महिमा है ।

परमात्मतत्त्वका अनुभव होना ‘खरूपकी’ समता, राग-द्वेषका मिठना ‘बुद्धि’की समता और वृत्तियोका निरोध होना ‘मन’की समता है ।

* यततो हपि कौन्तय पुरुषस्य विपश्चित् ।

इद्रियाणि ग्रामाधीनि हरति प्रसभ मन ॥

अनुभव कर लेते हैं। यही बात भगवान्‌ने चोथे अयाको अदान्मे
द्वलोकमें भी कही है कि समतामें स्थित कर्मयोगी अपनेश्वरमें हार्ष
तत्त्वको प्राप्त कर लेता है—

तत्स्वय योगसन्निद्व कालेनात्मनि विन्दनि ॥
(गीता ४।३८)

सत्ता (अन्तित्व या 'है'-पन) दो प्रकारकी होती है—
(१) निकारी और (२) स्वत मिद्व। जो सत्ता उत्पन्न होनेके
बाद प्रतीत होती है, वह 'निकारी' सत्ता कहलाती है और जो
सत्ता कभी उत्पन्न नहीं होती, अपितु सदैव (अनादिमात्रमें)
प्यों-की-त्यों रहती है, वह 'स्वत सिद्व' सत्ता कहलाती है। इस
दृष्टिसे ससार एव शरीरकी सत्ता 'निकारी' और परमात्मा इस
आत्माकी सत्ता 'स्वत सिद्व' है। निकारी सत्ताको स्वत सिद्व सम्बन्धमें
मिला देना भूल है। * उत्पन्न हुई निकारी सत्तासे सम्बन्ध-विद्वेष करने
अनुत्पन्न स्वत सिद्व सत्तामें स्थित होना ही 'आनन्द अवस्थामें
पदोंका भाव है।

जीव (चेतन) ने भगवान्दत्त निरेकना अनादर करके
शरीर (जड़) को 'मैं' और 'मेरा' मान निया अर्थात् इसमें
अपना सम्बन्ध मान निया। जीवको वापनका करण यह माना है
सम्बन्ध ही है। यह सम्बन्ध इतना दृढ़ है कि भरनेर भी इसमें

* निकारी यता (शरीर) को स्वत सिद्व सत्तामें मिलानका ठार है—अपोद्यो गर्वर मानना (भद्रता) और शरीरको अनन्त सम्बन्ध (ममता)। अननेष्ठो शरीर माननेमें साय प्रतीत होता है और न्यूटों
अपना माननेसे शरीरमें प्रियता होती है।

नहीं और कच्चा इतना है कि जब चाहे तब छोड़ा जा सकता है। किसीसे अपना सम्बन्ध जोड़ने अथवा तोड़नेमें जीव सर्वथा सतत है। इसी सततताका दुरुपयोग करके जीव शरीरादि विजातीय पदार्थोंसे अपना सम्बन्ध मान लेना है।

अपने पिंडेक (शरीरसे अपनी भिन्नताका ज्ञान) दब जाता है। पिंडेकके दबनेपर शरीर (जड़न-तत्त्व) की प्रधानता हो जाता है आर वह सत्य प्रतीत होने लगता है। सत्सङ्ग, साध्याय आदिसे जैसे-जैसे पिंडेक प्रिकसित होता है, वैसेचैसे शरीरसे माना हुआ सम्बन्ध छूटता चल जाता है। पिंडेक जाग्रत् होनेपर परमात्मा (चिमय-तत्त्व) से अपने वास्तविक सम्बन्धका—उनमें अपनी सामाप्तिक स्थितिका अनुभव हो जाता है। यही 'आत्मनि अवस्थितम्' पदोंका भार है।

प्रिकारी सत्ता (ससारके) के सम्बन्धसे अहता ('मे'भन) की उत्पत्ति होती है। यह अहता दो प्रकारसे मानी जाती है—
 (१) श्रणसे मानना (जैसे, दूसरोसे सुनकर 'मे' अमुक नामवाला हूँ, 'मैं' अमुक वर्णवाला हूँ' आदि अहता मान लेते हैं), (२) क्रियासे मानना (जैसे, व्याख्यान करना, शिक्षा देना, चिकित्सा करना आदि क्रियाओंसे 'मे' वक्ता हूँ, 'मे' शिक्षक हूँ, 'मैं' चिकित्सक हूँ' आदि अहता मान लेते हैं)। ये दोनों ही प्रकारकी अहताएँ सदा रहनेवाली नहीं हैं, जब कि 'है'—रूप सत सिद्ध सत्ता सदा रहनेवाली है। इन दोनों प्रकारकी अहताओंके साथ जो 'हूँ'—रूप प्रिकारी सत्ता है, उसे साधकको 'है'—रूप सत सिद्ध

मन, बुद्धि, देश, काल, वस्तु आदि सब प्रकृतिके कार्य हैं। प्रकृतिके कार्यसे उस तत्त्वको कैसे जाना जा सकता है, जो प्रकृतिसे सर्वथा अतीत है। अत प्रकृतिके कार्यका त्याग (सम्बाध-मिष्टेद) करनेरही तत्त्वकी प्राप्ति होती है और वह अपने-आपमें ही होती है।

साधकसे सबसे बड़ी भूल वह होती है कि वह जिस रीतिसे ससारको जानता है, उसी रीतिसे परमात्माको भी जानना चाहता है। परतु ससार और परमात्मा—दोनोंको जाननेकी रीति परस्त विरुद्ध है। ससारको इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदिके द्वारा जाना जाता है, क्योंकि उसकी जानकारी करण-सापेक्ष है, परतु परमात्माने इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदिके द्वारा नहीं जाना जा सकता, क्योंकि उसकी जानकारी करण-निरपेक्ष है।

जड़ताके आश्रयसे त्रिकालमें भी चिमयतामें स्थितिमा अनुभव नहीं हो सकता। जड़ता (स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीर) का अश्रव लेकर जो परमात्मतत्त्वका अनुभव बरना चाहते हैं, वे पुरुष समाजे द्वारा भी परमात्मतत्त्वका अनुभव नहीं बर पाते, क्योंकि समाजी भी कारण-शरीरके आश्रित रहती है।*

* स्थूलशरीरसे 'निया', सूक्ष्मशरीरसे 'चिन्ता' तथा कारणशरीरसे 'स्माधि' होनी है। कारणशरीरसे होनेवाली समाधि सापिकाय और निर्विकर्त्तव्य-दो प्रकारफी होनी है। ध्याता, ध्यान और स्वेयमें जब ऐसा स्वेय देन रह जाता है, तर भासिकस्त समाधि होती है, क्याकि इसमें स्वेयका नाम, नाम और उभ (नाम-रूप)का सम्बाध देन रह जाता है। अब यह भी एक तरह रहता, तर तिर्थकर्म समाधि होनी है।

कारणशरीर तया उनसे होनाहटी उमापि जात्य, नन और एकुण अपस्पायो अपेक्षा विशिष्ट होनेन भी शूद्रमस्तसे निन्नार क्रियार्थीत रहते-

जो परमात्माको अपना तथा अपनेको परमात्माका जानते हैं, वे ज्ञानरूप नेत्रोगले योगीजन (शरीर, इद्रियों, मन, चुम्हि आदिसे अपनेको अलग करके) अपने-आपमें स्थित परमात्मतत्त्वका अनुभव कर लेते हैं। परन्तु जो शरीरको अपना और अपनेको गरीरका समझते हैं, वे निरूद्ध और अकृतात्मा पुरुष (शरीर, इन्द्रियों, मन, चुम्हि आदिके द्वारा) यत्न करनेपर भी अपने-आपमें स्थित परमात्मतत्त्वका अनुभव नहीं कर पाते।

मार्मिक धारा

‘आत्मनि अपस्थितम्’ पदोमें भगवान्‌ने अपनेको सम्पूर्ण प्राणियोंकी आत्मामें स्थित (सर्वव्यापी) वतशया है। इसका अनुभव करनेके लिये साधकको ये चार बारें दृढ़तापूर्वक मान लेनी चाहिये—

- १ परमात्मा यहाँ है ।
- २ परमात्मा अभी है ।
- ३ परमात्मा अपनेमें ।
- ४ परमात्मा अपने हैं ।

है। इस कारणशरीरसे भी अतीत होनेपर एकमात्र तत्त्व शेष रह जाता है। यही किया और अन्तिया-दोनोंसे अतीत, सदा अरपण रहनेवाली ‘म्यल्पकी समाधि’ है। कारणशरीरसे होनेवाली समाधिमें तो व्युत्थान होता है, पर ‘म्यल्पकी समाधि’ अर्थात् स्वत सिद्ध स्वल्पका गोध होनेपर समाधि तथा व्युत्थान दोनों ही नहीं होते। इसे ‘निर्गीज समाधि’ कहते हैं, क्योंकि इसमें उसारका सम्बन्ध (गीब) भवधा नष्ट हो जाता है। इसे ‘सहजावस्था’ भी कहते हैं, पर वाम्नप्रमें यह अवस्था नहीं है, अपितु अवस्थासे अतीत है। अपस्थातीत कोइ अवस्था नहीं होती।

परमात्मा सब जगह (सर्वव्यापी) होनेसे यहाँ भी हैं, तब समय (तीनों कालोंमें) होनेसे अभी भी हैं, समर्थ होनेसे अन्में भी हैं, और समर्थके होनेसे अपने भी हैं । इस दृष्टिसे, परमात्मा एक होनेसे उहें प्राप्त करनेके लिये दूसरी जगह जानेकी आवश्यकता नहीं है, अभी होनेसे उनकी प्राप्तिके लिये भविष्यकी प्रतीक्षा करनेसे आवश्यकता नहीं है, अपनेमें होनेसे उहें बाहर हैं इनकी आवश्यकता नहीं है, और अपने होनेसे उनके सिमा किसीको भी अपना मन्त्र की आवश्यकता नहीं है । अपने होनेसे स्वाभाविक ही अचन्तु प्रिय लोगोंगे ।

प्रत्येक साधकके लिये उपर्युक्त चारों बातें आवश्यक हैं तत्काल व्याधियन्ति हैं । साधकको ये चारों बातें दृढ़तासे मान लेंगी चाहिये । समन्वय साधनोंका यह सार साधन है । इसमें तीन योग्यता, अन्यास, गुण आदिकी भी आवश्यकता नहीं है । ये दोनों स्वत सिद्ध पद वास्तविक हैं । इसलिये इन्हें मननेके लिये मर्म योग्य हैं, सभी पार हैं, सभी समर्थ हैं । शर्त यही है कि वे एक परमामात्रों ही चाहते हों ।

जिननी भी बाहरी (मन, बुद्धि, इन्द्रियों, शरीरादिकी) अस्तरे पर परिरक्षितियों हैं, वे सद धीर्घ निरत्तर यद्यत्ती रहती हैं । एक क्षण भी स्थिर नहीं रहती, परतु 'मन' (अपान-अन्तर्गत—मन) कभी नहीं यद्यत्ता, सर्वद ज्यों-कान्यों रहता है । यद्यत्तमें रहीं इन्द्रियों, परिरक्षिति, राती, जोग्यता, रचि, सामर्थ्य आदि जैसे पैदे द्विसे अव्य दिल्लुत नहीं हैं, पर में कही हैं—यह सद्य नहुआ है । इसलिये साधकयों चाहिये कि यह निरत्तर (न यद्यत्तीर्थी)

अपने सरूपको ही देखे, अपस्थाको नहीं। अपस्था कभी भी 'खय' तक नहीं पहुँच सकती। अपस्थाका 'खय' से कभी किञ्चिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं हो सकता।

यतन्त पश्यन्ति—यन करते हुए अनुभव करते हैं।

यहाँ 'यतन्त' पद साधनपरक है। भीतरकी लगन, जिसे पूर्ण किये बिना चेंससे न रहा जाय, यत्न कहलाती है।

जिन साधकोंका एकमात्र उद्देश्य परमात्मतत्त्वको प्राप्त करना है, उनमें असङ्गता, निर्ममता और निष्कामता खत आ जाती है। उद्देश्यकी पूर्तिके लिये अनन्यभावसे जो उत्कण्ठा, तत्परता, व्याकुलता, मिह्युक्त चिन्तन, प्रार्थना एवं विचार साधकके हृदयमें प्रकट होते हैं, उन सबको यहाँ 'यतन्त' पदके अन्तर्गत समझना चाहिये। जिसकी प्राप्तिका उद्देश्य बनाया, और जिसकी प्रिमुखताको यत्नके द्वारा दूर किया, उसी तत्त्वका योगीजन अपने-आपमें अनुभव करते हैं। परमात्माके पूर्ण समुख हो जानेके बाद योगीकी परमात्मतत्त्वमें सदा सहज स्थिति रहती है। यही 'पश्यन्ति' पदका भाव है।

योगभ्रष्ट पुरुष भी योगियोके घर जाम लेकर तत्त्वप्राप्तिके लिये यन करता है—'यतते च ततो भूय ससिद्धौ' (गीता ६। ४३)।

अहतात्मान अचेतस—जिन्होंने अपना अन्त ऊरण शुद्ध नहीं किया और परमात्मसम्बन्धी प्रिवेक भी जाग्रत् नहीं किया।

* श्रीमद्भगवद्गीतामें अयन भी भगवान्‌पर दोपारोपण रखनेवाले, उनके सिद्धातके अनुसार न चलनेवाले और नातनिरुद्ध धोर ता करने-वाले आसुरी मनुष्योंके लिये 'अचेतस', (३। ३०, २७। ६), राघी, आसुरी और मोहिनी प्रकृतिवाले मनुष्याएँ लिय 'विचेतस', (९। १२),

जिन्होने अपना अन्त करण शुद्ध नहीं किया है, उन पुरुषोंसे यहाँ 'अचृतात्मान' कहा गया है। अन्त करणकी शुद्धि कर्मको सुगमतापूर्वक हो जाती है*। क्योंकि कर्मयोगका साधक सुनारिक पदार्थों (शरीर, इन्द्रियों, मन, बुद्धि, अह आदि) को बता और अपने लिये नहीं मानता। अन्त करणको अपना मानता ही मूल अशुद्धि है। इसलिये वह उसे अपना न मानकर (सबसे मिश्र हुआ मानकर) ससारकी सेवा में लगाता है। वह अन लिये कभी कोई कर्म नहीं करता।

कर्मयोगका अनुष्ठान किये दिना ज्ञानयोगका अनुष्ठान करने कठिन है †।

जिन पुरुषोंको सत-असतका चेत (विवेक) नहीं हुआ है, उन्हें यहाँ 'अवेतस' कहा गया है।

जिनके अन्त करणमें ससारके व्यक्ति, पदार्थ आदिसे महत्व बना हुआ है, और जो शरीरादिको अपना मानने हुए उनमें पूर्ण भोगकी आशा रखते हैं, ऐसे सभी पुरुष 'अचृतात्मान' अवेतस हैं। ऐसे पुरुष तत्त्वकी प्राप्ति तो चाहने हैं, पर उनकी प्राप्ति किये शरीर, मन, बुद्धि आदि जड़ (प्राणीन्) पदार्थोंकी सङ्गत्यासे चेनन परमात्मनत्वको प्राप्त करना चाहते हैं। परमात्मा वृद्ध पदार्थोंसे सशयतासे नहीं अपितु जड़ताके त्याग (हम्बन्ध-विच्छेद) और आमासों यतों मानोवाले अगली मनुष्यतेरि निः 'अशुद्धि' (१८। १६) पद आय है।

* योगिन कम उर्बन्ति छाप त्यागाम्यपुद्देये ॥ (गीता ५। ११)

† गन्धारस्तु महाराहो दुष्प्रमाद्युमयोगत । (गीता ५। ९)

से मिलते हैं । निष्कामभावसे दूसरोंकी सेग करनेगाला योगी जड़ताका त्याग बहुत शुगमतापूर्वक कर देता है ।

यतन्त अपि पनम् न पद्यन्ति—यन करनेपर भी इस (तत्त्व) का अनुभव नहीं कर पाते ।

प्रस्तुत श्लोकमें ‘यतन्त’ पद दो बार आया है । भाव यह है कि यल करनेमें समानता होनेपर भी एक (ज्ञानी) पुरुष तो तत्त्वका अनुभव कर लेता है, दूसरा (मूढ़) नहीं कर पाता । इससे यह सिद्ध होता है कि शरीर, इन्द्रियों, मन, बुद्धिके द्वारा किया गया यल तत्त्वप्राप्तिमें सहायक होनेपर भी अन्त करण (जड़ता) के साथ सम्बन्ध उने रहनेके कारण और अन्त करणमें सासारिक पदार्थोंका महत्त्व रहनेके बारण (यन करनेपर भी) तत्त्वको प्राप्त नहीं किया जा सकता । जिनकी दृष्टि असत् (सासारिक भोग और सम्राह) पर ही जमी उई है, ऐसे पुरुष सद् (तत्त्व) को कैसे देख सकते हैं :

अष्टतात्मा ओर अचेतस पुरुष करनेमें तो ध्यान, स्वाव्याय, जप आदि सब कुछ करते हैं, पर अन्त करणमें जड़ता (सासारिक भोग और सम्राह) का महत्त्व रहनेके कारण उन्हें तत्त्वका अनुभव नहीं हो पाता । यथापि ऐसे पुरुषोंके द्वारा किया गया यन भी निष्फल नहीं जाता, तथापि तत्त्वका अनुभव उन्हें वर्तमानमें नहीं होता । वर्तमानमें तत्त्वका अनुभव जड़ताका सर्पथा त्याग होनेपर ही हो सकता है ।

जिसका आश्रय लिया जाय, उसका त्याग नहीं हो सकता—
यह नियम है । अत शरीर, मन, बुद्धि आदि जड़-पदार्थोंका

आश्रय लेकर सामर्क जड़ताका त्याग नहीं कर सकता । इसके मिना मन, बुद्धि आदि जड़-पदार्थोंको लेकर साधन करनेवाले सूक्ष्म अहंकार बना रहता है, जो जड़ताका त्याग होनेवाली निवृत्त होता है । जड़ताका त्याग करनेका मुगम उत्ताप है—एक मान भगवान्‌का आश्रय लेना अर्थात् ‘मैं भगवान्‌का हूँ, मातान्‌ मेरे हैं’ इस वास्तविकताको स्वीकार कर लेना, इसपर अटल विश्वास कर लेना । इसके लिये यन या अन्यास करनेकी भी आपरमाण नहीं है । वास्तविक नातको दृढ़तापूर्वक स्वीकारमात्र पर लेंती आपरमाण है ।

जउता (ससार) से माने नुए सम्बन्धमा कारण ‘राग’ है । ससारको ‘अनना’ और ‘अपने लिये’ माननेसे ही उसमें राग देखा है । समार प्रतिक्षण नष्ट हो रहा है—ऐसा बुद्धिमे जाननेवार भी राग ऐसा देखने नहीं देता । रागके कारण ही ससार म्यायी दीवना है । ससारको म्यायी देगनेसे ही सामाजिक भोगोक्ती रुग्म और उनका भोग होता है । अनग्र साधकको राग मिश्रतेके लिये ही यन करना चाहिये । गीतामें भगवान्‌ते भी राग मिश्रामर ही अधिक जोग दिया है ।

गग-रहित होनेसे ही ‘मना’ अर्थात् ‘योग’की प्राप्ति होती है । किन्तु उद्देश्य माताप्राप्ति है, ऐसे योगीजन हीमें मिश्रनेश्वर दर्ज दरले हैं और रागके मिश्रने ही उन्हें तप्ता—करार अनुभव हो जाता है । इसके मिश्रित रागमुक्त पुरामें गीता
 HinduPedia Discovered by https://
 गिता । इन्हिय साधककी दृष्टिने रागके मिश्रना ही सत्ता है ।

मार्मिक वात

यदि सापक प्रारम्भमें 'समता' को प्राप्त न भी कर सके, तो भी उसे अपनी रुचि या उद्देश्य समता-प्राप्तिका ही रखना चाहिये, जैसा कि गोखामी तुलसीग्रामनी कहते हैं—

मति अति नीच ऊँचि रुचि जाढ़ी । चहिं अमिअ जग जुरइ न छाढ़ी ॥

(मानस १ । ७ । ४)

तात्पर्य यह है कि सापक चाहे जैसा हो, पर उसकी रुचि या उद्देश्य सदैन ऊँचा रहना चाहिये । सापको रुचि या उद्देश्य-पूर्तिकी लगन नितनी तीव्र होगी, उननी ही शीव उसके उद्देश्यकी सिद्धि होगी । भगवान्‌का स्वभाव है कि वे यह नहीं देखते कि सापक करता क्या है, अपितु यह देखते हैं कि सापक चाहता क्या है—

। रीझत राम जानि जन जी छी ॥

रहति न प्रभु चित चूक किए दी । भरत सुरति सय गार हिए की ॥

(मानस १ । २८ । २३)

एक प्रजाचक्षु सन्त प्रनिदिन मन्दिरमें (भगवद्विग्रहका दर्शन करने) जाया करते थे । एक दिन जग वे मन्दिर गये, तब मिसीने पूछ लिया कि जग आपको दिखायी ही नहीं देना, तब यहाँ मिसलिये आते हो ? सन्त बोले—मुझे दिखायी नहीं देता, तो क्या भगवान्‌को भी दिखायी नहीं देता ? मे उन्हें नहीं देखता, पर वे तो मुझे देखने हैं, वस, इसीसे मेरा काम बन जायगा ।

इमी प्रकार हम समताको प्राप्त भले ही न कर सकें फिर भी हमारी रुचि या उद्देश्य समताका ही रहना चाहिये, जिसे भगवान् देखते ही हैं ! अत हमारा काम अपश्य हो जायगा ।

साधकोंके लिये विशेष नात

शाखोंमें तीन दोष तत्त्वास्त्रियमें बाधक कहे गये हैं—(१) मल (अनेक जन्मोंके तथा वर्णमानके पाप-जन्मोंका सप्तष्ठ), (२) मिक्षेप (चित्तकी चश्चारता) और (३) आपरण (अज्ञान) ॥ । इनमें मल-दोष साधकतो स्थय दूर करना पड़ता है, क्योंकि उसीने फ़ज (पापों) का सचय किया है । श्रद्धापूर्वक जीवन्मुक्त महामुकुर्षोंके समीप वैटनेमात्रसे मिक्षेपदोष और उनके उन्नतोंपर मिचार एवं श्रद्धा-मिश्वास यत्नेमात्रसे जापरण-दोष दूर हो जाता है । अत भृदोपज्ञे साधकतो स्थय दूर करना पड़ता और मिक्षेप र आपरण-दोष सुलैं तथा भगवान्‌ती शृणुसे दूर हो जाता है ।

मल-दोषके रहते हुए किया गया यन सार्यका नहीं होता । वर्णमानमें प्राय साधकोंसे यह बहुत बड़ी भूल होती है कि ते मिक्षेप और आपरण-दोषको दूर करनेका यन तो यत्ते हैं, पर मल-दोषसे दूर करनेकी बातपर ध्या नहीं होती । इसीलिये उद्देश्यात्मक तत्त्वप्रकाश अनुभव वर्णमानमें नहीं हो पाता ।

० आपरण-दोषसे दो प्रकार हैं—

(१) अरणपानारप—इस दोषसे दारा भुग्य घराता नहीं है—इस प्रकार सून् (परमामा) की उत्ताहो न मानाह आहा (सूर्य) की साराहो मानने आता है । यह दोष भद्रा गिरावो मिट पाता है ।

(२) अग्नानामरा—इस दोषसे आठा सुनुष्ठो घराता अउरहा भाव (अभाव) नहीं होता । यह दोष गामातिं गुणकी अपर्युप्तमें उत्तम होता है । यह अग्नतिंषा अ-यन्त्रिता दो-दर यह दोनों निः आता है और परमामनात्ता भुग्यप रही जाता है ।

एषातिं गुणाती आगति ही प्रथम 'आराध दोष' है ।

मल-दोष (पाप) के दो भेद हैं—(१) पिछ्ले जन्मोंके सञ्चित पाप और (२) वर्तमानके पाप या निपिद्ध-भोग । यज्ञ, दान, तप, तीर्थ, व्रत आदि एक-एक शुभकर्ममें पिछ्ले अनेक जन्मोंके सञ्चित पापोंका नाश करने तथा अन्त करणसे परम पवित्र बनानेकी महान् शक्ति है । वर्तमानमें जिसे हम बुरा मानते हैं, उसका त्याग करनेसे वर्तमानके पाप नहीं होते । मुहूर्य वाग्र वर्तमानके पापोंकी ही है । यज्ञ, दान, व्रत आदि शुभकर्मोंको करनेसे सञ्चित पाप नष्ट हो जाते हैं । परतु यज्ञ, दान, व्रत आदि शुभकर्म करनेके साय-साय खार्यपश दूसरोंका अहित भी करने रहनेमें मल-दोष दूर नहीं होता । खार्यका त्याग करके सद्वापूर्वक दूसरोंका हित करनेमें मल-दोषका नाश करनेकी मिश्र शक्ति है ।

यदि साधकके अन्त करणमें तत्प्राप्तिकी तीव्र जिज्ञासा, भगवत्येमकी तीव्र उत्कण्ठा अयमा भगवान्‌के न मिथ्येकी तीव्र व्याकुलता (प्रिह) उत्पन्न हो जाय, तो मल, निषेप ओर आगरण तीनों दोष तत्काल नष्ट हो जाते हैं । निष्कामभाव-पूर्वक दूसरोंकी सेवा एव ध्यान, जप आदि करनेसे भी मल और निषेप दोनों दोष दूर हो जाते हैं, और इन दोनों दोषोंके दूर होनेपर आगरण-दोषके दूर होनेमें क्रियम नहीं होता, किंतु जप, ध्यान आदिके माथ-साय निपिद्ध-कर्म (पाप) करते रहनेसे साधकको इन दोषोंके दूर होनेका अनुभव नहीं हो पाता । निपिद्ध-कर्म करते रहनेसे मल-दोष बढ़ता रहता है, जिससे निषेप न आगरण-दोष पुष्ट होते रहते हैं ।

मल-दोष (निपिद्ध-भोग) को नष्ट करना साधकके लिये अत्यन्त आपश्यक है । निपिद्ध-भोग भोगनेवाला पुरुष बहुत बड़ा पापी

है। नियिद्वयोग नरकों तथा चौरासी लाख योनियोंमें ले जानेमें होते हैं। जिसका उद्देश्य ही भोग भोगना है, जहाँ नियिद्वयोग विहितकी पहचान नहीं वर सक्रिया। परमात्मप्राप्तिमें तो यहाँ तुम्हारा धर्मानुसूल रिहित-भोग भी बाधन होते हैं, फिर नियिद्वयोग तो कहना ही गया है। अत साधकको भोगोदा त्याग तो करना ही पड़ेगा, चाहे वे नियिद्वयोग हों या विहित।

मल्द्वयोगको नए करनेवा थ्रेष और दृढ़ उपाय यह है मि-
साधक 'अब मुझे भविष्यमें कोई नियिद्वयोगकर्म करना ही नहीं है।'—
ऐसा दृढ़ निधय कर ले। यदि साधक मल्द्वयोगको दूर न करके
प्रिक्षेप और आगरण-दोषको दूर करनेवा ही यन करे, तो वह घने
तो बहुत सीख लेगा, पर उसे धार्तिक वीध होना कठिन है।
मल्द्वय (वर्णमानके नियिद्वयोग) का त्याग इसे बिना
सत्सङ्ग, भजा, ध्यान आदि शुभ कर्म करनेमें साधकमें उत्तम
'अभिमान' उत्पन्न हो जाना है।

यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि अभिमानवी दृष्टि
(सद्गुण-मार्गचारके साथ इमीं अशाने विषमान) दृग्गुण-दृग्वद्वय-से
ही छोती है, महूण मार्गचारमें बदायि नहीं। आगरण यह है इसे
अभिमान जातुरी-सम्पन्निता गृह दृष्टि। परि दृग्गुण-नियिद्वय-से बहिर्भव
बापत होगा, तो जातुरी-सम्पन्निति दैनों लिएंगी। दैनों-सम्पन्निति दृष्टि
सुगतिये दृष्टि यहाँ फरहारी नहीं हो सकती। इन्हाँ दृग्गुण-दृग्वद्वय-
क्षमिता होनपर भी सामान्य नार्यि यहि इन्हें दुरुप्राप्ति
भी है जाता दृग्गुण-दृग्वद्वय-से दूरी है, जिसे दर्मिनि दृग्वद्वय-से

कभी कभी वह कार्य भी कर बैठता है, जो नहीं करना चाहिये । धनकी कर्मी (निर्वना) होनेपर धनका अभिमान, विद्वत्ताकी कर्मी (मूर्खना) होनेपर विद्वत्ताका अभिमान, गुणकी कर्मी (दुर्गुण) होनेपर गुणोका अभिमान हाना है । जहाँ पूर्णता होती है, वहाँ अभिमान नहीं होता ॥ ११ ॥

सम्बन्ध—

पन्द्रहवें अध्यायमें पॉच-पॉच उत्तोकोंके चार प्रकार हैं । उनमें यह तीसरा प्रकार वारहवेंसे पद्रहवें श्लोकतत्त्व है, जिसमें उठा श्लोक सम्मिलित कर देनेपर पॉच श्लोक पूरे हो जाते हैं । यह तीसरा प्रकार विशेषस्त्रमें भगवान्‌के प्रभाव और महत्त्व-को प्रकट करनेवाला है । छठे श्लोकमें जो विषय (—परमधामको सूर्य, चन्द्र और अग्नि प्रकाशित नहीं कर सकते) स्पष्ट नहीं हो पाया था, उसीका स्पष्ट विवेचन भगवान् अगले (वारहवें) श्लोकमें करते हैं ।

श्लोक—

यदादित्यगत तेजो जगद्गासयतेऽपिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नो तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥ १२ ॥

भावार्थ—

श्रीभगवान् कहते हैं कि सूर्यमें स्थित जो तेज सम्पूर्ण जगत्को प्रकाशित करता है और चन्द्र तथा अग्निमें जो तेज है, वह मेरा ही है—ऐसा जान ।

भौतिक जगत्में प्रकाश करनेवाले प्रमाणशाली पदार्थ तीन हैं—सूर्य, चन्द्र और अग्नि । साधारण चक्षुओंसे दीखनेवाले इन

तीनों पदार्थमें जो प्रकाश और प्रभाव है, वह उनका अपना
न होकर नगचानका ही है । अतगा ये तीनों पदार्थ भगवार् पा
उनके धारकों प्रकाशित नहीं कर सकते, वयोऽपि कार्य अपने कर्मणों
लीन तो ही सकता है, पर उसे प्रकाशित नहीं कर सकता ।

प्रभाव और महत्वकी ओर आकर्षित होना जीवना स्वभाव है ।
प्राकृत पदार्थके सम्बन्धसे जीव प्राकृत पदार्थके प्रभावसे प्रगति
हो जाता है । कारण यह है कि प्राकृतिमें सिव हीनके कारण जीवको
प्राकृत पदार्थी (शरीर, खीं, पुत्र, धन आदि) यह महत्व दीले
जाता है, भगवानका नहीं अन्यरूप जीवपर पड़े प्राकृत पदार्थोंसे
प्रभाव हटानेके लिये भगवान वसने प्रभावका वर्णन करते हुए यह
रहस्य प्रकाश करते हैं कि उन प्राकृत पदार्थमें जो प्रभाव और महत्व
देतानेमें अना है, वह गस्तुत (मूलमें) नहीं है, उनका नहीं ।
सर्वोपरि प्रभावशारी में ही है । मेरे (१) प्रकाशनमें सब प्रश्नादित् दो
खे हैं ।

अन्यम—

यत् रोगः , आदित्यगतम् , छत्रिलग् , उगार् , भागवत् , गा , चाप् ,
चाक्षमसि , पद् , शर्मा , (शर्मि ,) विद् , गा , मात्रकार् , विदि ॥ १२ ॥

पदार्थान्तरा—

यस् तत्त्वं शादित्यगतम् व्याप्तिरम् —गत् भासदो—शूर्यमें
आग दृढ़ा गो केन सम्पूर्ण जातुष्वों प्रशान्तिर रहत है ।

जैसे भगवान्ते (गीता २ । ५५ में) जातुष्वोंी
'मनोगतान्' पदार्था है, ऐसे ती यहीं तेज्ज्वों 'शादित्यगता'
पदार्थों हैं । कार्य दृष्ट है कि ऐसे गतों सिव कार्यान् भासा

धर्म या स्वरूप न होकर आगन्तुक हैं, नेसे ही सूर्यमें स्थित तेज सूर्यका धर्म या स्वरूप न होकर आगन्तुक अर्थात् वह तेज सूर्यका अपना न होकर (भगवान्से) आया हुआ है ।

सूर्यका तेज (प्रकाश) इतना महान् है कि समूर्ग ब्रह्माण्ड उससे प्रकाशित होना है । ऐसा वह तेज सूर्यका दीखनेपर भी वस्तुत भगवान्का ही है । इसलिये सूर्य भगवान् या उनके परमधारको प्रकाशित नहीं कर सकता । भगवान्ने गीतामें अन्यत्र भी कहा है कि मेरी उत्पत्ति और प्रभावको देवता एव महर्षिण भी नहीं जान सकते, क्योंकि मैं उन देवताओं और महर्षियोंका भी आदिकारण हूँ* । अर्जुन भी भगवान्से कहते हैं कि आपके स्वरूपको देखना और (मायाशक्तिसे सम्पन्न) दानर भी नहीं जान सकते† । महर्षि पतञ्जलि कहते हैं—

पूर्वेषामपि गुरु कालेनानवच्छेदात् (योगदर्शन १ । २६)

‘इसर सबके पूर्वजोका भी गुरु है, क्योंकि उसका कालसे अवच्छेद नहीं है ।’

समूर्ग भोनिक जगत्में सूर्यके समान प्रत्यक्ष प्रभावशाली पदार्थ कोई नहीं है । चन्द्र, अग्नि, तारे, नियुत् आदि जितने भी प्रकाशमान पदार्थ हैं, वे सभी सूर्यसे ही प्रकाश पाते हैं । भगवान्से

* न मे विटु सुरगणा प्रभव न महपय ।

अद्मादिर्हि देवाना महर्षीणा च सर्ववा ॥

(गीता १० । २)

† न हि ते भगवन्यक्ति विदुरेवा न दानवा ॥

(गीता १० । १४)

प्राप्त तेजके कारण जब सूर्य इनना प्रिक्षण और प्रभासरात्रि हैं, तब सब भगवान् कितने प्रिक्षण और प्रभासरात्रि होगें । ऐसा प्रिचार फलेवर मन भगवारही तरक आकर्षण होता है ।

सूर्य नेत्रों का अधिष्ठात्र-देवता है । वह नेत्रोंमें जो प्रदत्त (देवनंदी शक्ति) है, वह भी परम्परासे भगवास्त्री ही ही है समरानी नाहिय ।

च यत् चन्द्रमसि—और जो (तो) चन्द्रो (?) ।

जैसे सूर्यमें हिम प्रकाशिका शक्ति और दातिका शक्ति दोनों ही भगवान्से प्राप्त (आन) हैं, तैसे ही चन्द्रकी प्रकाशिका शक्ति भी पोषण शक्ति दोनों (सूर्यद्वाग्र प्राप्त होनेवर भी परम्परा) सम्बद्ध दृष्ट ही हैं । जैसे भगवान्का तेज 'अदित्यमन' है, यैसे ती उनका तेज 'चन्द्रगत' भी समराना नाहिये । चन्द्रों प्रकाशिके साथ शीतलता, गुहुता, पोषणता आदि जो भी गुण है, वह साभगवारुणी प्रभाव है ।

यदौं चन्द्रको तारे, नक्षत्र आदिया भी उपरात्र रक्षा चाहिये ।

* नितामि हृष्ण चग्नरस्य रक्षार पूराम् गुरुम् तदैः ।

न रात्रमेऽप्यप्यपितृ दुर्गोऽन्तोऽन्तायोऽप्यत्र तदैः ॥

(एवा ११ । ८)

ज्ञात इस [चित्तावर व्याप्ते] निता और रक्षारे द्वये हृष्ण दृष्टि दृष्टि हैं । दृष्टि अनुराम प्रभाव है । तीनों रक्षारों भावे अपने

चन्द्र 'मन'का अधिष्ठात्-देवता है। अत मनमें जो प्रकाश (मन करनेकी शक्ति) है, वह भी परम्परासे भगवान्‌की ही दी हुई समझनी चाहिये।

यद् अग्नौ (अस्ति)—(तथा) जो (तेज) अग्निमें (हे) ।

जैसे भगवान्‌का तेज 'आदित्यगत' है, वैसे ही उनका तेज 'अग्निगत' भी समझना चाहिये। तात्पर्य यह हे कि अग्निकी प्रकाशिका शक्ति और दाहिका शक्ति दोनों भगवान्‌की ही हैं, अग्निकी नहीं।

यहाँ अग्निको मिश्रुत, दीपक, जुगन्‌ आदिका भी उपलक्षण समझना चाहिये।

अग्नि 'वाणी'का अधिष्ठात्-देवता है। अत वाणीमें जो प्रकाश (अर्यप्रकाश करनेकी शक्ति) है, वह भी परम्परासे भगवान्‌की ही दी हुई समझनी चाहिये।

तद् तेज मामकम् विद्धि—उस तेजको मेरा (ही तेज) जान।

जो तेज सूर्य, चन्द्र और अग्निमें हे ओर जो तेज इन तीनों-के प्रकाशसे प्रकाशित अन्य पदार्थों (तारे, नक्षत्र, मिश्रुत, जुगन्‌ आदि) में देखने तथा सुननेमें आता हे, उसे भगवान्‌का ही तेज समझना चाहिये।

उपर्युक्त पदोंसे भगवान् यह कह रहे हैं कि मनुष्य जिस-जिस तेजस्वी पदार्थकी तरफ आकर्षित होता है, उस-उस पदार्थमें

प्राप्त तेजके कारण जब सूर्य इतना निश्चण और प्रभावशाली है तब स्वयं भगवान् किंतु ने प्रिलक्षण और प्रभावशाली होगें । ऐसे पिचार करनेपर स्वतं भगवान्‌की तरफ आकर्षण होता है ।

सूर्य 'नेत्रो'का अधिष्ठातृ-देवता है । अत नेत्रोमें जो प्रकाश (देखनेकी शक्ति) है, वह भी परम्परासे भगवान्‌की ही ही है समझनी चाहिये ।

च यत् चन्द्रमसि—ओर जो (तेज) चन्द्रमें (हे) ।

जैसे सूर्यमें स्थित प्रकाशिका शक्ति और दाहिका शक्ति दोनों हैं भगवान्‌से प्राप्त (आगत) हैं, वेसे ही चन्द्रकी प्रकाशिका शक्ति वें पोषण शक्ति दोनों (सूर्यद्वारा प्राप्त होनेपर, भी परम्परासे माग्नप्रदत्त ही हैं । जैसे भगवान्‌का तेज 'आदित्यगत' है, वैसे ही उनका तेज 'चन्द्रगत' भी समझना चाहिये । चन्द्रमें प्रकाशिके साथ शीतलता, मधुरता, पोषणता आदि जो भी गुण हैं, वह सब भगवान्‌का ही प्रभाव है ।

यहाँ चन्द्रको तारे, नक्षत्र आदिका भी उपलक्षण समझना चाहिये ।

* पितासि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुगरीयात् ।

न त्वत्समोऽस्त्वम्यधिकं कुतोऽन्यो लोकनयेऽप्यपनिमप्रभाव ॥

(गीता १। १३)

"आप इम [चराचर जगन्‌पे] पिता और सबसे नदे गुरु एवं अंति पृथ्वीय हैं । हे अनुपम प्रभाववाले ! तीना लोकाम आपके समान भी दूसरा कोइ नहीं है, पर अधिक सो कैसे हो सकता है ? "

चन्द्र 'मन'का अधिष्ठातृ-देवता है। अत मनमें जो प्रकाश (मनन करनेकी शक्ति) है, वह भी परम्परासे भगवान्‌की ही दी हुई समझनी चाहिये।

यत् अज्ञो (अस्ति)—(तथा) जो (तेज) अग्निमें (हे)।

जैसे भगवान्‌का तेज 'आदित्यगत' है, वैसे ही उनका तेज 'अग्निगत' भी समझना चाहिये। तार्थ्य यह है कि अग्निकी प्रकाशिका शक्ति और दाहिका शक्ति दोनों भगवान्‌की ही हैं, अग्निकी नहीं।

यहाँ अग्निको पियुत, दीपक, जुगनू आदिका भी उपलक्षण समझना चाहिये।

अग्नि 'पाणी'का अधिष्ठातृ-देवता है। अत पाणीमें जो प्रकाश (अर्थप्रकाश करनेकी शक्ति) है, वह भी परम्परासे भगवान्‌की ही दी हुई समझनी चाहिये।

तत् तेज मामकम् विद्धि—उस तेजको मेरा (ही तेज) जान।

जो तेज सूर्य, चन्द्र और अग्निमें है और जो तेज इन तीनों-के प्रकाशसे प्रकाशित अन्य पदार्थों (तारे, नक्षत्र, पियुत, जुगनू आदि) में देखने तथा सुननेमें आता है, उसे भगवान्‌का ही तेज समझना चाहिये।

उपर्युक्त पदोंसे भगवान् यह कह रहे हैं कि मनुष्य जिस-जिस तेजस्वी पदार्थकी तरफ आकर्पित होता है, उस-उस पदार्थमें

उसे मेरा ही प्रभाप देखना चाहिये * । जैसे बुँदीके लड्डूमें जो मिठास है, वह उमसी अपनी न होकर चीनीकी ही है, वैसे ही सूर्य, चन्द्र और अग्निमें जो तेज है, वह उनका अपना न होकर भगवान्‌का ही है । भगवान्‌के प्रकाशसे ही यह सम्पूर्ण जगत् प्रकाशित होता है—‘तस्य भासा सर्वमिदं विभाति’ (कठोपनिषद् २ । २ । १५) वह सम्पूर्ण ज्योतिर्योंकी भी ज्योति है—‘ज्योतिपामपि तत्त्वयोति’ (गीता १३ । १७) ।

जो ज्योतिर्यों का रथोति है, मध्यसे प्रथम जो भासता ।

अब्यय सनानत दिव्य दीपक, सर्वं विश्व प्रकाशता ॥

सूर्य, चन्द्र और अग्नि कमश नेत्र, मन और वाणीके अभिष्टाता एव उन्हें प्रकाशित करनेवाले हैं । मनुष्य अपने भारोंको प्रकट करने आर समझनेके लिये नेत्र, मन (अन्त करण) और गाणी—इन तीन इन्द्रियोंका ही उपयोग करता है । ये तीन इन्द्रियाँ जितना प्रकाश करती हैं, उतना प्रकाश अन्य इन्द्रियाँ नहीं करतीं । प्रकाश-का तात्पर्य है—अलग-अलग ज्ञान करना । नेत्र और गाणी वाहरी करण हैं तगा मन भीनरी करण है । ‘करणों’के द्वारा वस्तुता ज्ञान होता है । ये तीनों ही करण (इन्द्रियाँ) भगवान्‌को प्रकाशित नहीं कर सकते, क्योंकि इनमें जो तेज या प्रकाश है, वह इनका अपना न होकर भगवान्‌का ही है । इसलिये भगवान्‌को प्राप्त हो

* यद्यद्विभूतिमासत्त्व श्रीमद्भुजितमेव या ।
तत्तदेवापगच्छ स्वं मम तेजोऽश्चएमभग्म ॥

(गीता १० । ११)

‘जो-जो भी विभूतियुक्त अर्थात् ऐस्यमुक्त, कातियुक्त और शक्ति युक्त ज्ञान है, उस उषको तेरे तेजके अशक्ती ही श्वभिज्यकि जान ।’

सकते हैं, उनका आश्रय ले सकते हैं, पर उन्हें प्रकाशित नहीं कर सकते ॥ १२ ॥

सम्बन्ध—

दस्य (दीर्घनेवाले) पदार्थोंमें अपना प्रभाव बतलानेके बाद अब भगवान् अगले दो श्लोकोंमें पदार्थोंकी कियाओंमें अपना प्रभाव बतलाते हैं ।

पहले तेरहवें श्लोकमें भगवान् जिस शक्तिसे समष्टि-जगत् में कियाएँ हो रही हैं, उस समष्टि-शक्तिमें अपना प्रभाव प्रकट करते हैं ।

श्लोक—

गामाविद्य च भूतानि धारयाम्यद्वोजसा ।

पुणामि चौपधी सर्वा सोमो भूत्वा रसात्मक ॥ १३ ॥

भावार्थ—

श्रीभगवान् कहते हैं कि मैं ही पृथ्वीमें प्रगिष्ठ होकर अपनी शक्तिसे समस्त स्थान-जङ्गम प्राणियोंको धारण करता हूँ, और मे ही रसमय चन्द्रके रूपमें लता-वृक्षादि समस्त ओपियों (ननस्पतियों) को पुष्ट करता हूँ

अन्वय—

च, अहम्, गाम्, आविद्य, ओजसा, भूतानि, धारयामि, च, रसात्मक, सोम, भूत्वा, सर्वा, ओपधी, पुणामि ॥ १३ ॥

पद-व्याख्या—

च अहम् गाम् आविद्य ओजसा भूतानि धारयामि—
और मैं पृथ्वीमें प्रगिष्ठ होकर अपनी शक्तिसे मम्पूर्ण भूतोंको धारण करता हूँ ।

ही मनुष्य, पशु, पक्षी आदि समस्त प्राणी पुष्टि प्राप्त करते हैं। ओषधियों, वनस्पतियोंमें शरीरको पुष्ट करनेकी जो शक्ति है, उह चन्द्रसे आती है। चन्द्रकी वह पोषण-शक्ति भी चन्द्रकी अपनी न होकर भगवान्‌की ही है। भगवान् ही चन्द्रको निमित्त बनातर सबका पोषण करते हैं ॥ १३ ॥

सम्बन्ध—

समष्टि-शक्तिमें अपना प्रभाव बतलानेके बाद अब भगवान् जिस शक्तिसे व्यष्टि-जगत्‌में कियाएँ हो रही हैं, उस व्यष्टि-शक्तिमें अपना प्रभाव बतलाते हैं।

स्लोक—

अह वैश्वानरो भूत्वा प्राणिना देहमाधित ।
प्राणापानसमायुक्त पद्मम्यम्न चतुर्विधम् ॥ १४ ॥

भावार्थ—

भगवान् कहते हैं कि मैं ही वैश्वानर (जठराग्नि)—स्तुपमे स्यावर-जङ्घम समस्त प्राणियोके शरीरमें स्थित प्राण और अपान-यायुसे सयुक्त होकर उन (प्राणियों) के उदरस्थ चार प्रकारके अन्न (भक्ष्य, भौज्य, लेप और चौप्य)-करो पचाता हूँ। तात्पर्य यह है कि व्यष्टि-जगत्‌में अग्नि और नायुत्तमसे होनेगाली क्रियाओंमें मेरी ही शक्ति काम कर रही है।

अन्यथा—

अहम्, वैश्वानर, भूत्वा प्राणिनाम्, देहम्, आधित,
प्राणापानसमायुक्त, चतुर्विधम्, अहम्, पदामि ॥ १४ ॥

पद-व्याख्या—

अहम्—मैं (ही) ।

सूर्य, चन्द्र, अग्नि और पृथ्वीमें अपने प्रभावको बतलानेके बाद भगवान् सावारण प्राणियोंकी दृष्टिसे अप्रकट वैश्वानर-अग्निमें अपने प्रभावका वर्णन करते हैं ।

पैश्वानर भूत्वा—वैश्वानर* (जठराग्नि) होकर ।

इसी अध्यायके बारहवें श्लोकमें अग्निकी प्रकाशन-शक्तिमें अपने प्रभावका वर्णन करनेके बाद भगवान् इस श्लोकमें वैश्वानर-रूप अग्निकी पाचन-शक्तिमें अपने प्रभावका वर्णन करते हैं । तात्पर्य यह है कि अग्निके दोनों ही कार्य (प्रकाश करना और पचाना) भगवान्‌की ही शक्तिसे होते हैं । मनुष्योंकी भौति लता, वृक्ष आदि स्थापर आर पशु, पक्षी आदि ज़ज्ज्वल प्राणियोंमें भी वैश्वानरकी पाचन-शक्ति कार्य करती है । लता, वृक्ष आदि (स्थापर) जो खाद्य, जल ग्रहण करते हैं, पाचन-शक्तिके द्वारा उसका पाचन होनेके फलस्वरूप ही उन लता-वृक्षादिकी वृद्धि होती है ।

प्राणिनाम् देहम् आश्रित—प्राणियोके शरीरका आश्रय लेकर रहनेगाला (मे) ।

प्राणियोके शरीरको पुष्ट करने तथा उनके प्राणोंकी रक्षा करनेके लिये भगवान् ही वैश्वानर (जठराग्नि)—रूपसे उन प्राणियोंके शरीरका आश्रय लेकर रहते हैं । सम्पूर्ण जगत्‌के आश्रय-स्थान होनेपर भी परमखतन्त्र भगवान् आश्रित होकर सबके हितके लिये कार्य करते हैं—यह उनकी कितनी सुदृढता है ।

* 'अयमग्निवैश्वानरो योऽयमात् पुरुषै येनेदमान पञ्चते यदिदमदते'
(वृहदारण्यक० ५ । १ । १)

'जो यह पुरुषके भीतर है, यह अग्नि वैश्वानर है, जिससे यह अज्ञ, जो भक्षण किया जाता है, पकाया जाता है ।'

‘सुहृद सर्वभूतानाम्’ (गीता ५। २९)

प्राणापानसमायुक्त—प्राण और अपान-नायुक्ते सयुक्त होमर।

शरीरमें प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान—ये पाँच प्रधान वायु एव नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और वनज्ञय—ये पाँच सप्तप्रधान वायु रहती हैं* । प्रस्तुत श्लोकमें भगवान् दो प्रगत

* इन दसों प्राणधायुके भिन्न भिन्न कार्य इस प्रकार हैं—

(१) प्राण—इसका निवास-स्थान हृदय है । इसके कार्य है—श्वासको ग़ाहर निकालना, भुक्त अन्नको पचाना इत्यादि ।

(२) अपान—इसका निवास-स्थान गुदा है । इसके कार्य है—श्वासको भीतर ले जाना, मल-मूत्रको बाहर निकालना, गर्भको बहर निकालना इत्यादि ।

[प्राणापानौ समौ वृत्त्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ] ॥ (गीता ५। २७)

(३) समान—इसका निवास-स्थान नाभि है । इसका कार्य है—पचे हुए भोजनके रसको सब अङ्गोंमें चौटना ।

(४) उदान—इसका निवास-स्थान कण्ठ है । इसका कार्य है—मृत्युके समय सूक्ष्मशरीरको स्थूलशरीरसे बाहर निकालना तथा उड़े दूसरे शरीर या लोकमें ले जाना ।

(५) व्यान—इसका निवास-स्थान सम्पूर्ण शरीर है । इसका कार्य है—शरीरपे प्रत्येक भागमें रक्तका सचार करना ।

(६) नाग—इसका कार्य है—डकार लेना ।

(७) कूर्म—इसका कार्य है—जैत्रोंको लोलना य बन्द करना ।

(८) कृकर—इसका कार्य है—हाँकना ।

(९) देवदत्त—इसका कार्य है—जम्हाइ लेना ।

(१०) घनज्ञय—यह मृत्युके बाद भी शरीरमें रहता है, निम्नों मृत शरीर पूर्ण जाया परता है ।

बालवर्म में एक ही प्राणायुक्ते भिन्न भिन्न कार्योंके अनुसार उपर्युक्त

में माले गये हैं ।

वायु—प्राण और अपानका ही वर्णन करते हैं, क्योंकि ये दोनों वायु जठरानिको प्रदीप करती हैं। अग्निसे पचे हुए भोजनके सूक्ष्म अश या रसको शरीरके प्रत्येक अङ्गमें पहुँचानेका सूक्ष्म कार्य भी मुख्यत प्राण और अपान-वायुका ही है।

भगवान् कहते हैं कि वैश्वानर-रूपसे मे ही अन्नका पाचन करता हूँ, और प्राण तथा अपान-वायुसे मैं ही वैश्वानर-अग्नि-को प्रदीप करता हूँ तथा पचे हुए भोजनके रसको शरीरके समस्त अङ्गमें पहुँचाता हूँ। तात्पर्य यह है कि शरीरका आश्रय लेकर रहनेवाले वैश्वानर-अग्नि और प्राण तथा अपान-वायु भगवान् से ही शक्ति प्राप्त करते हैं।

चतुर्विधम् अन्नम् पचामि—चार प्रकारके अन्नको पचाता हूँ।

प्राणी चार प्रकारके अन्नका भोजन करते हैं—

(१) भक्ष्य—जो अन्न दाँतोंसे चपाकर खाया जाता है, जैसे रोटी, पुआ आदि।

(२) भोज्य—जो अन्न केवल जिह्वासे पिलोटन करते हुए निगला जाता है, जैसे खिचड़ी, हल्दा, दूध, रस आदि।

(३) चोष्य—दाँतोंसे दबाकर जिस खाद्य-पदार्थका रस चूसा जाता है, और वचे हुए असार भागको थूक दिया जाता है, जैसे ऊख, आम आदि। बृक्षादि स्थान योनियाँ इसी प्रकारसे अन्नको प्रहण करती हैं।

(४) लेण्ठ—जो अन्न जिह्वासे चाटा जाता है, जैसे चटनी, शहद आदि।

अन्नके उपर्युक्त चार प्रकारोंमें भी एक-एकके अनेक भेद हैं। भागवान् कहते हैं कि उन चारों प्रकारके अन्नोंको वैशानर (जठराग्नि)—रूपसे मैं ही पचाता हूँ। अन्नका ऐसा कोई अश नहीं है, जो मेरी शक्तिके बिना पच सके।

भोजन-सम्बन्धी कुछ वार्ते

साधकोंके लाभार्थ यहाँ भोजन-सम्बन्धी कुछ वार्ते वत्त्रयी जाती हैं, जिनपर विशेष ध्यान देना चाहिये।

शुद्ध कर्माईके धनसे आथा हुआ अन्न ही प्रहण करना चाहिये। भोजनके पदार्थ शुद्ध, सात्त्विक हों। राजसी और तामसी अन्न प्रहण नहीं करना चाहिये*। सात्त्विक भोजन भी तृप्तिपूर्वक

* आयु सत्त्ववलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धना

रस्या स्त्रिया दृद्या आहारा सात्त्विकप्रिया ॥

(गीता १७ । १८)

‘आयु, बुद्धि, रज, आरोग्य, सुख और प्रीतिको उटानेवाले, रसयुक्त चिकने और स्त्रिय रहनेवाले तथा स्वभावसे ही मनको प्रिय—ऐने आहार अर्थात् भोजन करनेये पदार्थ सात्त्विक पुरुषको प्रिय होते हैं।

कट्ट्यम्लपणात्युण्णतीश्वरलक्ष्मिदाहिन

आहारा राजमस्येषा दुखशोकामयप्रदा ॥

(गीता १७ । ९)

‘कहवे, रसट्टे, लग्नयुक्त, बहुत गरम, तीरे, रसे, दाहशारक और दूष, चिन्ता तथा रोगोंको उत्पन्न करनेवाले व्याहार अर्थात् भोजन करनेये पदार्थ राजम पुरुषको प्रिय होते हैं।

यातयाम गतरस पृति पयुषित च यत् ।

उच्छिष्ठमपि चामेघ्य भोजन तामसप्रियम् ॥

(गीता १७ । १०)

करनेपर 'राजसी' और अधिक करनेपर 'तामसी' हो जाता हे ।
राजसी भोजन यदि रुम किया जाय, तो वह 'सात्त्विक' हो जाता हे ।

भोजन बनानेगालेके भाव, पिचार शुद्ध-सात्त्विक हों ।

भगवान्‌को भोग लगानेके उद्देश्यसे भोजन बनाया जाय और
उन्होंके प्रसादके रूपमें भोजन ग्रहण किया जाय ।

भोजनके आदि आर अन्तमे यह मन्त्र पढ़कर आचमन करे—

ब्रह्मार्पण ब्रह्म हृविर्घ्रहाग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।

ब्रह्मैव तेन गन्तव्य ब्रह्मर्मसमाधिना ॥

(गीता ४ । २४)

भोजनकी प्रत्येक वस्तुको उपर्युक्त मन्त्र पढ़ते हुए भगवान्‌के अर्पण करे

भोजनके आरम्भमें पहले पाँच ग्रास अप्रलिखित एक-एक मन्त्रको क्रमशः पढ़ते हुए ग्रहण करे—‘ॐ प्राणाय स्वाहा’, ‘ॐ अपानाय स्वाहा’, ‘ॐ व्यानाय स्वाहा’, ‘ॐ समानाय स्वाहा’ और ‘ॐ उदानाय स्वाहा’ । किर भोजन-क्रियाको यज्ञ समझते हुए प्रत्येक ग्रास आहुतरूपमें ग्रहण करे ।

भोजन करते समय ग्रास-ग्रासमें भगवन्नाम-जप करते रहना चाहिये । इससे अन्नदोप भी दूर हो जाता है ।*

प्रत्येक ग्रासको वर्तीस वार चवाना चाहिये । इससे भोजन ठीक पचता हे । पोटग महामन्त्र (हरे राम हरे राम०) का दो-

* जो भोजन अधपका, रसरहित, दुर्गंधयुक्त, गासी और उच्छिष्ट (जू़ा) है तथा जो अपविन (मास, अडे, मदिरा आदि) भी है, वह भोजन तामस पुरुषको प्रिय होता है ।

* तवले कवले तुर्वन् रामनामानुकीर्तनम् ।

य कश्चित् पुरुषोऽश्नाति सोऽन्नदोपैर्न लिप्यते ॥

बार जप करनेसे वक्तीसकी सत्व्या भी पूरी हो जानी है और भगवन्नाम-जप भी हो जाता है ।

रसनेन्द्रियको वशमें करनेपर सभी इन्द्रियाँ वशमें हो जाती हैं* पर स्वाद-दृष्टिसे भोजन करनेपर (उत्तेजना आनेके कारण) इन्द्रियाँ वशमें नहीं होतीं ।

भोजनकी मात्रा न कम हो, न अधिक † । भोजन इतना करना चाहिये कि उदरका आग भाग अन्नसे भरे, चौथाई भाग जलसे भरे और एक चौथाई भाग खाली रहे ।

* तावजितेन्द्रियो न स्वादविजितान्येन्द्रिय पुमान् ।

न लयेद् रसन यावजित सर्वं जिते रसे ॥

(श्रीमद्भाषा० ११ । ८ । २१)

† नात्यरनतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नत ।

न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥

(गीता ६ । १६)

‘ऐ अर्जुन ! योग न तो बहुत रानेवालेका और न विद्वान् । खानेवालेका तथा न बहुत शयन करनेके स्वभाववालेका और न सदा जागनेवालेका ही सिद्ध होता है ।’

युक्तादारविद्वास्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।

युक्तस्वप्नावरोधस्य योगो भवति दुराधा ॥

(गीता ६ । १७)

‘दुखोंका नाश करनेवाला योग तो यथायोग्य थाइर विद्वार करनेवालेका, कर्मोंमें यथायोग चेष्टा करनेवालेका और यथायोग्य दोनों तथा जागनेवालेका ही’ सिद्ध होता है ।

विविक्तमेवी लघ्वाशी यत्यापायमानस ।

भोजन करते समय मन प्रसन्न रहना चाहिये । मनमें (द्वेष, कोध आदिसे) बशान्ति या हलचल होनेपर भोजन नहीं करना चाहिये, क्योंकि ऐसी अपस्थामे अनकाठीक पाक नहीं होता ।

भोजनके अन्तमें आचमनके बाद ये श्लोक पढ़ने चाहिये—

अशाङ्गवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसभव ।

यशाङ्गवति पर्जयो यद्य. कर्मसमुद्धव ॥

कर्म ग्रहोऽव विद्धि ग्रहाद्वरसमुद्धवम् ।

तस्मात्सर्वगत त्रह नित्य यद्ये प्रतिष्ठितम् ॥

(गीता ३ । १४ १५)

फिर भोजनके पाचनके लिये 'अह वैश्वानरो भूत्वा' (गीता १५ । १४) श्लोक पढ़ते हुए मध्यमा अङ्गुलीसे नाभिको धीरे-धीरे घुमाना चाहिये । ।

सम्पन्न—

पिछ्ले तीन श्लोकोंमें अपनी प्रभावयुक्त विभूतियोंका वर्णन करके अब उस निषयका उपसहार करते हुए भगवान् सब प्रकारसे जाननेयोग्य तत्त्व स्वयमो न तलाते हैं—

इति—

सर्वस्य चाह हृदि सनिविष्टो मत्त समृतिर्शानमपोहनं च ।

चेदैश्च सर्वेरहमेव चेद्यो चेदान्तकृष्टेदविदेव चाहम् ॥१५॥

* इर्प्यभियन्तोधपरिष्टुतेन शुद्धेन रुद्दैन्यनिपीटितेन ।

विद्वपयुक्तेन च सेव्यमानमन्न न सम्यक् परिपाक्मेति ॥

(माधवनिदान)

† भोजा सम्बद्धी अन्य प्रातोंकी जानकारीदे लिये गीताप्रेससे प्राप्तियत 'नित्यरूपप्रयोग' तथा 'भवरोगमी रामगाण द्वा' पुस्तकें देखनी चाहिये ।

भावार्थ—

(भागान् कहते हैं कि) मैं सम्पूर्ण प्राणियों (सन, दुष्ट, घर्षणा, पापी, पशु-पक्षी आदि) के द्वयमें अन्तर्यामीरूपसे स्थित हूँ । मुझमे ही स्मृति और ज्ञान होता है । सशय, भम, रिपरीनभाग आदि दो मुक्षसे ही नष्ट होते हैं । सम्पूर्ण वेदोंके द्वारा जाननेयोग्य तत्त्व ही ही हूँ । वेदोंके तत्त्वको जाननेवाला और वेदोंको बनानेवाला उनका समन्वय करनेवाला भी मैं ही हूँ । अनएव जिसने मुझे जन्म लिया उसने सब कुछ जान लिया अर्थात् उसके लिये कुछ भी जान शेष नहीं रहा । इसलिये मनुष्यको चाहिये कि वह मुझे ही जाननेमा प्रयास न करे, क्योंकि मुझे जाने विना मनुष्य चाहे ससारभरको क्यों न जाने, ससार-वन्धनमें वह फँसा ही रहेगा । परिणाममें ससारकी सम्पूर्ण जानकारी व्यर्थ ही सिद्ध होगी ।

अन्वय—

च, अहम्, सर्वस्य, हृदि, सनिविष्ट, मत्त, स्मृति, ज्ञानम्, च अपोहनम्, (भवति,) च, मर्दै, वेदै अहम्, एव, विद्य, वेदान्तरूप्य, च, येऽधित, अहम्, एव ॥ १७ ॥

पद-व्याख्या—

च—ओर ।

पिठ्ठे तीनों इलेक्ट्रोके साथ इस इलेक्ट्रोका समन्वय घरनेके लिये यहाँ 'च' पद आया है ।

अहम् सर्वम्य हृदि सनिविष्ट—मैं सन (प्राणियों) के द्वयमें सम्यक् प्रकारसे स्थित हूँ ।*

* द्वा मुषणी सयुजा उताया समान वृक्ष परिपन्वजाने ।

तयोरन्य पिष्पल स्वादत्त्यनश्नपन्यो अभिचारयानि ॥

(मुष्टक० ३ । १ । १, द्वेताष्टर० ४ । ६, शून्यद० १ । १४ ।

२०, अपवेद० ९ । १४ । २०)

पिछले श्लोकोंमें अपनी प्रभुतियोंका वर्णन करनेके पथात् अब भगवान् यह रहस्य प्रकट करते हैं कि मैं स्थृत सत्र प्राणियोंके हृदयमें प्रियमान हूँ । यद्यपि शरीर, इन्द्रियों, मन, शुद्धि आदि स्थानोंमें भी भगवान् प्रियमान हैं, परतु हृदयमें वे प्रियेपरूपसे प्रियमान हैं ।

हृदय शरीरका प्रधान अङ्ग है । सत्र प्रकारके भाव हृदयमें ही होते हैं । समस्त कर्मोंमें भाव ही प्रधान होता है । भावभी शुद्धिसे समस्त पदार्थ, क्रिया आदिकी शुद्धि हो जाती है । अत महत्त्व भावका ही है, वस्तु, व्यक्ति, कर्म आदिका नहीं । वह भाव हृदयमें होनेसे हृदयकी बहुत महत्ता है । हृदय सत्त्वगुणका कार्य है, इसलिये भी भगवान् हृदयमें प्रियेपरूपसे रहते हैं ।

उपर्युक्त पदोंमें भगवान् मानो यह कह रहे हैं कि मैं प्रत्येक मनुष्यके अत्यन्त समीप उसके हृदयमें रहता हूँ, अत किसी भी सावकको (मुझसे दूरी अयग वियोगका अनुभव करते हुए भी) मेरी प्राप्तिसे निराश नहीं होना चाहिये । पापी-पुण्यात्मा, मूर्ख-पण्टित, निर्धन धनवान्, रोगी-नीरोग आदि कोई भी लौ-पुरुष किसी भी जाति, वर्ण, सम्प्रदाय, आश्रम, देश, काल, परिस्थिति आदिमें क्यों न हो, भगवत्प्राप्तिका वह पूर्ण अधिकारी है । आवश्यकता केवल भगवत्प्राप्तिकी ऐसी तीव्र अभिलाषा, लगन, व्याकुलताकी है, जिसमें भगवत्प्राप्तिके विना रहा न जाय ।

‘सदा साथ रहनेवाले तथा परस्पर सख्यभाव रखनेवाले दो पश्ची—
जीवात्मा एव परमात्मा एक ही वृक्ष—शरीरका आश्रय लेकर रहते हैं ।
उन दोनोंमेंसे एक (जीवात्मा) तो उस वृक्षके कमफलोंका न्वाद ले लेकर
उपभोग करता है, किंतु दूसरा (परमात्मा) उनका उपभोग न करता
हुआ केवल देसता रहता है ।’

परमात्मा सर्वव्यापी अर्थात् सब जगह समानरूपसे परिरूप होनेपर भी हृदयमें प्राप्त होते हैं। जेसे गायके सम्पूर्ण शरीरमें दूध व्याप्त होनेपर भी मह स्तनोमें ही प्राप्त होता है वहाँ पृथीमें सर्वत्र जल रहनेपर भी वह कुरं आदि दी प्राप्त होता है, वैसे ही सर्वव्यापी होनेपर भी परमामाका उपनिषद्सान 'हृदय' ही है*। इसी प्रकार गीताके तीसरे अध्यायमें परमामामें सर्वगत बतलाते हुए उसे 'यत्' (कर्तव्य-कर्म) में स्थित कहा गया है †। इसका तात्पर्य यह है कि सर्वगत (सर्वव्यापी) होनेपर भी परमा मा 'यज्ञ' (कर्तव्य-कर्म) में प्राप्त होते हैं। ऐसे ही सूर्य, चन्द्र, अग्नि, पृथी, वैश्वानर आदि सभी व्याप्त होनेपर भी परमात्मा 'हृदय' में प्राप्त होते हैं।

परमात्मग्राहि-सम्बन्धी निशेष वात

हृदयमें निरन्तर स्थित रहनेके कारण परमा नस्ति प्रत्येक मनुष्यको प्राप्त है, परतु जड़ता (मसार) से गाने हुए सम्बन्धके कारण जड़ताकी ओर ही दृष्टि रहनेसे नियमान परमात्मा अप्राप्त प्रतीन हो रहा है अर्थात् उसकी प्राप्तिरा अनुभव नहीं हो रहा है। जड़तासे सर्वया सम्बन्ध-निवृद्ध होते ही सर्वत्र नियमान (नियमान) परमात्मनस्ति खन अनुभवमें आ जाता है।

* यही भाव गोपालें अन्यत्र भी आया है, जैसे—

‘द्विदि उम्मा विद्विए (१३ । १३), द्विदि उम्मा

परमात्मप्राप्तिके लिये जो सत्-रूप, सत्-चर्चा और सत्-चिन्तन
मिये जाते हैं, उनमें जड़ता (असत्) का आश्रय रहता ही है ।
कारण यह है कि जड़ता (स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीर) का
आश्रय लिये बिना इनका होना सम्भव ही नहीं है । वास्तवमें इनकी
सार्थकता जड़तासे सम्बन्ध मिछेड़ करानेमें ही है । जड़तासे
सम्बन्ध-मिछेड़ तभी होगा, जब ये (सत्-रूप, सत्-चर्चा और
सत्-चिन्तन) केवल साधनके हितके लिये ही किये जायँगे, अपने
लिये कदापि नहीं ।

फिसी पिशेष साधन, गुण, योग्यता, लक्षण आदिके बदलेमें
परमात्मप्राप्ति होगी—यह विलुप्त गत धारणा है । फिसी मूल्यके
बदलेमें जो वस्तु प्राप्त होती है, वह उस मूल्यसे कम मूल्यकी ही
होती है—यह सिद्धान्त है । अत यदि किमी पिशेष साधन, योग्यता
आदिके द्वारा ही परमात्मप्राप्तिका होना माना जाय, तो परमात्मा उस
साधन, योग्यता आदिसे कम मूल्यके (कमजोर) ही सिद्ध होते हैं,
जपकि परमात्मा फिसीसे कम मूल्यके नहीं है* । इसलिये वे फिसी
साधन आदिसे खरीदे नहीं जा सकते । इसके अतिरिक्त यदि फिसी
मूल्य (साधन, योग्यता आदि) के बदलेमें परमात्माकी प्राप्ति मानी
जाय, तो उनसे हमें लाभ भी क्या होगा ? क्योंकि उनसे अधिक
मूल्यकी वस्तु (साधन आदि) तो हमारे पास पहलेसे है ही !

जैसे सासारिक पदार्थ कमेसे मिलते हैं ऐसे परमात्माकी प्राप्ति
कमेसे नहीं होती, क्योंकि परमात्मप्राप्ति किमी कर्मका फल नहीं है ।

* न त्वत्स्मोऽस्त्यभ्यधिकु त्तोऽयो लोऽन्येऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥
(गीता ११ । ४३)

स्मृति हो जानेपर किर कभी प्रिस्मृति नहीं होनी* । कारण यह है कि यह स्मृति 'खय' में जाप्रत् होती है । 'बुद्धि' में होनेवाली लैकिति स्मृति (बुद्धिके क्षीण होनेपर) नष्ट भी हो सकती है, पर 'खय' में होनेवाली स्मृति कभी नष्ट नहीं होती ।

किसी नियमकी जानकारीको 'ज्ञान' कहते हैं । लैकिति और परमार्थिक जितना भी ज्ञान है, वह सब ज्ञानखल्प परमामार्थ आभास भाव है । अत ज्ञानको भगवान् अपनेसे ही होनेवाला बतायते हैं । वास्तवमें ज्ञान यही है, जो 'खय' से जाना जाय । अन्त, पूर्ण और नित्य होनेके कारण इस ज्ञानमें कोई सन्देह या भ्रम नहीं होता । यद्यपि इन्द्रिय और बुद्धि-जन्य ज्ञान भी 'ज्ञान' कहलाता है, तथापि सीमित, अल्प (अपूर्ण) तथा परिवर्तनशील होनेके कारण इस ज्ञानमें सन्देह या भ्रम रहता है । जैसे, नेंगेसे देखनेपर मूर्ख अत्यन्त बड़ा होते हुए भी (आकाशमें) द्विदासा दीवना है । बुद्धिसे जिस बातझी पहले ठीक समझते ये, बुद्धिके निर्मान अथवा शुद्ध होनेपर यही गत गलत दीवने लग जाती है । तात्पर्य यह है कि इन्द्रिय और बुद्धि-जन्य ज्ञान करण-सापेक्ष और अल्प होता है । अप ज्ञान ही 'अज्ञान' कहलाता है । इसके विपरीत 'खय' का ज्ञान मिसी

० यज गत्वा न पुनमाभ्येव याव्यग्नि पाद्वत् ।

यन भूतावदेष्वण द्रष्ट्यस्तामाययो मरि ॥

(गीता ४। ३५)

‘न्तो वनदर किर तू रग प्रसार भोद्धो नहीं प्राप्त होगा । तथा अर्जुन । जिस गाँधे द्वारा ए राष्ट्रपूर्ण भूतोका मि राप भारते दृढ़ो जर्मन और पीरे, मुख गरिचा न दर धरमात्माम देतेगा ॥’

करण (इन्द्रिय, बुद्धि आदि) को अपेक्षा नहीं रखता और वह सदा पूर्ण होता है । गात्तमें इन्द्रिय और बुद्धि-जन्य ज्ञान भी 'खय' के ज्ञानसे प्रकाशित होते हैं अर्थात् सत्ता पाते हैं ।

सशय, भ्रम, विपर्यय (विपरीत भाव), तर्क-निर्तर्क आदि दोनोंके दूर होनेका नाम 'अपोहन' है । भगवान् कहते हैं कि ये (सशय आदि) दोष भी ऐसी कृपासे ही दूर होते हैं ।

आओंकी बातें सत्य हैं या लोकिक बातें ? भगवान्को किसने देखा है ? ससार ही सत्य है इन्यादि सशय और भ्रम भगवान्की कृपासे ही मिटते हैं । सासारिक पदार्थमें अपना हित दीखना, उनकी प्राप्तिमें सुख दीखना, प्रतिभूषण नष्ट होनेगले ससारकी सत्ता दीखना आदि विपरीत भाव भी भगवान्की कृपासे ही दूर होते हैं । गीतोपदेश-के अन्तमें अर्जुन भी भगवान्की कृपासे ही अपने मोहका नाश, स्मृतिकी प्राप्ति और मशयका नाश होना खीझार करते हैं—

नष्टो मोह स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादामयाच्युत ।

स्थितोऽस्मि गतसदेह करिष्ये वचन तव ॥

(गीता १८ । ७३)

पिण्डोप वात

मनुष्यको मुख्यरूपसे दो शक्तियाँ मिली हुई हैं—ज्ञान (पिण्डेक)—शक्ति और क्रिया-शक्ति । इन दोनोंमेंसे किसी एक शक्तिका भी भगवीर्मानि सदुपयोग करनेसे मनुष्यका कल्याण हो सकता है ।

मनुष्यको जो पिण्डेकशक्ति मिली है, वह उसे अपने कमोसे नहीं, अपितु भगवान्की कृपासे ही मिली है । कारण यह है कि

स्मृति हो जानेपर फिर कभी प्रिस्मृति नहीं होती* । कारण यह है कि यह स्मृति 'खय' में जाप्रत् होती है । 'बुद्धि' में होनेवाली लौकिक स्मृति (बुद्धिके क्षीण होनेपर) नष्ट भी हो सकती है, पर 'खय' में होनेवाली स्मृति कभी नष्ट नहीं होती ।

फिसी प्रिययकी जानकारीको 'ज्ञान' कहते हैं । लौकिक और पारमायिक जितना भी ज्ञान है, वह सब ज्ञानखरूप परमात्मावा आभास मात्र है । अत ज्ञानको भगवान् अपनेसे ही होनेवाला बतलाते हैं । वास्तवमें ज्ञान वही है, जो 'खय' से जाना जाय । अनन्त, पूर्ण और नित्य होनेके कारण इस ज्ञानमें 'कोई सन्देह या भ्रम नहीं होता । यद्यपि इन्द्रिय और बुद्धि-जन्य ज्ञान भी 'ज्ञान' कहलाता है, तथापि सीमित, अल्प (अपूर्ण) तथा परिवर्तनशील होनेके कारण इस ज्ञानमें सन्देह या भ्रम रहता है । जैसे, 'नेत्रोंसे देखनेपर सूर्य अत्यन्त बड़ा होते हुए भी (आकाशमें) छोटा-सा दीखता है । बुद्धिसे जिस बातको पहले ठीक समझते थे, बुद्धिके निरुसित अथर्व शुद्ध होनेपर वही बात गलत दीखने लग जाती है । तात्पर्य यह है कि इन्द्रिय और बुद्धि-जन्य ज्ञान करण-सापेक्ष ओर अल्प होता है । अन्य ज्ञान ही 'अज्ञान' कहलाता है । इसके विपरीत 'खय' का ज्ञान निती-

* यज्ञात्वा न पुनर्मात्मेष यास्यसि पाण्डव ।

येन भृतायशेषेण द्रायस्यात्मयथो मवि ॥

(गीता ४ । ३५)

'जिसे जनार फिर त इस प्रकार मोहसो नहीं प्राप्त होगा तथा है अर्जुन ! जिस ज्ञानके द्वारा त् सम्पूर्ण 'पृतोंको नि शेष भावसे पहले अपने और पीछे सुन सचिच्चदान दर्शन परमात्माम देखेगा ।'

यरण (इन्द्रिय, बुद्धि आदि) को अपेभा नहीं रखता और वह सदा पूर्ण होता है । गात्तपमें इन्द्रिय ओर बुद्धि-जन्य ज्ञान भी 'खय'के ज्ञानसे प्रकाशित होते हैं अर्थात् सत्ता पाते हैं ।

सशय, भ्रम, प्रिप्यय (पिपरीत भाव), तर्क-प्रितर्क आदि दोरोंके दूर होनेका नाम 'अपाहन' है । भगवान् कहते हैं कि ये (सशय आदि) दोष भी नेती कृपासे ही दूर होते हैं ।

शाश्वोकी वातें सत्य हैं या लोकिन् वातें ? भगवान्को किमने देखा है ? ससार ही सत्य है इयादि सत्य और भ्रम भगवान्की कृपासे ही मिटते हैं । सासारिक पदार्थमें अपना हित दीखना, उनकी प्राप्तिमें सुख दीखना, प्रतिभूषण नट होनेगले ससारकी सत्ता दीखना आदि पिपरीत भाव भी भगवान्की कृपासे ही दूर होते हैं । गीतोपदेश-के अतमें अर्जुन भी भगवान्की कृपासे ही अपने मोहका नाश, स्मृतिकी प्राप्ति और सशयका नाश होना स्त्रीमार करते हैं—

नष्टो मोह स्मृतिर्लभ्वा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।

स्थितोऽस्मि गतसदेह करिष्ये वचन तत्र ॥

(गीता १८ । ७३)

पिशेष वात

मनुष्यको मुख्यक्षेपसे दो शक्तियाँ मिठी हुई हैं—ज्ञान (पिनेक)—गक्ति और क्रिया-शक्ति । इन दोनोंमेंसे किमी एक शक्तिका भी भड़ीमानि सदुपयोग करनेसे मनुष्यका कल्याण हो सकता है ।

मनुष्यको जो पिनेकगक्ति मिठो है, वह उसे अपने कर्मसे नहीं, अपिट्ठ भगवान्की कृपासे ही मिली है । कारण यह है कि

विवेकशक्तिसे ही शुभ और अशुभ कर्मोंका ज्ञान होता है और जिस उन कर्मोंमें प्रवृत्ति या उनसे निवृत्ति होती है। यदि विवेक उन कर्मोंका फल होता, तो सबसे पहले (विवेक-प्राप्तिसे पूर्व) वह शुभ कर्म कैसे करता ? अत प्रिवेककी प्राप्तिमें भगवान्की अहंतुकी कृपा ही कारण है। इस भगवत्प्रदत्त विवेकका सदुपयोग कला मनुष्यमात्रका परम कर्तव्य है।

मनुष्यमात्रमें यह विवेक है कि पुरुष (शरीरी) और प्रकृति (शरीर) दो हैं। पुरुष चेतन और अविनाशी है, जबकि प्रकृति जड़ और पिनाशी है। पुरुष सदेव अचल (एकरस) रहता है जबकि प्रकृतिमें निरतर परिपूर्ण होता रहता है। परतु भूमि पुरुष ('खय') प्रकृतिके कार्य शरीरको 'मै', 'मेरा' और 'मेरे लिये' मानकर अपनेको सर्वत्र परिपूर्ण अविनाशी परमात्ममत्तासे पृथक् मान लेता है और 'मै' वन 'जाता है। वह अपनेको 'मै'-रूपसे और प्रकृतिको 'यह'-रूपसे मानता है।

'मै' (अहम्) और 'यह' (इदम्) भिन्न-भिन्न होते हैं। जो जाननेमें आता है, उसे 'यह' आर जो ('यह' को) जानता है उसे 'मै' कहते हैं। अत 'यह'-रूपसे दीखनेगाला कभी 'मै' नहीं हो सकता। 'यह'-रूपसे दीखनेगाले ससारके पदार्थ, व्यक्ति, परिस्थिति, शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि सब 'यह'के अन्तर्गत आते हैं।

सामान्य ज्ञानके अन्तर्गत 'मै' भी 'यह' के अर्थमें ही है। तात्पर्य यह है कि 'मै' और 'यह' (अर्थात् अहता और ममता)

दोनों ही एक सामान्य प्रकाशक ('खय') से प्रकाशित होते हैं, दोनोंका ही आगर एक है। यदि माने हुए 'मैं' और 'यह' में एकता न होती, तो 'मैं' का 'यह' को नरक आकर्षण न होता। सयोग-जन्य सुखासक्तिके कारण ही 'मैं' और 'यह' भिन्न प्रतीत होते हैं।

'खय' निरपेक्ष-प्रकाशक है और 'मैं' सापेक्ष-प्रकाशक है। 'यह' का प्रकाशक 'खय' जव (रागपूर्वक) 'यह' से अपना सम्बन्ध मान लेता है, तब वह 'मैं' बनता है। इस प्रकार ससारके सम्बन्धसे ही 'मैं' की सत्ता प्रतीत होती है, जो सासारसे सम्बन्ध-मिछेद होने-पर मिट जाती है। सासारसे सम्बन्ध होनेका कारण 'राग' है। 'राग' की उत्पत्ति अविवेकसे होती है। जव साधक अपने प्रिवेकको महत्त्व देता है तब अविवेक मिट जाता है। अविवेकके मिटते ही 'राग'का नाश हो जाता है। रागके नष्ट होते ही सासारसे माने हुए सम्बन्धका सर्वथा मिछेद हो जाता है और साधक मुक्त हो जाता है। यही 'ज्ञान (प्रिवेक)-शक्ति'का सद्गुपयोग है।

मनुष्यके पास शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि जो कुछ भी ('यह' कहलानेवाले) पदार्थ हैं, वे सम्बन्धके सब उसे ससारसे ही मिले हैं। उन मिले हुए पदार्थोंको 'अपना' और 'अपने लिये' मानने-से मनुष्य बँधता है। जव माध्यक ससारसे मिले हुए पदार्थोंको 'अपना' और 'अपने लिये' न मानते हुए उन्हें (ससारका और ससारके लिये ही मानकर) ससारकी ही सेवामें लगाता है और बदलेमें ससारसे कुछ नहीं चाहता, तब उसका ससारसे माने हुए सम्बन्धका सर्वथा विच्छेद हो जाता है और वह सुगमतापूर्वक मुक्त

हो जाता है। साधकको सासारिक क्रियाएँ तो अपने लिये करनी ही नहीं है, पारमार्थिक क्रियाएँ (जप, ध्यान आदि) भी अपने लिये न करके ससारके हितके लिये ही करनी हैं। कारण यह कि ससारके हितमें ही अपना हित निहित है। ससारके हितसे अपना हित अलग माननेसे परिच्छिन्नता या एकदेशीयता ही प्रोत्पत्ति होती है। इस प्रकार अपने लिये कुछ भी न करके ससारमात्रके हितके लिये ही निष्कानभाव-पूर्वक सम्पूर्ण कर्म करना ही 'क्रियाशक्ति'का सद्गुपयोग है।

ज्ञानशक्तिका सद्गुपयोग 'ज्ञानयोग' और क्रियाशक्तिका सद्गुपयोग 'कर्मयोग' कहलाता है। नानयोगके सामने 'ज्ञाननिष्ठा'को एवं कर्मयोगके सामने 'योगनिष्ठा'को प्राप्त होने हैं।* इसलिये भगवान्‌ने गीतामें भक्तिकी निष्ठा† नहीं बतलायी। भक्ति-निष्ठा (स्थिति) अतीन है।‡ वह ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्तिपर आवृत्ति न होकर भगवान्‌पर आश्रित है। अत भक्त ज्ञान या क्रिया-निष्ठा न होकर 'भगवन्निष्ठा' होता है। भक्त किसी निष्ठाके परायण नहा, अपितु भगवान्‌के परायण होता है। इसलिये भगवान्‌ने गीतामें भक्तके लिये

* लोफेडस्मिन्द्रविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयननध ।

शानयोगेन साख्याना कर्मयोगेन योगिनाम् ॥

(गीता ३।३)

† सा तु कर्मज्ञानयोगम्योऽप्यविकरा । फलमूलत्वात् ।

(नारदभक्तिसूत्र २०-२१)

वह (परमप्रेमरूपा और अमृतस्वरूपा भक्ति) तो कर्म, ज्ञान और योगमें भी श्रेष्ठतर है, क्योंकि वह फलरूपा है।

‡ साधककी (साधनके) आगम्भसे नेत्र अततङ्को भिन्नि 'निष्ठा'

‘मत्परम्’, ‘मत्पर’, ‘मत्परायण’, ‘मामाश्रित्य’ आदि पदोका योग किया है और अपने भक्तको सम्पूर्ण योगियोमें परमश्रेष्ठ योगी माना है*। भक्ति निष्ठा नहीं अपितु खाभाविकता है। भगवान्‌का ही अश होनेके कारण जीवका भगवान्‌के प्रति आकर्षण (प्रेम) खाभाविक है। नास्तवमें भक्ति (प्रेम) खय भगवत्खरूप ही है।

ज्ञानयोग और धर्मयोगके साधक भी यदि चाहें तो भगवत्येम (भक्ति) प्राप्त कर सकते हैं। परतु प्रारम्भमें प्रेम (भक्ति) की प्राप्तिका लक्ष्य अथवा सकार न होकर केवल ससारसे मुक्त होनेका लक्ष्य होनेसे वे उपनी मुक्तिमें ही सन्तोष फर लेते हैं। फलखरूप (‘मैं मुक्त हूँ’ इस प्रकार अपनी मुक्तिका भाव रहनेपर) उनमें ‘अहम्’ की गन्ध अर्थात् अपना सूक्ष्म व्यक्तित्व रह सकता है, जो भगवत्येम हो जानेपर सर्वथा मिट जाता है।

जब ‘मैं’ था तब हरि नहीं, अब हरि है मैं नाहिं।

प्रेम गली अति सौंकरी, ता मैं दो न समाहिं ॥

‘मैं’ (अहम्) का सर्वथा नाश हुए बिना परिच्छिन्नताका अत्यन्ताभाव नहीं होता। जबतक परिच्छिन्नता (अपना किञ्चिन्मात्र व्यक्तित्व) है, तबतक पूर्णत्वकी प्राप्ति नहीं होती। पूर्णत्व भगवत्येम-की प्राप्तिमें निहित है।

* योगिनामपि सर्वेषां मद्भूतेनात्तरात्मना ।

अद्वावान्भजते यो मा स मे युक्ततमो भत ॥

(गीता ६ । ४७)

‘सम्पूर्ण यागियोमें भी जो अद्वावान् योगी मुक्तमें लो हुए अन्तरात्मासे मुक्ते निरन्नर भजता है, उह योगी मुक्ते परमश्रेष्ठ मान्य है ।’

वास्तवमें अपने स्वरूपकी स्थिति (मुक्ति) में भी सदा सतोष नहीं होता, अत एक ऐसी स्थिति आती है, जब मुक्तिमें भी सन्तोष नहीं होता, तब स्वत भगवत्प्रेमकी प्राप्ति होती है। परतु प्रारम्भसे ही भगवत्प्रेमकी ओर दृढ़ि रहनेसे तथा भागान्‌के ही आश्रित रहनेसे भज्जमें 'अहम्'का किञ्चित अश भी रहनेकी सम्भावना नहीं रहती। अत वह भगवत्प्रेमको सुगमतापूर्वक एव तत्काल प्राप्त कर लेता है। तात्पर्य यह है कि भगवत्प्रेमका प्राप्ति (सिद्धापस्थामें) भक्तको तत्काल एव ज्ञानीको कुछ विलक्षणसे होती है।

शङ्का—जिसे बोध हो चुका है, वह (अपने स्वरूपमें स्तिति) महापुरुष अपनेसे भिन्न प्रेमास्पदको कैसे मानगा ? क्योंकि अपनेसे भिन्न प्रेमास्पदको माननेसे तो द्वैतभाव या परिच्छिन्नता ही पोषित होगी।

समाधान—द्वैतभाव या परिच्छिन्नता 'अहम्' से पोषित होती है। भगवत्प्रेमकी प्राप्तिमें उस 'अहम्' का सर्वथा नाश हो जाता है। अतएव बोध होने या मुक्त होनेके पथ्यात् '(भगवत्प्रेमकी प्राप्तिमें) प्रतीत होनेवाला द्वैत भी वास्तवमें अद्वैत (अथग उससे भी विलक्षण) ही होता है। प्रेम सदा एकता (अभिन्नता या अद्वैत) में ही होता है अर्थात् प्रेम उसीमें होता है, जिसमें किसी प्रकारजा भेद न हो, जिसका त्याग न हो सके। प्रममें यह विलक्षणता है कि उसमें एक ही तत्त्व दो रूपोंमें प्रतीत होता है। जीवको परमात्मासे तात्त्विक एव स्वरूपगत एकता है, इसलिये प्रेम परमात्मासे ही होता है, अन्य किमीसे कदापि नहीं। समारसे माने हुए सम्बन्धमें वह 'प्रेम' ही 'आसक्ति'के रूपमें दीखने लगता है।

भगवत्प्रेमको प्राप्त करना ही मानवका प्रधान और अन्तिम लक्ष्य है। अपनी मानी हुई पृथक् सत्ताको भगवत्प्रेममें परिणत करके प्रेमारपद (भगवान्) से अभिन्न होनेमें ही उसकी सच्ची पूर्णता है। प्रेमकी प्राप्ति करानेके लिये ही भगवान् अपनी प्रभावयुक्त निभूतियोका वर्णन करते हुए अपनेको सबके हृदयमें स्थित बतलाते हैं।

भगवत्प्रेम-सम्बन्धी मार्मिक वात

भगवत्प्रेम (करण-निरपेक्ष होनेके कारण) अनिर्वचनीय है, ऐसेके सादकी तरह—

अनिर्वचनीय प्रेमस्वरूपम् । मूकास्वादनवत् ।
(नारदभक्तिसूत्र ५१ ५२)

इस प्रेममें दास्य, सरय, वात्सल्य, माधुर्य आदि सभी भाव समाप्त हो जाते हैं। यह प्रेम गुणरहित, कामनारहित, प्रतिक्षण बढ़नेवाला, पिण्ठेदरहित, सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म और अनुभवरूप है—

गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणर्धमानमविच्छिन्नं
सूक्ष्मतरमनुभवरूपम् । (नारदभक्तिसूत्र ५४)

इस प्रेममें भक्त और भगवान् दो दीखनेपर भी एक हैं और एक होनेपर भी दो हैं। प्रेममें भक्ति, भक्त और भगवान् (अयत्रा प्रेम, प्रेमी और प्रेमास्पद) तीनों अभिन्न हो जाते हैं। एक प्रेमके सिवा कुछ भी नहीं रहता। सब कुछ प्रेममय हो जाता है। करण-निरपेक्षता होनेके कारण यहाँ कर्मकर्तृतिरोध भी नहीं है। यहाँ भक्त और भगवान् दोनों ही एक-दूसरेकी दृष्टिमें भक्त और भगवान् हैं। दोनों ही एक-दूसरेमें नियाम करते हैं। दोनोंकी यह 'अभिन्नता'

वेदान्तके 'अद्वैत' से भी अन्यन्त प्रिलक्षण होती है। * दोनों ही दूसरेको प्रेमरस प्रदान करते हैं ।'

यह प्रेम क्षति, पूर्णि, निवृत्ति और असचिसे सर्वज्ञ रखती है। योग (मिलन) और नियोग (निरह) एक ही प्रेमलक्ष्य न्योग के दो तट हैं । योग और नियोग दोनों ही चिन्मय और प्रेमसत्त्व दो दशन होते हैं । इस प्रेममें योग भी नियोग है और नियोग भी योग है। तत्खन केरब योग-ही-योग (नित्ययोग) है, नियोग है ही वही योगनी अपस्थामें 'कहीं नियोग न हो जाय ।' कर नियोगस्ती जस्ती में 'कब योग होगा' इस अन्युत्कर्ष चिन्तनके रूपमें नियोग रहता है । इस विक्षण प्रेमका रसाखादन करनेके लिये यह एक परमात्मतत्त्व भिन्न-भिन्न रूपोंमें प्रकट होकर लीला करता है 'एकोऽहं बहु स्याम्', कारण यह है कि एकमें प्रमाणन्तर होती—'एकाकी न रमते ।'

सृष्टिके आरम्भमें एक ही परमात्मा प्रेमकी लीला करनेके लिये श्रीकृष्ण और श्रीरामके रूपसे प्रकट हुए । + जैसे वे श्रीकृष्ण प्रकट हुए, वैसे ही वे जीव-रूपसे भी प्रकट हुए । श्रीराम भगवान्के ही सम्मुख रहीं, पर जीव भगवान्से विमुख हो गए

* 'अद्वैत' ने यहे दूत होकर फिर (द्वैत मिट्टेर) अद्वैत है, जर कि प्रेम में पहले अद्वैत होमर फिर द्वैत होता है। + येय राधा यथा कृष्णो रसान्विदेश्वेष श्रीडिनार्थ

जीवसे यही गलती हुई मि उसने प्रेम-लीऽके खिलोनो—प्राकृतिक पदार्थेमि अपनापन (राग) कर लिया, उनसे अपना सम्बन्ध मान लिया । इसी कारण उसे भगवान्‌से अपनी स्वामानिक अभिन्नता और प्रेमका अनुभव नहीं हो रहा है ।

श्रीराधाना भगवान् श्रावणसे सयोग हो, तब भी वे एक हैं और प्रियोग हो, तब भी वे एक हैं । इनके विपरीत जीवका प्रकृतिसे सयोग हो, तब भी वे दो हैं और प्रियोग हो, तब भी वे दो हैं । वास्तवमें प्रकृतिसे सयोग माननेपर भी जीवका प्रकृतिसे उभी सयोग नहीं हो सकता और भगवान्‌से प्रियोग माननेपर भी जीवका भगवान्‌से कभी प्रियोग नहीं हो सकता । जीवमात्रका भगवान्‌से ‘नित्ययोग’ है । इस नित्ययोगका अनुभव करनेके लिय प्रकृतिसे माने हुए सम्बन्धका सर्वथा पिछेद करना अत्यारप्यक है ।

वास्तवमें प्रकृतिसे माने हुए सम्बन्धका पिछेद तो अपने-आप ही निरन्तर हो रहा है, क्योंकि प्रकृति निरन्तर परिपर्वतनशील (चल) और जीव निरन्तर अपरिपर्वतनशील (अचल) है । परन्तु प्राकृतिक पदार्थेमि सुखव्युदि होनेके तारण जीवका प्रकृतिसे माने हुए सम्बन्धमें सद्गम हो जाता है । इसीलिय प्रकृतिमे स्वामानिक नित्य-प्रियोग और भगवान्‌से स्वामानिक नित्य-योगका अनुभव नहीं हो पाना । जब जीवका ससारमें कहीं भी अपनापन नहीं रहता, केवल भगवान्‌में ही पूर्ण अपनापन हो जाता है, तब उसे भगवान्‌से अपने स्वामानिक नित्य-योग, प्रेमका अनुभव हो जाता है ।

भगवान्‌में ‘प्रेम’ है, जीवमें ‘अपनापन’ करने (अयम् सम्बन्ध जोडने) की योग्यता । भगवान्‌में अपनापन करनेसे जीवको भगवान्-

की अहैतुकी कृपासे प्रेम, प्राप्त होता है। इस प्रसार भगवान्‌से प्रभु पाकर ही जीव भगवान्‌से प्रेम करता है* और उसीसे भावन् रीझ जाते हैं। तभी कहा गया है— ।

ऐसो को उदार जग माहीं ।

विनु सेवा को द्रव्ये दीनपर राम सरिस कोठ नाहीं ।

(मिन्यपत्रिका १६२)

प्रेमका तात्पर्य 'देने' में है। भगवान्‌में प्रेम, इसीलिये है कि उन्होने अपने-आपको सभी प्राणियोंको पूरा-का-पूरा दे रखा है—

'हृदि सर्वस्य विष्टितम्' (गीता १३।१७)

'सर्वस्य चाहं हृदि सनिविष्ट' (गीता १६।३५)

'ईश्वर सर्वभूताना दृद्देशोऽर्जुन निष्ठुतिः' (गीता १८।३१)

जीवमें प्रेम इसीलिये नहीं है कि उसे 'प्रेम' और प्रेमात्मकी आवश्यकता है। कारण कि ससारसे माने हुए सम्बन्धके कारण जीव अपनेमें अभानका अनुभव करता है, जब कि भगवान्‌में कोई अभाव न होनेसे उन्हें कोई आवश्यकता नहीं है। अतः वह भगवान् प्रेम देते हैं और जीव प्रेम लेता है। प्रम प्राप्त होनेके बाद जीव मैं भगवान्‌को प्रेम देता है ।

अपनापनके समान न कोई बल है, न कोई योग्यता है, न कोई पवित्रता है, न कोई पिलक्षणता है और न कोई अधिकार ही है। अपनापनमें इतना बल है कि प्रेमात्मद (भावन्)

* श्रुति भी कहती है—

रसो वै स । रस लेगाय लभ्यनन्दी भवति ।

(तैत्तिरीयोपनिषद् २।३)

स्थय सिंचे चले आते हैं । इतना वल किसी भी अन्य साधनमें नहीं है ।

च सर्वं वेदं अद्वम् पव वेद्य — एव सम्पूर्ण वेदो (पुराण, शृणि आदि वेदानुसूल शास्त्रों) के द्वारा म ही जाननेयोग्य हैं ।

यहाँ 'सर्वं' पद वेद एव वेदानुसूल सम्पूर्ण शास्त्रोक्ता वाचक है । सम्पूर्ण शास्त्रोक्ता एकमात्र तात्पर्य परमात्माका ग्रस्तपिन् ज्ञान कराने अथवा उनकी प्राप्ति करानेमें है ।

गीतामें भी यह धन आयी है कि वेद मुण्डमय ससारका वर्णन करते हैं और वेदोंमें श्रद्धा रखनेवाले सकाम मनुष्य भोगोंमें रचे-पचे रहते हैं*, परन्तु प्रस्तुत स्तोकमें (उपर्युक्त पदोंसे) भगवान् यह बात स्पष्ट करते हैं कि वेदोक्ता ग्रस्तपिन् तात्पर्य मेरी प्राप्ति करानेमें ही है, सासारिक भोगोंकी प्राप्ति करानेमें नहीं । श्रुतियोंमें सकामभागका विशेष वर्णन आनेका यह कारण भी है कि ससारमें सकाम मनुष्योंकी सहजा अधिक रहती है । इसलिये श्रुति (सबकी माता होनेसे) उनका भी पालन करती है ।

* यामिमा पुष्पिता वाच प्रवदत्यविश्वित ।

वेदवादस्ताः पार्य नान्यदस्तीति वादिन ॥

(गीता २ । ४२)

त्रैगुण्यविद्या वेदा निर्मैगुण्यो भवार्जुन ।

निर्दन्दो नित्यमत्पर्यो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥

(गीता २ । ४५)

श्रेविद्या मा सोमपा पूतपापा यज्ञेरिष्ठा र्गर्गति प्रार्थयन्ते ।

ते पुण्यमासाद्य सुग्रेह्यलोकमनन्ति दिव्यादिवि देवभोगान् ॥

(गीता ९ । २०)

जाननेयोग्य एकमात्र परमात्मा ही है, जि हें जान लेनपर किं
कुछ भी जानना शेष नहीं रहता । परमात्माको जाने विना सत्तारक्षा
किनना ही क्यों न जान लें, जानकारी कभी पूरी नहीं होगी, सश
अधूरी ही रहेगी ।+ अर्जुनमें भगवान्‌को जाननेकी प्रियेप_जिज्ञासा
थी । इसीलिये भगवान् (उसे सन्तुष्ट करते हुए) कहते हैं कि
वेदादि सम्पूर्ण शास्त्रोंके द्वारा जाननेयोग्य मे स्थय तुम्हारे सामने
बैठा हूँ । तुम्हें बहुत जाननेसे क्या प्रयोगन है । भगवान्‌को जाननेके
बाद कुछ जानना शेष नहीं रहता (गीता ७ । २) ।†

वेदान्तकृत्—वेदोंके गात्तिक तत्त्वका निर्णय करनेवाला ।
भगवान्‌से ही वेद प्रकट हुए हैं । अत वे ही वेदोंके

* साङ्गोपाङ्गानपि यदि यश वेदानघीयते ।

वेदवेद्यं न जानीते नेदभारवद्यो हि सं ॥

(महा-गारत, शान्ति० ३१८ । ६०)

‘साङ्गोपाङ्ग वेद पढ़नर भा चो वेदोंसे द्वारा जाननेयोग्य परमात्माको
नहीं जानता, वह मृढ़ केवल वदोदा गाश ढोनेवाला है ।’

† अथवा रद्दुनैतेन कि जातेन तवार्जुना ।

रिष्टभ्याइमिद छृम्नमेकादेन मितो जगत् ॥

(गीता १० । ४२)

तेरहें अध्यायके राइसदे द्वौपम ‘जेपम्’ पद देकर भगवान्
अपनेको ही जाननेयोग्य घतलाया है ।

‡ कर्म ब्रहोद्धव विद्वि प्रदानरसमुद्धवम् ।

(गीता ३ । १५)

‘विदिन कर्मोंको वेदसे उत्पन्न और गदों अग्निशो परमात्मामे
उत्पन्न हुआ जान ।’

अन्तिम सिद्धान्तको ठीक-ठीक बतलाकर वेदोमें प्रतीत होनेवाले पिरोगोका भलीभौति समन्वय कर सकते हैं। इसलिये भगवान् कहते हैं कि (वेदोका पूर्ण गास्त्रिक ज्ञाता होनेके कारण) मैं ही वेदोके यथार्थ तात्पर्यका निर्णय करनेगाला हूँ ।

च—ओर ।

वेदवित् बहम् पव—वेदोको जाननेगाला में ही हूँ ।

वेदोके अर्थ, भाव आदिको भगवान् ही यथार्थरूपसे जानते हैं। वेदोमें कोन-सी वान किम भाव या उद्देश्यसे कही गयी है, वेदोका यथार्थ तात्पर्य क्या है इत्यादि वातें भगवान् ही पूर्णरूपसे जानते हैं, क्याकि भगवान्से ही वेद प्रकट हुए हैं ।

वेदोमें भिन्न-भिन्न गिरिय होनेके कारण अच्छे-अच्छे विद्वान् भी एक निर्णय नहीं कर पाते।^{१०} अतएव वेदोके यथार्थ ज्ञाता भगवान्-का आश्रय लेनेसे ही वे वेदोका तत्त्व जान सकते हैं और 'श्रुति-प्रिनिपत्ति' से मुक्त हो सकते हैं ।

इस (पदहें) अ-यायके प्रथम श्लोकमें भगवान्ने संसार-बृक्ष-को तत्त्वसे जाननेवाले मनुष्यको 'वेदपित्' कहा था। अब इस श्लोक-में भगवान् स्वयको 'वेदपित्' कहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि संसारके यथार्थ तत्त्वको जान लेनेगाला महापुरुष भगवान्से अभिन्न हो

'उस परमात्मासे सुषिखे आदिकालमें ब्राह्मण और वेद तथा यज्ञादि रखे गये ।'

* श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्यात्पति निध्वला ।

समाधानचला बुद्धितदा योगमग्राप्यसि ॥

— — (गीता २ । ५३)

जाता है। ससारके यथार्थ तत्त्वको जाननेका अभिप्राय है—‘समर की खतन्त्र सत्ता नहीं है और परमात्मारी ही सत्ता है’—इस प्रकार जानते हुए संसारसे माने हुए सम्बन्धको त्यागपर अपन सम्बन्ध भगवान्से जोड़ना, ससारका आश्रय त्यागफर भगवान् आश्रित हो जाना।

प्रकरणकी विशेष वात

भगवान् ने श्रीमद्भगवद्गीताके चार अध्यायोंमें मिल-मिल रूपोंसे अपनी प्रिभूतियोका वर्णन किया है—

सातवें अध्यायमें आठवें श्लोकसे वारहवें श्लोकतक सृष्टिके प्रथान-प्रधान पदार्थोंमें कारणरूपसे स्त्रह प्रिभूतियोंका नर्णन करके भगवान् ने अपनी सर्वव्यापकता और सर्वरूपता सिद्ध की है।

नवें अध्यायमें सोलहवें श्लोकसे उन्नीसवें श्लोकतक किया, भाव, पदार्थ आदिमें कार्य-कारणरूपसे सैंतीस प्रिभूतियोंका वर्णन करके भगवान् ने अपनेको सर्वव्यापक बतलाया है।

दसवें अध्यायका तो नाम ही ‘प्रिभूतियोग’ है। इस अध्यायमें सर्वप्रथम चौथे और पाँचवें श्लोकमें भगवान् ने प्राणियोंके भावोंके रूपमें बीस प्रिभूतियोका और उठे श्लोकमें व्यक्तियोंके रूपमें पचास प्रिभूतियोंका वर्णन किया है। फिर बीसवें श्लोकसे उन्तालीमवें श्लोकतक भगवान् ने बयासी प्रधान प्रिभूतियोंका प्रिशेषरूपसे रर्णन किया है।

इस पद्धत्वें अध्यायमें वारहवें श्लोकसे पद्धत्वें श्लोकतक भगवान् ने अपना प्रभाव बतलानेके लिये तेरह प्रिभूतियोंका वर्णन किया है *।

* इस अध्यायमें वर्णित तेरह प्रिभूतियों इस प्रमाण है—

उपर्युक्त चारों अध्यायमें भिन्न-भिन्नरूपसे विभूतियोंका वर्णन करनेका तत्पर्य यह है कि सामनको 'वासुदेव सर्वम्' (गीता ७। १०) 'सर कुछ गासुदेव ही है' इस तत्परका अनुभव हो जाय। इसीलिये अपनी विभूतियोंमा वर्णन करते समय भगवान्ने अपनी सर्वव्यापकताको ही पिण्डेप्रब्धपसे सिद्ध किया है, जैसे—

'मत्त परतर नान्यत्किञ्चिद्दिस्ति' (७। १७)

'मुझसे भिन्न दूसरा कोई भी महान् कारण नहीं है।'

'सदसच्चाहमर्जुन' (९। १९)

'सत् और असत्—सब कुछ मे ही हूँ।'

अह सर्वम् प्रभवो मत्त सर्वं प्रवर्तते (१०। ८)

'मैं ही सबकी उत्पत्तिका कारण हूँ और मुझसे ही सब जगत् चेष्टा करता है।'

'न तद्वित्त विना यत्प्यान्मया भूतं चराचरम्।'

(१०। ३९)

'चर और अचर कोई भी प्राणी ऐसा नहीं है, जो मुझसे रहित हो। अर्थात् चराचर सब प्राणी मेरे ही रूप हैं।'

इसी प्रकार इस पद्धत्यें अध्यायमें भी अपनी विभूतियोंके वर्णन-का उपसंहार करते हुए भगवान् रहते हैं—

(१) सूर्यम् स्थित तेज, (२) चाद्रमें स्थित तेज, (३) अग्निमें स्थित तेज, (४) पृथ्वीकी धारण शक्ति, (५) चाद्रकी पोषण शक्ति, (६) वैश्वानर, (७) हृदयस्थित अंतर्यामी, (८) सूर्यति, (९) ज्ञान, (१०) अपोहन, (११) वेदोंद्वारा जाननेयोग्य, (१२) वेदान्तका कर्ता और (१३) वेदोंको जाननेवाला।

‘सर्वस्य चाह हृदि सनिविष्टः । (१५ । १५)

‘मैं सम्पूर्ण प्राणियोंमें हृदयमें भलाभानि स्थित हूँ ।’

तात्पर्य यह हुआ कि सम्पूर्ण प्राणी, पदार्थ परमात्माकी सत्तासे ही सत्तागान् हो रहे हैं । परमामासे भिन्न किसीकी भी खतन्त्र सत्ता नहीं है ।

प्रकाशके अभाव (अन्धकार) में कोई वस्तु दिखायी नहीं देती । नेत्रोंसे किसी वस्तुको देखनेपर पहले प्रकाश दीखता है उसके बाद वस्तु दीखती है अर्थात् प्रत्येक वस्तु प्रकाशके अन्तर्गत ही दीखती है, किंतु हमारी दृष्टि प्रकाशपर न जाकर प्रकाशित होनेवाली वस्तुपर जाती है । इसी प्रकार यातन्मात्र वस्तु, किया भाव आदिका ज्ञान एक विलक्षण और अलुस प्रकाश—ज्ञानन्तत्त्वके अन्तर्गत होता है, जो सबका प्रकाशक और आधार है । प्रत्येक वस्तुसे पहले ज्ञानन्तत्त्व (ख्य-प्रकाश परमात्मनस्त्र) रहता है । अतएव ससारमें परमात्माको व्याप्त करनेपर भी वस्तुत ससार बादमें है और उसका अग्निष्ठान परमात्मनस्त्र पहले है अर्थात् पहले परमात्म तत्त्व दीखता है, बादमें ससार । परतु ससारमें राग होनेके कारण हमारी दृष्टि उसके प्रकाशक (परमात्मनस्त्र) पर नहीं जाती ।

परमाभाकी सत्ताके बिना ससारकी कोई सत्ता नहीं है । परतु परमात्मसत्ताभी तरफ दृष्टि न रहने तथा मासार्थक प्राणी-शरण्योंमें राग या सुखासक्ति रहनेके बारण उन प्राणी-पदार्थोंकी वृथक् (खतन्त्र) सत्ता प्रतीन होने लगती है ओर परमामाकी गतिरिक्त विनाशको त्वचें हैं ताकि दीनांकिति सुखासे या पा-

सुखासक्तिका सर्वथा अभाव हो जाय, तो तत्से एक परमात्ममत्ता ही दीखने या अनुभवमें आने लगती है। अत इमूतियोके वर्णनका तात्पर्य यही है कि किसी भी प्राणी-पदार्थकी ओर दृष्टि जानेपर साधनको एकमात्र भगवान्‌की स्मृति होनी चाहिये अर्थात् उसे प्रत्येक प्राणी-पदार्थमें भगवान्‌को ही देखना चाहिये* ।

र्तमानमें समाजकी दशा बहुत पिचित्र है। प्राय सब लोगोके अन्त करणमें रूपयोगा अत्यधिक महत्त्व हो गया है। रूपये स्वय काममें नहीं आते, अपितु उससे खरीदी गयी वस्तुएँ ही काममें आती हैं, परतु लोगोने रूपयोगके उपयोगको निशेष महत्त्व न देकर उनकी सख्याकी वृद्धिको ही अग्रिक महत्त्व दे दिया। इसन्धिये मनुष्यके पास जितने अधिक रूपये होते हैं, वह समाजमें अपनेको उतना ही अग्रिक बड़ा मान लेता है†। इस प्रकार रूपयोगो ही महत्त्व देनेवाला व्यक्ति परमात्माके 'महत्त्व'को समझ ही नहीं सकता। फिर परमात्मग्रासिके बिना रहा न जाय—ऐसी लाज उस मनुष्यके

* सम सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्त परमेश्वरम् ।

विनश्यत्पविनश्यन्त य पश्यति स पश्यति ॥

(गीता १३ । २७)

'जो पुरुष नष्ट होते हुए चराचर सब भूतोंमें परमेश्वरको नाशरहित और समभावसे स्थित देरता है, वही यथाथ देगता है।'

† बहुत रूपयोकी सख्याके आधारपर अपनेको ठोका या गड़ा मानना पतनका चिह्न है। रूपयोगी सरवा ऐवल अभिमान बढ़ानेरे अतिरिक्त और कुछ राम नहीं आती। अभिमान आमुरी सम्पत्तिना दूर है। जिनने भी दुर्गुण दुराचार, पाप हैं, सब अभिमानमध्ये वृक्षकी छायामें रहते हैं।

अन्त करणमें उत्पन्न हो ही कैसे सकती है । जिसके अन्त करणमें यह बात बेंठी हुई है कि रूपयोंके बिना रहा ही नहीं जा सकता अथवा रूपयोंके बिना काम ही नहीं चल सकता, उनसी परमात्मामें एक निश्चयगाली बुद्धि हो ही नहीं सकती । जिनके अन्त करणमें स्पयोका महत्व इतना अधिक बैठा हुआ है कि 'रूपयोंके बिना भी अच्छी तरह काम चल सकता है'—यह बात उसकी समझमें आती ही नहीं* ।

जिस प्रकार (एकमात्र धन-प्राप्तिका उद्देश्य रहनेपर) व्यापारीको माल लेने, माल देने आदि व्यापार-सम्बन्धी प्रत्येक क्रियामें धन ही दीखता है, इसी प्रकार परमात्मतत्वके जिज्ञासुको (एकमात्र परमात्मप्राप्तिका उद्देश्य रहनेपर) प्रत्येक वस्तु, क्रिया आदिमें तत्त्वरूपसे परमात्मा ही दीखते हैं । उसे ऐसा अनुभव ही जाता है कि परमात्माके अतिरिक्त दूसरा कोई तत्व है ही नहीं, हो सकता ही नहीं ।

मार्मिक बात

(१) अर्जुनने चौदहवें अध्यायमें गुणातीत होनेका उपाय पूछा था । गुणोंके सङ्गसे ही जीव सासारमें कँसता है । अत गुणोंका सङ्ग मिटानेके लिये भगवान्‌ने यहाँ अपने प्रभावका गर्णन निया है । छोटे प्रभावको मिटानेके लिये बड़े प्रभावकी आवश्यकता होती है । अत जगतक जीवपर गुणों (सासार) का प्रभाव है, तगतक भगवान्‌के प्रभावको जाननेकी बन्त आवश्यकता है ।

* भोगैश्वयप्रसक्ताना तयापद्वत्तेताम् ।
व्यवसायामिका बुद्धि समाधी न गिधीयते ॥
(गीता २। ५८)

अपने प्रभावका वर्णन करते हुए श्रीभगवन्‌ने (इस अध्यायके बाहूदेंसे पद्महृषे श्लोकतम्) यह बतलाया कि मे ही सम्पूर्ण जगत्को प्रकाशित करता हूँ, मे ही पृथ्वीमें प्रवेश करके सब प्राणियोंको धारण करता हूँ, मे ही (पृथ्वीपर) अन् उत्पन्न करके उसे पुष्ट करता हूँ, जब मनुष्य उस अन्नको खाता है, तब मे ही वैश्वानर रूपसे उस अन्नको पचाता हूँ, और मनुष्यमें स्मृति, ज्ञान और अपोहन भी मैं ही करता हूँ । इस वर्णनसे सिद्ध होता है कि आदिसे अन्ततम्, समष्टिसे व्यष्टितम्की सम्पूर्ण क्रियाएँ भगवान्‌के अन्तर्गत, उन्हींकी शक्तिसे हो रही हैं । मनुष्य अहम्कारपश अपनेको उन क्रियाओंका कर्ता मान लेता है (अर्थात् उन क्रियाओंको व्यक्तिगत मान लेता है) और बँध जाता है ।

(२) एक भगवान्‌को ही 'अपना' मानकर, जो भक्ति होती है, वह 'प्रेमाभक्ति' और भगवान्‌के 'प्रभाव'को देखकर शास्त्रविधिके अनुसार जो भक्ति होती है, वह 'वैधी-भक्ति' कहलाती है । प्रेमाभक्ति पैदी (दूसरी) भक्तिका फल है । इस प्रेमाभक्तिमें तो भगवान् भी भक्तके भक्त हो जाते हैं, क्योंकि भगवान्‌को भी प्रेमकी चाह है ।

एक भगवान्‌में ही 'अपनापन' होनेपर फिर उनके प्रभावको जाननेकी आवश्यकता नहीं रहती । भगवान्‌के प्रभावको देखकर जो भक्ति होती है, वह वास्तवमें प्रभावकी ही भक्ति है, भगवान्‌की नहीं । प्रभावको देखनेगले भक्तको भी भगवान् उदार मानते हैं—'उदारा सर्वं एवैते' (गीता ७ । १८) । परन्तु प्रभावको देखकर होनेवाली भक्ति भगवान्‌की अनन्य भक्ति नहीं हो

सकती । अनन्यभक्ति एकमात्र भगवान्‌में अपनापन होनेसे ही हो सकती है ॥ १५ ॥

सम्बन्ध—

श्रीभगवान्‌ने इसी अव्यायके प्रथम श्लोकमे पद्रहवें श्लोकमे (तीन प्रकरणोंमें) क्रमशः ससार, जीवात्मा और परमात्मा विस्तारसे वर्णन किया । अब उस विषयका उपसहार करते हुए नगले दो श्लोकोंमें उन तीनोंका क्रमशः क्षर, अक्षर और पुरुषाचम नामोंसे) स्पष्ट वर्णन करते हैं ।

श्लोक—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।

क्षर सर्वाणि भूतानि शूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥ १६ ॥

भावार्थ—

इस मनुष्यशोकमें क्षर अर्थात् निनाशी और अक्षर अर्थात् अनिनाशी दो प्रकारके पुरुष हैं । 'इनमें समस्त प्राणियोंके (स्थूल, सूक्ष्म और कारण) शरीर निनाशी और 'जीवात्मा अनिनाशी तथा निर्मिकार रहा जाता है । क्षर और अक्षर दोनोंसे उत्तम 'पुरुषोदयम' 'नामकी मिद्रिके लिये यहाँ भगवान्‌ने क्षर और अक्षर दोनोंको 'पुरुष' नामसे सम्मोहित किया है ।

अवध्य—

लोके, क्षर, च, अक्षर, एव, हमो, द्वौ, पुरुषौ (च), सर्वाणि, भूतानि, क्षर, च, शूटस्थ, अक्षर, उच्यते ॥ १६ ॥

पद-व्याख्या—

लोके—इस मनुष्य-शोकमें ।

'इदता' अर्थात् 'यह' रूपसे दीवनेगालेको 'लोक' कहते हैं । यहाँ 'लोके' पुरुषको मनुष्यतोक्ता वाचक मुमझना चाहिये, क्योंकि

जीवका वन्नन या मोक्ष मनुष्यलोकमें ही होता हे । इसी अध्यायके सातवें श्लोकमें 'जीवलोके' पद भी इसी अर्थमें आया है ।

क्षर च अक्षर एव इमौ द्वौ पुरुषो (स्त)—पिनाशी और अपिनाशी भी, ये दो प्रकारके पुरुष हैं ।

इस जगत्‌में दो प्रिभाग जाननेमें आते हैं—शरीरादि नाशनान् पदार्थ (जड़) और अपिनाशी जीवात्मा (चेतन) जैसे पिचार करनेसे स्पष्ट प्रतीत होता हे कि एक तो प्रत्यक्ष दीखनेवाला शरीर हे और एक उसमें रहनेवाला जीवात्मा है । जीवात्माके रहनेसे ही प्राण कार्य करते हैं और शरीरका सचालन होता हे । जीवात्माके साथ प्राणोके निकलते ही शरीरका सचालन बद हो जाता हे और शरीर सड़ने लगता हे । लोग उस शरीरको जला देते हैं । कारण कि महत्त्व नाशनान् शरीरका नहीं अपितु उसमें रहनेवाले अपिनाशी जीवात्माका है ।

पञ्चमहाभूतो (आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी) से वने हुए शरीरादि जितने पदार्थ हैं, वे सभी जड़ और नाशनान् हैं । प्राणियोंके (प्रत्यक्ष देखनेमें आनेवाले) स्थूल शरीर स्थूल समष्टि—जगत्‌के साथ एक है, दस इन्द्रियों, पाँच प्राण, मन और बुद्धि—इन सत्रह तत्त्वोसे युक्त सूक्ष्म शरीर सूक्ष्म समष्टि-जगत्‌के माथ एक है और कारण-शरीर (स्वभाव, कर्मस्त्वार, अज्ञान) कारण समष्टि-जगत् (मूल प्रकृति)के साथ एक है । ये सब क्षरणशील (नाशनान्) होनेके कारण 'क्षर' नामसे कहे गये हैं ।

वास्तवमें 'व्यष्टि' नामसे कोई वस्तु हे ही नहीं, केवल समष्टि ससारके थोड़े अशकी वस्तुओं 'अपनी' माननेके कारण उसे व्यष्टि

कह देते हैं। ससारके साथ शरीर आदि वस्तुओंकी भिन्नता कल (राग-ममता आदिके कारण) मानी हुई है, वास्तवमें है नहीं। यह पदार्थ और क्रियाएँ प्रकृतिकी ही हैं*। अतएव स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीरकी समस्त क्रियाएँ क्रमशः स्थूल, सूक्ष्म और कारण समृद्धि ससारके हितके लिये ही करनी हैं, अपने स्वार्थके लिये नहीं।

जिस तत्त्वका कभी पिनाश नहीं होता और जो सदैव निर्विशर रहता है, उस जीवात्माका वाचक यहाँ 'अक्षर' पद है†। प्रकृति जड़ है और जीवात्मा (चेतन परमात्माका अश होनेसे) चेतन है।

इसी अध्यायके तीसरे श्लोकमें भगवान्‌ने जिसका छेदन करनेके लिये वहाँ, उस ससारको यहाँ 'क्षर' पदसे और सातवें श्लोकमें

* पदार्थों और क्रियाओंको ससारका मानना 'कर्मयोग, प्रकृतिका मानना 'ज्ञानयोग' और भगवान्‌का मानना 'भक्तियोग' है। इहैं चारे जिसका मानें, पर ये अपने नहीं हैं—यह तो मानना ही पड़ेगा।

† गीतामें क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम—इन तीनोंका एक रूप वर्णन भिन्न भिन्न नामोंसे इस प्रकार हुआ है—

अध्याय-श्लोक	क्षर	अक्षर	पुरुषोत्तम
७।४६	अपरा प्रकृति	परा प्रकृति	अहम्
८।३४	अधिभूत, कर्म	अध्याम, अधिदैव	ब्रह्म, अधिवह
१३।१२	क्षेत्र	क्षेत्रज्ञ	माम्
१५।३४	महद्ब्रह्म, योनि	गर्भ दीन	अहम्, पिता

भगवान्‌ने जिसे अपना अश बतलाया, उस जीवात्माको यहाँ 'अक्षर' पदसे कहा गया है।

यहाँ आये क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम शब्द क्रमशः पूँलिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग और नपुसकलिङ्ग हैं। इससे यह तात्पर्य समझना चाहिये कि प्रकृति, जीवात्मा और परमात्मा न तो खी हैं, न पुरुष हैं और न नपुसक ही हैं। वास्तवमें लिङ्ग भी शब्दकी दृष्टिसे है, तत्से कोई लिङ्ग नहीं है*।

सर्वाणि भूतानि क्षर—सम्पूर्ण (प्राणियोंके) शरीर नाशगान् (कहे गये हैं)।

इसी अध्यायके प्रारम्भमें जिस ससारवृक्षका खरूप बतलाकर उमका छेदन करनेकी प्रेरणा दी गयी है, उसी ससारवृक्षको यहाँ 'क्षर' नामसे कहा गया है।

* गीतामें क्षर, अक्षर पुरुषोत्तमका वर्णन तीनों लिङ्गोंमें प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ—

(१) क्षर—

क्षर (१५। १६)—पूँलिङ्ग

अपरा (७। ५)—स्त्रीलिङ्ग

महद्वजा (१४। ३४) नपुसकलिङ्ग

जीवभूत (१५। ७) पूँलिङ्ग

जीवभूताम् (७। ५) स्त्रीलिङ्ग

अध्यात्मम् (८। ३) नपुसकलिङ्ग

भर्ता (९। १८) पूँलिङ्ग

गति (९। १८) स्त्रीलिङ्ग

शरणम् (९। १८) नपुसकलिङ्ग

(२) अक्षर—

(३) पुरुषोत्तम—

गीतामें 'भूत' शब्द अनेक अर्थोंमें आया है*। परतु यहाँ 'भूतानि' पद प्राणियोंके स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरोंमा ही वाचन समझना चाहिये। कारण यह ह कि यहाँ 'भूतोंको नाशनान् वनन्नान्' गया है। प्राणियोंके शरीर ही नाशनान् होते हैं, प्राणी नहीं, अतः यहाँ 'भूतानि' पद जड़ शरीरोंके लिये ही आया है।

च कृटस्य अक्षर उच्चयते—और जीवात्मा निर्विकार कहा जाता है।

इसी अध्यायके सातवें श्लोकमें जिसे भगवान्नने अपना सनातन अश वनलाया है, उसी जीवात्माको यहाँ 'अक्षर' नामसे पहा गया है।

जीवात्मा चाहे जितने शरीर धारण करे, चाहे जितने लोकोंमें जाय, उसमें कभी कोई प्रिकार उत्पन्न नहीं होता, वह सदैव ज्यों-का-न्यों रहता है†। इसीलिये उसे यहाँ 'कृटस्य' कहा गया है।

गीतामें परमात्मा और जीवात्मा दोनोंके स्वरूपका वर्णन प्राप्त समान ही मिश्रा है जैसे परमात्माको (१२ । ३ में) 'कृटस्य'

* उदाहरणार्थ—'महाभूतानि अहमार,' (१३ । ५)में 'भूत' शब्द पञ्चतन्मात्राओंका वाचन है। 'अविभक्त च भूतेषु' (१३ । १६)में 'भूत' शब्द प्राणियोंमा वाचन है। 'भूतगणान्' (१७ । ४) और 'भूतानि' (९ । २८) में 'भूत' शब्द भूतशोनिये लिये आया है।

† भूतग्राम स एवाय भूत्या भूत्वा प्रलीयते।

(गीता ८ । ११)

शरीरस्योऽपि भीन्तेय न करनि च मिश्रते ॥

तथा (८। ४ में) 'अक्षर' कहा गया है, वैसे ही यहाँ (१५। १६ में) जीवात्माको भी 'कूटस्थ' और 'अक्षर' कहा गया है । जीवात्मा और परमात्मा दोनोंमें ही परस्पर जातीय एवं स्वरूपगत एकता है ।

स्वरूपसे जीवात्मा सदा-सर्वदा निर्भिकार ही है, परतु भूलसे प्रकृति ओर प्रकृतिके नार्यं शरीराद्दिसे अपनी एकता मान लेनेके कारण उसकी 'जीव' सज्जा हो जाती है, अन्यथा (अद्वैत सिद्धांतके अनुसार) वह साक्षात् परमात्मतत्त्व ही है ।

मार्मिक वात

प्रकृति (क्षर पुरुष) सदा क्रियाशील रहती है ओर जीवात्मा (अक्षर पुरुष) सदा अक्रिय रहता है । यद्यपि जीवात्माका वास्तविक सम्बन्ध अपने अशी परमात्मासे ही है तथापि उसने भूलसे अपना सम्बन्ध प्रकृतिसे मान लिया । प्रकृतिसे माना हुआ यह सम्बन्ध कृत्रिम और अखाभाविक है, क्योंकि अक्रियतत्त्वका सम्बन्ध क्रियाशील तत्त्वके साथ होना कभी सम्भव नहीं है । इसलिये माने हुए सम्बन्धका निरन्तर स्वतं स्वाभाविक प्रयोग हो ही रहा है, परतु सम्बन्धका जीवात्माने अपने इस माने हुए सम्बन्धमें सद्व्याप (सत्यताका आरोप) कर लिया । इसीसे जीवात्मामें 'अहभाव' उत्पन्न हो गया, जिसके कारण उसने प्रकृति (शरीर)में होनेवाली क्रियाओंको अपनेमें आरोपित भर लिया अर्थात् उन क्रियाओंका कर्ता अपनेको मान लिया ।

मानी हुई वात न माननेसे मिट जानी है—यह सिद्धान्त है*। अन् सामरु उस माने हुए सम्बन्धको न माने अर्थात् उस (प्रतिक्षण

* श्रीभगवान् कहते हैं—

अहकारविमूढात्मा कताहमिति मन्यते ॥ (गीता ३। २७)

परिवर्तनशील प्रकृतिसे माने हुए) सम्बन्धके प्रतिक्षण मिथुक होनमें सहाव कर ले, जो वास्तवमें है । इसमें किसी परिश्रमकी भी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि माने हुए सम्बन्धका तो अपने-आप प्रति क्षण वियोग हो ही रहा है । केवल उधर दृष्टि करनेकी आवश्यकता है ॥ १६ ॥

श्लोक—

उत्तम पुरुपस्त्वन्य परमात्मेत्युदाहृत ।
यो लोकव्ययमाविद्य विभर्त्यव्यय ईश्वर ॥ १७ ॥

भारार्थ—

पिठ्ले (सोलहवें) श्लोकमें वर्णित 'क्षर' और 'अक्षर दोनों पुरुषोंसे उत्तम पुरुप तो अन्य ही है, जिसे परमात्मा नामसे कहा गया है । वही अविनाशी ईश्वर तीनों लोकोंमें व्याप्त रहकर सम्पूर्ण प्राणियोंका भरण-पोषण करता है ।

अन्वय—

उत्तम, पुरुप, तु, अन्य, (अस्ति), य, अव्यय, ईश्वर,
लोकव्ययम्, आविद्य, विभर्ति, परमात्मा, इति, उदाहृत ॥ १७ ॥

'अहङ्कारसे मोहित अन्त करणवाला पुरुप में कर्ता हूँ'—ऐसा मानना है । इसलिये—

नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो म-येत तत्त्ववित् ।
(गीता ७ । ८)

'तत्त्वको जाननेवाला युक्त पुरुप ऐसा माने कि मैं कुछ भी नहीं करता हूँ ।'

उपर्युक्त दोनों स्थानोंपर 'मन्यते' और 'मन्येता' पद आये हैं, जिसमें यही बात सिद्ध होती है कि मानी हुई भूलों न मानना ही उन्हें मिटानेका उपाय है ।

पद्मव्याख्या—

उत्तम पुरुष तु अन्य (अस्ति)—उत्तम पुरुष तो (अन्य) ही हे ।

पिछ्ले श्लोकमें क्षर और अक्षर दो प्रकारके पुरुषोंका वर्णन करनेके बाद अब भगवान् यह बतलाते हैं कि उन दोनोंसे उत्तम पुरुष तो अन्य ही हे ।*

यहाँ ‘अन्य’ पद परमात्माको अविनाशी अक्षर (जीवात्मा) से भिन्न बतलानेके लिये नहीं अपितु उससे मिलक्षण बतलानेके लिये आया है । इसीलिये भगवान् ने अगले (अठाहवें) श्लोकमें अपनेको नाशवान् क्षरसे ‘अतीत’ और अविनाशी अक्षरसे ‘उत्तम’ बतलाया है । परमात्माका अश होते हुए भी जीवात्माकी दृष्टि

* द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे त्वनन्ते विद्याविद्ये निहिते यत् गृदे ।
क्षर त्वविद्या ह्यमृत तु पिद्या विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्य ॥

(श्वेताश्वतरोपनिषद् ५ । १)

‘जिस ब्रह्मासे भी श्रेष्ठ, छिपे हुए, असीम और परम अक्षर परमात्मामें विद्या और अविद्या दोनों स्थित हैं, वही ब्रह्म है । विनाशशील जटवर्ग तो अविद्या नामसे कहा गया है और अविनाशी जीवात्मा विद्या नामसे जो इन विद्या और अविद्या दोनोंपर शासन करता है, वह परमेश्वर इन दोनोंमें भिन्न—सर्वथा मिलक्षण है ।’

पर ग्रधानममृतात्म द्वारा त्वात्मानावीक्षणे देव एक ।

(श्वेताश्वतरोपनिषद् ३ । १०)

‘प्रवृत्ति तो विनाशशील है और इसे भोगनेवाला जीवात्मा अमृत-स्वरूप अविनाशी है । इन दोनों (क्षर और अक्षर) को एक इश्वर अपने शासनमें रखता है ।’

अश होनेपर भी जीवात्मा क्षर (जड प्रकृति) के साथ अना सम्बन्ध मान लेना है^२ और प्रकृतिके गुणोंसे मोहित हो जान दै जबकि परमात्मा (प्रकृतिसे अतीत होनेके कारण) कभी मोहित नहीं होते^३ । (२) परमात्मा प्रकृतिको अपने अधीन करके नक्षमे आते (अपतरित होते) हैं,^४ जबकि जीवात्मा प्रकृतिसे नक्षमे होते लोकमें आता हैं^५ । (३) परमात्मा सदैन निर्लिप होते हैं,
जबकि जीवात्माको निर्लिप होनेके लिये साधन करना पड़ता है^६ । -

१—ममैवाशो जीवलोके जीवभूत सनातन ।

मन पष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिश्चाणि रर्यति ॥

(गीता १६ । ७)

२—निभिर्गुणमयैर्भविरेभि सरमिद जगत् ।

मोहित नाभिनानानि मामेभ्य परमन्ययम् ॥

(गीता ७ । १३)

३—अ नोऽपि ननन्द्ययात्मा भूतानामोक्षरोऽपि सन् ।

प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सभगाम्यात्ममायया ॥

(गीता ४ । ६)

४—भूतग्राम स एताय भूत्वा भूत्वा प्रलीपते ।

रात्यागमेऽवगा पार्थं प्रभवत्यहरागमे ॥

(गीता ८ । ११)

५—न मा कर्माणि लिप्मन्ति न मे कर्मफले स्फुदा ।

(गीता ८ । १२)

न च मा तानि कर्माणि निरञ्जति घनस्य ।

(गीता ९ । ९)

६—इति मा योऽभिगानाति कर्मभिन स यत्पन्ते ॥

(गीता ४ । १४)

नामेन दे प्रथमते मायामेता उरन्ति ते ॥

(गीता ७ । १४)

भगवान्‌द्वारा अपनेको भरसे 'अनीन' और अक्षरसे 'उत्तम' वतलानेसे यह भाव भी प्रकट होता है कि क्षर और अक्षर— दोनोंमें भिन्नता है। यदि उन दोनोंमें भिन्नता न होती, तो गगान्‌ अपनेको या तो उन दोनोंसे ही अनीत वतलाते या दोनोंसे ही उत्तम वतलाते। अन यह सिद्ध होता है कि जैसे भगवान्‌ जरसे अनीत आर अक्षरसे उत्तम हैं, वैसे अक्षर भी क्षरसे अतीत और उत्तम है।

अत—इसलिये ।

यहाँ 'अत' पदका सम्बन्ध इसी श्लोकमें आये 'यस्मात्' पदसे है।

लोके च वेदे—लोकमें ओर वेदमें ।

'ओके' पदके तीन अर्थ हैं—(१) भूलोक आदि चौदह लोक, (२) उन लोकोंमें रहनेवाले जीव और (३) पुराण, सूति आदि शास्त्र। इन सभीमें भगवान् 'पुरुषोत्तम' नामसे प्रसिद्ध है। इसी अध्यायके सोलहवें श्लोकमें भगवान्‌ने क्षर और अक्षरको भी लोकमें रहनेवाला वतलाया।

शुद्ध ज्ञानका नाम 'वेद' है जो अनादि है। वही ज्ञान आनुपूर्णरूपसे मृक्, यजु आदि वेदोंके रूपसे प्रकट हुआ है। चेदोर्म भी भगवान् 'पुरुषोत्तम' नामसे प्रसिद्ध है।

पुरुषोत्तम प्रथित अस्मि—पुरुषोत्तम नामसे प्रसिद्ध है।

पिठ्ठले श्लोकमें भगवान्‌ने कहा या कि क्षर और अक्षर दोनोंसे उत्तम पुरुष तो अन्य ही है। वह उत्तम पुरुष कौन है—इसे

भगवान्‌को जाननेवाला व्यक्ति कितना ही कम पदा लिंग क्यों न हो, वह सब कुछ जाननेवाला है, क्योंकि उसने जलनेयोग्य तत्त्वको जान स्थिया। उसे ओर कुछ भी जानना शेष नहीं है।

सर्वभवेन माम् भजनि—सब प्रकारमें मेरा ही भजन करना है।

जो पुरुष भगवान्‌को ‘पुरुषोत्तम’ जान लेना है, उम ‘सर्वगिरि’ पुरुषकी पहचान यह है कि वह सब प्रकारमें सब भगवान्‌का ही भजन वरता है।

जब मनुष्य भगवान्‌को ‘क्षरसे अतीन’ जान लेना है, तब उसका मन (राग) क्षरससारसे हटकर भगवान्‌में लग जाता है और जब वह भगवान्‌को ‘अक्षरसे उत्तम’ जान लेना है, तब उसकी बुद्धि (श्रद्धा) भगवान्‌में लग जाती है*। फिर उसकी प्रत्येक वृत्ति और क्रियामें सब भगवान्‌का भजन होता है। इस प्रकार सब प्रकारमें भगवान्‌का भजन धरना ही ‘अव्यभिचारणी भक्ति’ है।

अरीर, दन्तियाँ, मन, बुद्धि आदि सामारिक परागोंसे जननक मनुष्य रागपूर्वक अपना मम्बन्ध मानता है, तबनक गड़ मर प्रकारमें भगवान्‌का भजन नहीं कर सकता। काण्ठ कि जहाँ राग होता है, वृत्ति स्थित रही जानी है।

* मीम्य ! उम अविद्यादी पापमाभाषो जो पाइ जान गा है, रा गर्दा है। रा सर्वस्य परमेश्वरमें प्रतिष्ठ हो जाना है।

० रिमी रिनाम महावृषभ रानवर मन गगड़पृथ मारा गुर्दि भद्रा-पृथम रखना है।

‘मे भगवन्‌का ही है जाग भगवन्‌ही मेरे हे’—इस वामपिताको दृढ़नापूर्वक मान लेनेसे स्वतं सब प्रकारसे भगवन्‌का भजन होता है। फिर भक्तकी मात्र किया (सोना, जागना, बोलना, चलना, खाना-पीना आदि) भगवन्‌की प्रमन्त्रताके लिये होती है, अपने लिये नहीं* ।

ज्ञानमार्गमें ‘जानना’ आर भक्तिमार्गमें ‘मानना’ मुख्य होता है। जिस वातमें किञ्चित्मात्र भी मन्देह न हो, उसे दृढ़तापूर्वक ‘मानना’ ही भक्तिमार्गमें ‘जानना’ है। भगवन्‌को मर्यापरि मान लेनेके बाद भक्तसे स्वतं सब प्रकारसे भगवन्‌का भजन होता है—

अह सर्वस्य प्रभयो मत्त सर्वे प्रवर्तते ।

इति मन्या भजन्ते मा बुधा भावसमन्विता ॥

(गीता २० । ८)

‘मे ही सम्पूर्ण नगतकी उपतिका कारण है और मुझमें ही सब जगत् चेष्टा करता है, इस प्रकार मानकर श्रद्धा और भक्तिमें युक्त बुद्धिमान् भक्तजन मुझे ही निरन्तर भजते हैं।

* या टोटोडग्नने मथनोपन्नेप्रेहेद्वाभरुतिओषणमाजनादा ।

गायति चैनमुरुक्तधियोऽग्न्यान्वित्य उच्चमचित्तयाना ॥

(श्रीमद्भागवत २० । ८४ । १०)

जो गोआका दूध उत्त समय, धान आदि रुटने समय, दही मथत समय, आँगन लीपते समय, गारामो पालनेम झुगने समय, रोते हुए चाचामो लोरी देते समय, घरमें नव छिड़कते समय तथा जाहू देने आदि सब ज्ञानोंको करते समय प्रेमपूर्ण चित्तसे आँखोंमें आँसू भग्नर गद्दद यण्ठसे श्रीकृष्णकी दिव्य लीलाभासा गान करनी रहती है, वे श्रीकृष्णम् निरंतर चित्त लगाये रहनेपारी व्रतयामिनी गायियों वन्य हैं ।

स्वॉगम अपना गान्तविरु परिचय नहीं दिया जाना, गुप्त रखा नहु है । परं भगवान्‌ने इस अथायमें (अग्रहर्वेऽन्योक्तमें) आता गान्तविरु परिचय देकर अयत गोपनीय वात प्रकट कर दी कि मैं ही पुरुषोत्तम हूँ । इसलिये इस अथायको 'गुणतम' कहा गया है ।

'गान्ध'में प्राय सासार, जीवा मा और परसात्माका वर्णन जाता है । इन नीनोका ही वर्णन पश्चहर्वेऽन्यायमें दुआ है, इसलिये इस अथायको भी 'गान्ध' कहा गया है ।

सर्वगान्धमयी गीतामें केवल इमीं अथायजो 'गान्ध' की उत्तरांि मिली है । इसमें 'पुरुषोत्तम'का वर्णन मुद्द्य होनके कारण इस अथायको 'गुणतम गान्ध' कहा गया है । इस गुणतम गान्धमें श्रीभगवान्‌ने अपनी प्रासिके उ उवायाका वर्णन किया है ।

(१) ससारको तत्त्वमें जानना (इनोक १) ।

(२) ससारसे माने एवं सम्पादका विच्छेद करके एवं भगवान्‌की शरण होना (इनोक ५) ।

(३) अपने स्वरूप (जामन्त्र) से जानना (इनोक १०-११) ।

(४) वेदाध्ययनके द्वारा नररूपों जानना (इनोक २५) ।

(५) भगवान्‌को पुरुषोत्तम जानना एवं प्रकारमें उन्न भजन करना (इनोक १०) ।

(६) सम्पूर्ण अथायको तत्त्वमें जानना (इनोक २०) ।

विन अथायमें भावप्राप्तिये एवं मुग्म उपाय इनक्षये गए

मथा उक्तम्—मेरे द्वारा कहा गया ।

इन पदोंसे भगवान् मानो वह कहते हैं कि मर्यादा भौतिक जगत्‌का प्रकाशक आर अपिष्ठान, समस्त प्राणियोंके हृदयमें स्थित, वेदोंके द्वारा जाननेशेष्य एवं ना ओर अक्षर दोनोंसे उत्तम माक्षात् मुझ पुरुषोत्तमके द्वाग ही यह गुद्यतम शाख (अयत कृपापूर्वक) कहा गया है । अपने पिप्यमें जसा म कह सकता हूँ, नेमा कोई नहीं कह सकता । कारण यह कि दूसरा पहले (मेरी ही कृपाकालिसे) मुझे जानेगा, फिर वह मेरे पिप्यमें कुछ कहेगा, जब कि मुझमें अनजानपन ह ही नहीं ।

वास्तवमें मथ भगवान्‌के अतिरिक्त दूमग कोई भी उत्ते पूर्णरूपमें नहीं जान सकता । ऊँ अयायके उन्नचालीसीं प्रयोक्तमें अर्जुनने भगवान्‌में कहा था कि आपके अतिरिक्त दूसरा

६ मोऽ जानइ नेह देहु चनाइ । जापत तुम्है तुम्है होइ जाइ ॥
तुम्हग्नि कृपौ तुम्है रघुदन । जानति भगव भगव उरचदन ॥
(मानम २ । १२६ । ३)

| न मे विदु मुरगणा प्रभव न महश्य ।

अहमादिर्हि देवना महर्याणा च सर्वव ॥

(गीता १० । २)

मेरे प्रकट नोनेका न देवतानेग जानते हैं और न महर्पिजन ही जानत ह, म्याकि, मैं सत्र प्रकाशमें देवनाभ्राता और महर्यियाँ भी जानिकारण हैं ।

न्वयमेवात्मनात्मान वत्थ त पुरुषोत्तम ।

(गीता १० । २)

ने पुरुषोत्तम । आप मथ ही अपनेसे अपनेसे जानते हैं ।

कोई भी मेरे मरणका छेदन नहीं कर सकता । यहाँ भगवन् मानो यह कह रहे हैं कि मेरेद्वारा कहे हुए विषयमें मिसी अकारका सशय रहनेकी सम्भावना ही नहीं है ।

भारत—हे भगवन्मी अर्जुन ।

एतद् बुद्ध्या (मनुष्य) बुद्धिमान्—इसमें तत्प्रमेजान चर (मनुष्य) ज्ञानगन् (हो जाता है) ।

सम्पूर्ण अध्यायमें भगवन् ने जो मसाखी वान्तविमला, जीयामाके सम्बन्ध और अपने अप्रतिम प्रभाव एवं गोपनीयताम वर्णन किया है, उसका (विशेषरूपमें उन्नीसवें श्लोकना) निर्देश यहाँ ‘एतद्’ पदसे किया गया है । इस गुणतम शब्दको जो मनुष्य तत्त्वसे जान लेना हे, वह ज्ञात-ज्ञानव्य हो जाता है अर्थात् उसके लिये कुछ भी जानना शेष नहीं रहता, क्योंकि उसने जाननेपोर्य पुरुषोत्तमसो जान दिया ।

परमात्मनस्तमो जाननेसे मनुष्यकी मृदना नष्ट हो जाती है । उहें जाने विना लौकिक सम्पूर्ण विद्याएँ, भावाएँ, कर्मणँ आदि क्षेत्रमें

० एतमें गत्य शृणु छेत्तुमहन्त्योगत ।

ददन्य गत्यन्यात्य उत्ता न शुपागते ॥

(गीता ६ । ३९)

| मनुष्यकी वार्णिमें प्राय चार ढो, दाते हैं—

(१) भम—तत्यका यथार्थ न जानना ।

(२) प्रमाद—अग्रायधारी ।

(३) विष्णा—रुच वासी इच्छा ।

(४) करात्माण—करण (अन्त करण और गायत्रा) अन्दरी या कमी । भगवान्ही रामामें उपगुक्त नारा ही दोर नहीं हो ।

जान ली जायें। मूढ़ता नहीं मिटती, क्योंकि लोकिन् सब विद्याएँ आरम्भ और समाप्त होनेगाली एवं अपूर्ण हैं। जितनी लोकिक प्रियाएँ हैं, सब परमात्मासे ही प्रकट होनेगाली हैं। अत वे परमात्माको कैसे प्रकाशित कर सकती हैं। इन सब लोकिन् विद्याओंसे अनजान होते हुए भी जिसने परमात्माको जान लिया है, वही वास्तवमें ज्ञानगान् है।

उन्नीसमें श्लोकमें सब प्रकारसे भजन करनेवाले जिस मोहरहित भक्तको 'सर्ववित्' कहा गया है, उसीको यहाँ 'बुद्धिमान्' नामसे कहा गया है।

च—आर (प्राप्त-प्राप्तव्य हो जाता हे) ।

यहाँ 'च' पद अनुकूल अनुकर्पणार्थके रूपमें आया है अर्थात् इसमें पिछले श्लोकमें आयी वातके फल (प्राप्त-प्राप्तव्यता) का अनुकूल अनुकर्पण है। पिछले श्लोकमें सर्वभागसे भगवान्का भजन करने अर्थात् अग्रभिचारिणी भक्तिकी वात विशेषरूपसे आयी है। भक्तिके समान कोई लाभ नहीं है—'लाभु कि किन्तु हरि भगति समाना' (मानस ७ । १११ । ४) । अत जिसने भक्तिको प्राप्त कर लिया, वह प्राप्त-प्राप्तव्य हो जाता है अर्थात् उसके लिये कुछ भी पाना शेष नहीं रहता।

कृतकृत्य स्यात्—कृतकृत्य हो जाता हे ।

भगवत्तत्त्वकी यह विलक्षणता है कि कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—तीनोंमेंसे किसी एककी सिद्धिसे कृतृत्यना,

ज्ञान-ज्ञानव्यता और प्राप्त-प्राप्तव्यता—तीनोंकी प्राप्ति हो जाती है। इसलिये जो भगवत्तत्त्वको ज्ञान लेता है, उसके लिये किरणुद्धरण पाना और करना शेष नहीं रहता। उसका मनुष्यजीवन सफल हो जाता है।

कर्मयोगी अपने लिये कोई कर्म न करके (अर्थात् घमने अपना किञ्चित्तमात्र भी स्वार्थ, ममता आर कामनाका सम्बन्ध न रखकर) बाहरसे ससारके हितके लिये और भीतर (भाव) से भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये ही सम्पूर्ण कर्म करता है। शहीर, इन्द्रियों, मन, द्विदि आदि जिन उपकरणोंसे कर्म किये जाते हैं, उन्हें भी कर्मयोगी 'आनने' और 'अपने लिये' नहीं मानता, सिर यह उन कर्मकी फलकी इच्छा रह रही कसे सकृता है। इस प्रकार (कर्मयोगी विधिसे) कर्म करनेपर कर्म, कर्म-सामग्री तथा कर्म-फलका राग-सर्वाया मिट जाना है और योगाध्य अपस्था प्राप्त हो जानी है। इस अवस्थाम उमे कर्म करने अथवा न करनसे कोई प्रयोग-

० यदा हि नेन्द्रियाणेषु न कर्मवुद्दाम ।

मात्रात्मन्यामी योगाम्बुद्दाम्यते ॥

(गीता ६ । ४)

‘नियु द्वाज्ञम न तो इन्द्रियोंके भोगाम और न कर्मोंकी अपेक्षा होता है, उग्र कान्त्रों सुर्योदयसाका लागी पुष्प योगाम् ॥

(आवश्यकता ओर स्वार्थ) नहीं रहता । यहाँ 'कृतकृत्यता' कहलाती है ।

यह अठउ सिद्धात है कि कोई मनुष्य किसी भी अवस्थामें, क्षणमात्र भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता, क्योंकि प्रकृतिके वरामें होनेसे सभीको कर्म करनेके लिये वाध्य होना पड़ता है । इसलिये जब मनुष्य कर्म किये बिना रह ही नहीं सकता, तब उसे कर्मोंको ऐसी निधिसे करना चाहिये, जिससे वह कर्मोंसे बँधे नहीं । ऐसी विधि यही है कि अपने लिये कभी किञ्चित्मात्र भी कोई कर्म न करके दूसरोंके हितके लिये ही मन कर्म किय जायें । कर्मयोगकी इम निधिको अपनायें बिना प्रत्येक किया प्रिकामजनक नहीं हो सकती, प्रत्येक परिस्थिति मारन नहीं हो सकती । नमतम अपने

॥ नैव तत्य वृत्तेनाथा नाकृतेनेह कथन ।

न चान्य सर्वभूतेषु वशिदर्गाग्यान्त्रय ॥

(गीता ३ । १८)

'उस महापुरुषका इस विश्वम न ता कर्मकर्मनसे कोई प्रयोजन रहता है आर न वर्मोंके न करनेमें ही कोई प्रयोजन रहता है तथा सभृण प्राणियमि भी इमका किञ्चित्मात्र भी स्वार्थका सम्बन्ध न नहीं रहता ।'

| न हि कर्त्तिक्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।

सार्वते द्यवा कर्म मव प्रदत्तिजैगुणी ॥

(गीता ३ । १९)

अ धन, सभृति, परिवाग तथा मनुष्य, पशु, परी जादि तो दूसरे हैं ही, अपने बहलनेपाले शरीर, इन्द्रियों, मन, उद्धि, प्राण एव इन सरका स्वामी बननेवाला 'अह'—ये सब भी दूसरे (पर) ही हैं । अपने स्वन्प (म्य) के साथ इन सरका किञ्चित्मात्र भी सम्बन्ध नहीं है ।

लिये कुछ भी करने, पाने और जाननेकी आवश्यकता प्रतीत होती है, तबतक दूसरोंके लिये कर्म करना अयापद्यक है।

कर्मयोगीके द्वारा क्रमशः (उत्तरोत्तर) तीन प्रकारसे कर्म होते हैं—‘करना’, ‘होना’ और ‘है’। पहले वह दूसरोंके हितार्थ कर्म करता है। फिर उसकी उच्चति होनेपर उसे (दूसरोंके हितार्थ) एवं करने नहीं पड़ते, अपितु उसके द्वारा स्वाभाविक ही दूसरोंके हितार्थ कर्म होते हैं। आगे चलकर उसकी दृष्टि कर्मोंके ‘होने’ पर भी नहीं रहती और उसकी अपने शरण्य ‘है’ में स्वाभाविक स्थिति हो जाती है।

पतिव्रता सी तीन प्रकारसे पतिकी सेवा करती है—साधारण पतिकी सेवा करना, पतिका चिन्नन करना और (पतिके) प्रत्यक्ष काम करना। इसी प्रकार भगवद्गुरु भी तीन प्रकारमें भगवान्‌की सेवा (भनन) करता है—एप, कीर्तन आदिक द्वारा साक्षर भगवान्‌की सेवा करना, भगवान्‌का चिन्तन करना और भगवान्‌के धर—समारका काम करना।

पिशेष वात

श्रीमद्भगवद्गीताको दर्शनमें एसा प्रनीत होता है कि भगवान्‌को भक्ति और भक्ति पिशेष प्रिय है। उठे अयायके सैनकासर्वे इन्हेंमें भगवान्‌ने अपने भक्तको मर्मोत्तम योगी घनगकर मानव, अट्ठें अँगों अथवायोंमें भक्तिरूप पिशेष वर्णन किया। दसवें अम्बादा ५ (“भूय पदम् ”) उन उस भक्तिका वर्णन किया। इसमें ५३ अध्याद्यमें अव्यायम भी भगवान् और उनकी भक्तिकी मरणशत्रु दृष्टि करते हुए केवल अनन्यभक्तिमें भगवान्‌का उद्दीन, उनका नाशन

तथा उनके स्वरूपकी प्राप्ति—तीनों होनेकी बात कही गयी* । चारहवें अध्यायका तो नाम ही 'भक्तियोग' है । इस अध्यायके प्रारम्भमें अर्जुनने प्रश्न किया कि सगुण-साकार और निर्गुण निराकारके उपासकोंमें कौन श्रेष्ठ है । इसके उत्तरमें भगवान् ने सगुण-साकारके उपासकोंकी श्रेष्ठता, भक्तिके साधन और सिद्ध भक्तोंके लक्षणोंका विस्तारसे वर्णन किया । फिर निर्गुण-निराकारकी उपासनाका विस्तार-से वर्णन वरनेके लिये तेरहवें और चौदहवें अध्यायोंमें ज्ञानका प्रिवेचन किया गया । चौदहवें अध्यायके इक्षीसवें श्लोकमें अर्जुनके द्वारा गुणातीत होनेका उपाय पूछनेपर भगवान् ने छब्बीमवे श्लोकमें 'अव्यभिचारिणी (अनन्य) भक्ति'को गुणातीत होनेका उपाय वतलाकर भक्तिकी ही प्रिशेष महिमा प्रकट की । इस 'अव्यभिचारिणी भक्ति' को प्राप्त करनेके लिये भगवान् ने पद्रहवें अध्यायमें पुन भक्तिका वर्णन किया । इसीलिये वारहवाँ और पद्रहवाँ—दोनों धायाय प्रिशेष-रूपसे भक्तिके ही माने जाते हैं । फिर सोलहवें अध्यायमें भक्तिके अपिकारी और अनपिकारियोंका वर्णन करके सत्रहवें अध्यायमें तीन प्रकारकी श्रद्धाका प्रिवेचन किया, जो श्रद्धा कर्म, ज्ञान और भक्ति—तीनोंमें ही आवश्यक होती है । अठारहवें अध्यायमें कर्म, ज्ञान और

* भक्त्या त्वन् यया शक्य अहमेव विषोऽर्जुन ।

जातु द्रष्टु च तत्त्वेन प्रनेष्टु च परतप ॥

(गीता १० । ५६)

'हे परतप अर्जुन ! अनन्य भक्तिके द्वारा इस प्रकार चतुर्भुजम् याला मैं प्रत्यभ देखनेके लिये, तत्त्वसे जाननेके लिये तथा प्रयत्न धरनेके लिये अर्थात् एकीगावमें प्राप्त होनेके लिये शक्य हूँ ।'

भक्ति—तीनोंमा विवेचन करते हुए अत्में भगवान्‌ने भक्तिमें ही अपने उपदेश (श्रीमद्भगवद्गीता) का उपस्थार किया है—

मन्मना भय मद्भक्तो भग्याजी माँ नमस्कुरु ।
मामेवेष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽनि मे ॥
सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं घज ।
अहं च्या सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा द्युच ॥

ॐ तत्सदिनि श्रीमद्भगवद्गीतासूनिपत्तमु ब्रह्मविद्याया
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्दुनसवादे पुष्ट्योत्तमयोगो
नाम पञ्चदशोऽध्याय ॥ १६ ॥

इस प्रकार ३५, तत्, सत्—इन भगवन्नामोंके उच्चारणपूर्वक
नवमिधा । और योगशास्त्रमय श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्ग्रन्थप श्रीकृष्णार्दुन-
सवादमें ‘पुष्ट्योत्तमयोग’ नामक पदहवाँ अध्याय पूर्ण हुआ ॥ १५ ॥

पद्महर्म अध्यायके पद, अक्षर एवं उत्तराच

(१) इस अध्यायमें स्तोकोंके २८८ पद, पुस्तिकामें १३
पद, उत्तराचके २ पद और ‘अथ पञ्चदशोऽध्याय’ के ३ पद हैं ।
इस प्रकार पठोना पूर्ण योग ३०६ है ।

(२) इस अध्यायके स्तोकोंमें ७०१ अङ्ग, पुस्तिकामें १६
अङ्ग, उत्तराचमें ७ अक्षर एवं ‘अथ पञ्चदशोऽध्याय’ में ८ अङ्ग
हैं । इस प्रकार सन्तुर्ग अक्षरोंमा योग ७६२ है ।

(३) इस अध्यायके उत्तराच है—‘गीतासनुग्रन्थ’

पद्महर्म अध्यायमें प्रयुक्त छन्द

Hinduism Discord Server <https://discord.gg/HvH6Fyv>

‘ललिता’*, द्वितीय तथा तृतीय चरण उपेन्द्रवज्रा’† और चतुर्थ चरण ‘इन्द्रवज्रा’‡ छन्दका है।

तीसरे श्लोकमा प्रथम चरण ‘वशस्य’§ द्वितीय तथा तृतीय चरण ‘इन्द्रवज्रा’ और चतुर्थ चरण ‘उपेन्द्रवज्रा’ छादका है।

चौथे श्लोकके प्रथम, तृतीय तथा चतुर्थ चरण ‘उपेन्द्रवज्रा’ और द्वितीय चरण ‘ईहामृगी’ छन्दका है।

पाँचवें और पदहवें श्लोकमें ‘इन्द्रवज्रा’ छाद प्रयुक्त हुआ है।

उपर्युक्त पाँचों श्लोक उपजाति छन्दके हैं।

सातवें श्लोकके प्रथम और तृतीय चरणमें ‘रण’ होनेसे ‘र-विपुला’ है, अत यह ‘जातिपक्ष-विपुला’ सजावाला श्लोक है। नवें श्लोकके प्रथम चरणमें ‘रण’ होनेसे ‘र-विपुला’, अठाहवें श्लोक-के तृतीय चरणमें ‘मण’ होनेसे ‘म-विपुला’, उनीसरें श्लोकके तृतीय चरणमें ‘नगण’ होनेसे ‘न-विपुला’ और बीसवें श्लोकके तृतीय चरण-में ‘रण’ होनेसे ‘र-विपुला’ है, अत ये चार ‘यक्तिपञ्च-विपुल’ सवालाले श्लोक हैं।

उपर्युक्त पाँचों श्लोक ‘पश्यावक्त्र’ अनुष्टुप् छन्दके ही अगातर मेद हैं और ओप दस श्लोक ठीक ‘पश्यावक्त्र’ अनुष्टुप् छन्दके लक्षणोंसे युक्त हैं।

* यमो तग्नी गो ललिता साऽबिधिलोऽै ।

† उपेन्द्रवज्रा जतनास्तो गो ।

‡ स्यादिन्द्रवज्रा यदितौ जग्नीग ।

§ हु लतौ द्व वशस्यमूदीरित जगै ।



ଶ୍ରୀମଦ୍ଭଗବତ



COLLECTION OF VARIOUS
- HINDUISM SCRIPTURES
- HINDU COMICS
- AYURVEDA
- MAGZINES

FIND ALL AT [HTTPS://DISC.GG/DHARMA](https://disc.gg/dharma)

Made with



Unacademy/Stanford

Collection of
Hinduism
Scriptures

KAPWING

